

Reviews 11.22.23

<https://www.amazon.com/dp/1481169696#customerReviews>

Buy this Book: <https://www.amazon.com/dp/148116969682523>

“...Dr. Prasad, I am very interested in your translation of Gita. **Though I have many English translations, I think your translation is the best one.** So far, there are 5 versions in China, and I hope we could translate your "Gita" into Chinese too. Could you grant the Chinese translation rights.....”

— Dr. Zhicheng Wang, Prof. of Philosophy and Religion, Zhejiang University (XiXi Campus), China.

=

Premier Modi receiving our

Over 18,567 ***** 5 Star Reviews Chinese Gita
(13th. Print in China, Oct 2015-Nov 2021)



The most popular Gita translation in Chinese!

Read more about this picture at:

<https://www.gita-society.com/china.pdf>

*Eastern Philosophy, spirituality, Religion
A worldwide Acclaim for This Rendition*

.....स्नातक विद्यालय में मेरे समय के दौरान मुझे आपके भगवद्-गीता अनुवाद से परिचित कराया गया था---जब मैंने कई अन्य अनुवाद पढ़े थे-- और तब से, इसकी स्पष्टता, सटीकता और दार्शनिक कौशल की डिग्री के लिए यह मेरी पसंद की गीता रही है। उन चीजों में से एक जो मुझे आपकी गीता की ओर आकर्षित करती है, विशेष रूप से, ६लोक 15:16-15:19 का आपका अनुवाद जिसमें आपने कृष्ण की अवधारणा को पुरुषोत्तम के रूप में शानदार ढंग से पकड़ लिया था: परम व्यक्ति के रूप में जो क्षर और अक्षर दोनों स्तरों को समाहित करता है। आपकी गीता से पहले, मैंने कभी किसी अंग्रेजी अनुवादक को इस विचार को सही ढंग से प्राप्त करते नहीं देखा था। उपरोक्त कारणों से, जब मैं हिंदू धर्म पढ़ाती हूं, तो मैं हमेशा अपने छात्रों को भगवद्-गीता का आपका अनुवाद सौंपती हूं

(अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद by GTran)

--- Dr. Nicole Karapanagiotis, Chair of Philosophy and Religion, Rutgers University, USA. Feb 2022 | nicole.karapanagiotis@rutgers.edu

“ I would like to include the translation of the Gita by Dr. Ramananda Prasad in my site. I am interested in representing India fairly, and I fear that the translation of the Gita by Sir Edwin Arnold that is distributed all over the net will do more to turn students away rather than introduce them fairly to the text....”

Prof. Anthony Beavers, University of Evansville, Indiana.

“...The most popular version in USA nowadays seems to be Prabhupada's (ISKCON) version, but unfortunately, he seems to think he is god. Dr. Prasad takes a low-key approach, simply translating and interpreting the Gita to the best of his ability and allowing the reader to make sense of it rather than force his own opinion on others. Prasad defines his terms and goes to the extra effort to make sure that what Vyasa was trying to describe is clear to even ones not familiar with Indian/Eastern philosophy. More accurate than most other translations and rendered into modern prose, this makes an excellent place to start with....” **--Gsibbery, Baton Rouge, LA, USA**

(in Amazon Book Review, 2005)



श्रीमद् भगवद्गीता

(तीसरा हिन्दी संस्करण)

भूमिका, संस्कृत के शब्द-विच्छेदित मूल श्लोक, हिन्दी गद्य
तथा पद्य (दोहा, चौपाई, और छन्द में) अनुवाद, व्याख्या,
भगवान श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश, ध्यान की एक
सहज विधि, हिन्दी में गीता के 700 श्लोक
तथा गीता चालीसा सहित.

रामानन्द प्रसाद, पी.एच.डी.

INTERNATIONAL GITA SOCIETY, USA



That which is One has become all these (RV 8.58.02)

ध्यान की एक सहज विधि

(१) अपने मुख, हाथ, और पैर धोयें तथा सिर, गर्दन, और रीढ़ की हड्डी को सीधे ऊपर की ओर रखते हुए आरामदेह मुद्रा में किसी शान्त, स्वच्छ, और अंधेरे स्थान में बैठें। ध्यानकाल में संगीत या धूपबत्ती आदि की सलाह नहीं है। ध्यान का काल और स्थान निश्चित होना चाहिये। मन, वचन, और कर्म से यम-नियम का पालन करें। कुछ योगासन भी आवश्यक हैं। प्रतिदिन १५-२० मिनट प्रातःकाल, संध्या, और मध्य-रात्रि का समय ध्यान के लिये सर्वोत्तम समय है। (२) जिस इष्टदेव में आस्था है, उनका नाम या रूप का स्मरण करें, उनका आशीर्वाद मांगे। (३) अपने नयन मृदं लें, और ५-१० अन्यन्त धीमे और गहरे श्वास लें। (४) अपने हृदय-केन्द्र के अन्दर अपनी दृष्टि, मन, और भाव केन्द्रित कर धीरे धीरे सांस लें। भीतर की ओर सांस लेते समय मन ही मन ‘सो’ का जाप करें, और बाहर की ओर सांस लेते समय ‘हम’ का। ऐसा सोचें जैसे कि स्वयं श्वास ही ये ‘सो’ और ‘हम’ ध्वनि उच्चारित कर रहा है। मानसिक दृष्टि से नथुनों द्वारा सांस को भीतर जाते, और फिर बाहर आते हुए देखते रहें। श्वास को नियंत्रित करने का प्रयास न करें, स्वाभाविक श्वास लें। (५) श्वास ली जाती हुई वायु के अनन्त देश में अपने-आप को लीन करने का प्रयत्न करें। यदि मन श्वास-पथ का अनुसरण करने से विचलित हो, तो पुनः पग (३) से शुरू करें। नियमित हों तथा स्थिर रहें।



हमारा लक्ष्य और उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी संयुक्तराज्य अमेरिका में एक पंजीकृत, लाभ-निरपेक्ष, आयकर-मुक्त आध्यात्मिक संस्थान है, जो श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से मानवता की सेवा करने और जन सामान्य में प्रबुद्धता जाग्रत् करने के ध्येय से १९८४ में स्थापित की गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी के लक्ष्य और उद्देश्य हैं—

१. श्रीमद्भगवद्गीता का अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशन और नाममात्र सहयोग-राशि-मूल्य पर प्रसार करना तथा भारत और अमेरिका से आरम्भ कर विश्वभर में गीता का पुस्तकालयों, अस्पतालों, होटलों, मोटरों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में वितरण करना, जैसा कि अमेरिकन बाइबिल सोसायटी विश्वभर में बाइबिल का प्रचार-प्रसार करती है।

२. श्रीमद्भगवद्गीता तथा अन्य वैदिक धर्मग्रन्थों की मूल असाप्त्रदायिक सार्वभौमिक शिक्षा का सहज-सरल भाषा में अनुवाद द्वारा प्रसार और उसके लिए देश-देश में सोसायटी की शाखाओं की स्थापना करना।

३. गीता-अध्ययन और सत्संग सभाओं की स्थापना में सहयोग और मार्गदर्शन देना तथा युवा, छात्र-वर्ग और व्यस्त व्यावसायिक प्रशासकों एवं अन्य रुचि रखनेवालों में गीता का पत्राचार द्वारा निःशुल्क प्रशिक्षण करना।

४. वैदिक ज्ञान के अध्ययन और प्रसार में जुटे अन्य व्यक्तियों तथा लाभ-निरपेक्ष संस्थाओं को प्रेरणा, सहयोग और सहायता देना तथा आध्यात्मिक, तत्त्वज्ञान, ध्यानयोग आदि पर व्याख्यानों, परिसंवादों और संक्षिप्त पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करना.

५. वेदों, उपनिषदों, गीता, रामायण तथा विश्व के अन्य प्रमुख धर्मग्रन्थों—धम्पपद, बाइबिल, कुरआन आदि—की शाश्वत असाम्प्रदायिक शिक्षा के माध्यम से विभिन्न धर्मों के बीच की खाई को पाटना तथा सब वर्णों, जातियों, धर्मों और वर्गों में एकता पैदा करना एवं मानव जाति में विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करना.

“गीता पढ़ो, आगे बढ़ो”

Hindi Translation of Sixth English Edition, 2022
(तीसरा हिन्दी संस्करण)

First Chinese Edition, 2015, 13th Print 2021

Hindi Translation of Fifth English Edition, 2014
(द्वितीय हिन्दी संस्करण)

Hindi Translation of Fourth English Edition, 2005
(प्रथम हिन्दी संस्करण)

Fourth Revised English Edition, 2004

Third Revised English Edition, 1999

Reprints: 1997, 1998, 2003

Second Revised and Enlarged Indian (English) Edition, 1996
(Published by Motilal Banarsi Dass, New Delhi, India)

First English Edition, 1988

Copyright © The International Gita Society
511 Lowell Place, Fremont, Ca 94536, USA
Visit: www.gita-society.com

All rights reserved. This book, or parts thereof, may not be reproduced in any form without a written permission from the International Gita Society (IGS) in U.S.A.

ISBN 10: 1481169696

INTERNATIONAL GITA SOCIETY, USA

इस अनुवाद के बारे में

श्रीमद्भगवद्गीता का यह सुबोध, प्रांजल प्रस्तुतीकरण जनसाधारण और विशेषज्ञ दोनों के लिए ही अतीन्द्रिय ज्ञान के विशाल सागर में प्रवेश करना सुलभ बनाता है। महत्वपूर्ण श्लोकों को गीता का आरम्भिक पाठकों के सुविधा के लिए Highlight किये गये हैं। आरम्भिक पाठकगण पहले इन्हीं श्लोकों का अध्ययन करें। प्रमुख श्लोकों की ही अर्थपूर्ण व्याख्या की गई है, ताकि पाठक सीधे ही उनका मूल अर्थ-विन्दु पा सके। साथ ही, यह ग्रन्थ विशिष्ट अध्येताओं के लिए भी है। मूल संस्कृत पाठ को पाठन-सुलभ बनाने के लिए नए ढंग से शब्द-विच्छेद करके प्रस्तुत किया गया है।

विभिन्न प्रमुख धर्मों और मत-मतान्तरों के सन्तों और विश्व के महान पुरुषों और विद्वानों के आप वचनों का समावेश भी इस ग्रन्थ में किया गया है।

सभी धर्मों की मूलभूत एकता का दिग्दर्शन कराने तथा मानव जाति के वैशिक धर्म का प्रचार करने में सहायक होने के निमित्त वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, भक्तिसूत्रों, पुराणों, मनुस्मृति, रामायणों, महाभारत तथा विश्व के अन्य प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों से उदाहरणों का समावेश किया गया है। दैनिक स्वाध्याय के लिए अनेक मंत्र, ध्यानयोग प्रक्रिया और गीता के चालीस श्लोक (श्री गीताचालीसा) भी यहां प्रस्तुत हैं।

लेखक के बारे में

डॉक्टर रामानन्द प्रसाद सानफ्रान्सिस्को खाड़ी क्षेत्र के अनेक जनसेवी संस्थानों के प्रस्थापक सदस्य हैं। उन्होंने अमेरिकन/अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य श्रीमद् भगवद्गीता तथा अन्य हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के माध्यम से मानवता की सेवा करना और महान् मनीषियों तथा विश्व के अन्य प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों के माध्यम से संसार की सभी संस्कृतियों, जातियों, धर्मों तथा मतों के बीच एकता स्थापित करना है।

इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी, खड़गपुर से स्नातक उपाधि प्राप्त करने के बाद उन्होंने यूनिवर्सिटी ऑफ टोराण्टो से एम.एस. की उपाधि प्राप्त की और यूनिवर्सिटी ऑफ इलीनाय से सिविल इंजीनियरिंग में पी.एच.डी. की. डाक्टर प्रसाद राज्य और केन्द्र की सरकारों में कार्यरत रहने के साथ साथ अध्यापक, शोधकर्ता और सलाहकार के रूप में भी काम करते रहे हैं।

डाक्टर प्रसाद सानहोजे स्टेट यूनिवर्सिटी में सिविल इंजीनियरिंग के प्राध्यापक भी रहे हैं (सेवामुक्त, २०१०). साथ ही वे ग्रेज्युएट कॉलेज ऑफ दी यूनियन इंस्टीच्यूट ऑफ सिनसिनेटी, ओहायो, में धर्म और मनोविज्ञान के अनुबन्धित प्राध्यापक भी थे।

विषय सूची

ध्यान की एक सहज विधि	vii
२६ संदर्भ ग्रन्थों के संक्षिप्त रूप	xvi
भूमिका	xvii
१. अर्जुनविषादयोग:	21
कौरव सेनानायकों का परिचय	22
अर्जुन द्वारा युद्धेच्छुक यौद्धाओं को देखने की कामना	23
अर्जुन का विषाद	24
अर्जुन द्वारा युद्ध के दोषों का वर्णन	25
कठिन समय में सशक्त भी भ्रमित हो जाते हैं	26
२. सांख्ययोग	26
अर्जुन द्वारा युद्ध विरोधी तर्कों को चालू रखना	27
आत्मा और शरीर के ज्ञान के साथ गीता के उपदेशों का प्रारम्भ	28
आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है	29
मृत्यु, और जीवात्मा का पुनर्जन्म	31
श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उसके कर्तव्यों का स्परण कराना	32
कर्मयोग, अर्थात् निष्काम कर्म का महत्व	33
वेदों का विषय भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के दोनों पहलू है	34
कर्मयोग का सिद्धान्त और व्यवहार	35
आत्मज्ञानी के लक्षण	38

अनियन्त्रित इन्द्रियों के दुष्परिणाम	39
३. कर्मयोग.....	43
दूसरों की सेवा क्यों?.....	44
पारस्परिक सहयोग विधाता का पहला निर्देश.....	44
नेता उदाहरण बनें	46
सभी कर्म प्रकृति करती हैं	47
पूर्णता के मार्ग में दो बाधाएं.....	49
काम पाप का मूल है	50
काम पर विजय कैसे पाएं	51
४. ज्ञानमयकर्मयोग	51
कर्मयोग पुरातन विस्मृत निर्देश है	52
प्रभु के अवतार का उद्देश्य	53
प्रार्थना और भक्ति का मार्ग	54
सकाम, निष्काम, और निषिद्ध कर्म.....	55
कर्मयोगी को कर्म-बन्धन नहीं	56
यज्ञ के विभिन्न प्रकार.....	57
ज्ञानयोग श्रेष्ठतर आध्यात्मिक अभ्यास है.....	58
कर्मयोगी को स्वयं ही ज्ञान की प्राप्ति	61
ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के लिए अनिवार्य	61
५. संन्यासयोग.....	62
दोनों मार्ग परमात्मा की ओर ले जाते हैं	62
कर्मयोगी प्रभु के लिए काम करता है	63
आत्मज्ञान का मार्ग	64
आत्मज्ञानी के अन्य लक्षण	64
तीसरा मार्ग— भक्तिमय ध्यानयोग	66
६. ब्रह्मविचारयोग.....	66
कर्मयोगी भी संन्यासी है.....	67
योग और योगी की परिभाषा.....	67
मन श्रेष्ठतम मित्र, और सबसे बड़ा शत्रु भी	67
ध्यान के तरीके	69
योगी कौन?	75
चंचल मन को नियंत्रित करने के दो उपाय.....	77
असफल योगी की गति	77
श्रेष्ठतम योगी कौन?.....	79
७. ज्ञानविज्ञानयोग	79

प्रकृति, पुरुष, और आत्मा की परिभाषा.....	80
परमात्मा सब वस्तुओं का आधार	81
भक्ति के किसी भी वाचनीय रूप की मूर्ति में प्रभु का दर्शन सम्भव.....	84
८. अक्षरब्रह्मयोग	87
ब्रह्म, आत्मा, जीवात्मा और कर्म की परिभाषा.....	87
पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म	87
प्रभु-प्राप्ति का एक सहज मार्ग	88
मृत्युकाल में प्रभु के ध्यान से मोक्ष-प्राप्ति	89
ध्यान की एक सहज विधि	90
सृष्टि में सब कुछ आवर्ती है	91
संसार से जाने के दो प्रमुख मार्ग.....	92
आत्मज्ञान से मुक्ति.....	94
९. राजविद्याराजगुह्ययोग.....	95
सृष्टि-रचना और प्रलय का सिद्धान्त	96
ज्ञानी और अज्ञानी के मार्ग.....	97
सब कुछ परमात्मा का ही विस्तार है.....	97
अनन्य प्रेमभक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति	98
कोई अक्षम्य पापी नहीं	100
भक्तिमार्ग अन्य मार्गों से सहज	101
१०. विश्रूतियोग.....	102
प्रभु भक्तों को ज्ञान देता है	104
ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप कोई नहीं जान सकता.....	104
सम्पूर्ण सृष्टि परब्रह्म का विस्तार है	105
दैवी विश्रूतियों का संक्षिप्त वर्णन	107
सृष्टि परब्रह्म का लघुतम अंश मात्र है	109
११. विराट्-रूपदर्शनयोग.....	110
प्रभुदर्शन भक्त का परम ध्येय.....	110
श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को विराट् विश्वरूप का दर्शन कराना	111
प्रभुदर्शन के सब योग्य नहीं, न सब दीक्षित	112
विराट् विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को भय	114
हम सब दैवी निमित्त मात्र.....	115
अर्जुन द्वारा विश्वरूप की वन्दना	116
प्रभु के साकार रूप का दर्शन सम्भव है	118
भक्ति द्वारा प्रभुदर्शन.....	119
१२. भक्तियोग	120

साकार की उपासना करें या निराकार ब्रह्म की?	121
साकार की उपासना के कारण	121
ईश्वर-प्राप्ति के चार मार्ग	122
कर्मयोग का सरल और सर्वोत्तम मार्ग	123
भक्ति के लक्षण.....	123
व्यक्ति निष्ठापूर्वक दैवी गुण पाने का यत्न करे.....	124
नवधा भक्ति	125
१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.....	125
सृष्टि-सिद्धान्त	125
निर्वाण-साधन के रूप में चतुर्विध आर्थसत्य	127
दृष्टान्त कथा द्वारा ही प्रभु का वर्णन सम्भव	128
पुरुष, प्रकृति, आत्मा, और परमात्मा का वर्णन	129
विश्वास भी मोक्ष का मार्ग	131
ब्रह्म के लक्षण	131
१४. गुणत्रयविभागयोग.....	133
पुरुष प्रकृति संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति	133
प्रकृति के गुण ही आत्मा को शरीर से बांधते हैं	134
प्रकृति के तीन गुणों के लक्षण	134
त्रिगुण ही आत्मा के पुनर्जन्म के वाहक हैं.....	135
गुणातीत होने पर मोक्ष.....	136
गुणातीत होने की प्रक्रिया.....	136
अनन्य भक्ति द्वारा गुण-बन्धनों को काटना सम्भव	137
१५. पुरुषोत्तमयोग.....	138
सृष्टि माया की शक्ति से उत्पन्न वृक्ष के समान.....	138
मोह-वृक्ष को काटने और प्रभु-शरण से मोक्ष-प्राप्ति कैसे?	139
जीवात्मा भोक्ता है	140
ब्रह्म सब वस्तुओं का सार है.....	141
क्षर, अक्षर और अक्षरातीत क्या है?	143
परमपिता परमात्मा का अवरोहण.....	143
१६. दैवासुरसंपदविभागयोग.....	144
मोक्ष के लिए अर्जित प्रमुख दैवी गुणों की सूची.....	144
आध्यात्मिक यात्रा से पहले त्याज्य आसुरी गुणों की सूची	146
केवल दो प्रकार के मानव, ज्ञानी और अज्ञानी	147
अज्ञान का फल है दुःख	148
काम-क्रोध-लोभ नरक के तीन द्वार	149

शास्त्रीय विधान का पालन अनिवार्य	150
१७. श्रद्धात्रयविभागयोग	152
आस्था के तीन प्रकार	152
भोजन के तीन प्रकार	153
यज्ञ के तीन प्रकार	154
विचार, वाणी, और कर्म का तप	154
तप के तीन प्रकार	155
दान के तीन प्रकार	156
ब्रह्म के तीन नाम	157
१८. निरहंकार से मोक्ष की प्राप्ति	158
संन्यास और त्याग की परिभाषा	158
त्याग के तीन प्रकार	159
नवधा त्याग	160
कर्म के पांच कारण	161
ज्ञान के तीन प्रकार	162
कर्म के तीन प्रकार	163
कर्ता के तीन प्रकार	163
बुद्धि के तीन प्रकार	163
संकल्प के तीन प्रकार और मानव जीवन के चार लक्ष्य	164
आनन्द के तीन प्रकार	165
व्यक्ति की योग्यता के अनुसार श्रम का विभाजन	166
कर्तव्य, साधना, और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति	167
कर्मबन्धन और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति	170
समर्पण, प्रभुप्राप्ति का परम मार्ग	172
परमात्मा की परम सेवा तथा सर्वोत्तम दान	174
गीता जी की महिमा	175
संतुलित जीवन के लिए आत्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता	176
उपसंहार, भगवान श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश	177
गीता के श्लोकों का पद्य अनुवाद	179
श्री गीता चालीसा	223
हिन्दी में गीता के श्लोक	223

२९ संदर्भ ग्रन्थों के संक्षिप्त रूप

- ०१ अथ.वे. अर्थर्ववेद
- ०२ अव.ग. अष्टावक्र गीता
- ०३ ईशा.उ. ईशावास्य उपनिषद्
- ०४ ऐ. उ. ऐतरेय उपनिषद्
- ०५ कठ.उ. कठ उपनिषद्
- ०६ केन. उ. केन उपनिषद्
- ०७ छा.उ. छान्दोग्य उपनिषद्
- ०८ तु.रा. तुलसी रामायण
- ०९ तैति.उ. तैतिरीय उपनिषद्
- १० देवी.भा. देवीभागवतम्
- ११ ना.भ.सू. नारदभक्तिसूत्र
- १२ प.यो.सू. पतञ्जलि योगसूत्र
- १३ प्र.उ. प्रश्न उपनिषद्
- १४ बृह.उ. बृहदारण्यक उपनिषद्
- १५ ब्र.सू. ब्रह्मसूत्र
- १६ भा.पु. भागवत महापुराण
- १७ म.भा. महाभारत
- १८ म.सू. मनुस्मृति
- १९ मा.उ. माण्डूक्य उपनिषद्
- २० मु.उ. मुण्डक उपनिषद्
- २१ यजु.वे. यजुर्वेद, वाजसनेयी संहिता
- २२ यो.वा. योगवाशिष्ठ
- २३ वा.रा. वाल्मीकि रामायण
- २४ वि.चू. विवेक चूडामणि

- २५ वि.पु. विष्णुपुराण
- २६ शा.भ.सू. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
- २७ श्वे.उ. श्वेताश्वतर उपनिषद्
- २८ सा.वे. सामवेद
- २९ ऋ.वे. ऋग्वेद

भूमिका

गीता सार्वभौमिक सत्य का सिद्धान्त है। इसका संदेश मानव को दिव्यता की ओर ले जाने वाला तथा सम्प्रदाय-निरपेक्ष है; यद्यपि इसे सनातन धर्म, जो सामान्यतः हिन्दूधर्म के नाम से जाना जाता है, की आध्यात्मिक परम्परा के धर्मशास्त्र-त्रयी का अंग माना जाता है। परिपक्व मस्तिष्क वाले व्यक्ति के लिए किसी भी भाषा में गीता को समझना बहुत ही सुगम है। निष्ठा के साथ गीता का बार-बार किया पाठ इसमें निहित सभी उदान विचारों को उद्घाटित करेगा। यत्र-तत्र कुछ ऐसे भी श्लोक हैं, जो बहुत कठिन हैं, पर गीता की मुख्य चिन्तन-धारा पर तथा उसकी व्यावहारिक शिक्षा पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गीता अध्यात्म-शास्त्र के पवित्रतम सिद्धान्तों को उजागर करती है। वह आत्मा का ज्ञान देती है और दो सार्वभौमिक प्रश्नों का उत्तर देती है कि मैं कौन हूँ और कैसे इस संघर्षमय जीवन में सुखी और शान्त होकर रह सकता हूँ। यह योग का ग्रन्थ है, जो मानव जाति को हिन्दूधर्म के मुख्य सिद्धान्तों पर आधारित नैतिक और आध्यात्मिक विकास का मार्ग दिखलाता है।

गीता के सन्देश का जन्म अर्जुन द्वारा धर्मयुद्ध करने की अनिच्छा के कारण हुआ, क्योंकि युद्ध विनाश और हिंसा का जनक है। हिन्दू विचारधारा में अहिंसा परम धर्म है। सभी प्राणी, चाहे मनुष्य हाँ या पशु, पवित्र हैं। भगवान श्रीकृष्ण और उनके भक्तसरखा अर्जुन के बीच का यह संवाद किसी मंदिर में, किसी जंगल में या पर्वत की चोटी पर नहीं हुआ, बल्कि ठीक युद्ध के मैदान में सम्पन्न हुआ। उस युद्ध का वर्णन महाभारत-ग्रन्थ में दिया गया है, जो एक महाकाव्य है।

गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को खड़े होकर लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। इस महाभारत-युद्ध की पृष्ठभूमि को यदि ध्यान में न रखा जाए तो अहिंसा के विषय में बड़ी ग्रान्ति हो सकती है, क्योंकि धर्मयुद्ध में हिंसा नहीं है। सत्य की विजय के लिए यदि युद्ध भी करना पड़े तो उस युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ना ही अहिंसा है। इसलिए महाभारत-युद्ध का इतिहास हमें समझ लेना चाहिए।

प्राचीन काल में एक राजा के दो पुत्र थे— धृतराष्ट्र और पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे थे, इस कारण पाण्डु को राज्य का भार मिला। पाण्डु के पांच पुत्र थे, वे पाण्डव

कहलाते थे. धूतराष्ट्र के सौ पुत्र थे. वे सब कौरव कहलाते थे. कौरव-पुत्रों में दुर्योधन सब से बड़ा था. महाराज पाण्डु के मरने के बाद पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर राजा बने. दुर्योधन बड़ा ही ईर्ष्यालु था. वह भी राज्य करना चाहता था. अतः यह निश्चय हुआ कि पाण्डवों और कौरवों के बीच राज्य के दो भाग कर दिए जाएं. राजा दुर्योधन फिर भी सन्तुष्ट नहीं था. वह सम्पूर्ण राज्य लेना चाहता था. उसने पाण्डवों को मारकर उनका राज्य लेने के लिए अनेक घड़यंत्र रखे, परन्तु असफल रहा. फिर उसने पाण्डवों के राज्य पर गलत ढंग से अधिकार कर लिया और कहने लगा कि बिना युद्ध के एक पग भूमि भी नहीं दी जायगी. श्रीकृष्ण और अन्य लोगों के द्वारा की गयी मध्यस्थिता भी असफल हुई. महाभारत के विशाल युद्ध का सूत्रपात हुआ.

पाण्डव युद्ध में अनिच्छा से भाग ले रहे थे. उनके सामने दो रास्ते थे ---अपने अधिकार के लिए युद्ध करें या शान्ति और अहिंसा के नाम पर हार मानकर युद्ध से पीछे हट जाएं. पांचों पाण्डव-भाइयों में अर्जुन बुद्धिमान् था. वह युद्ध क्षेत्र में इस असमंजस की परिस्थिति का सामना करते हुए सोचने लगा कि वह युद्ध करें या शान्ति के लिए पीछे हट जाए.

अर्जुन का असमंजस सही पूछा जाए तो हम सभी का असमंजस है. अपने दैनिक जीवन में कर्तव्य-कर्म करते हुए हर एक के सामने असमंजस की छोटी-बड़ी ऐसी घडियां सदैव आती रहती हैं. अर्जुन की समस्या तो सबसे बड़ी है. उसके सामने उसके पूज्य गुरु, प्रिय मित्र, सगे-संबन्धी और निर्दोष जनों का समूह खड़ा है और उसे इस बात का निर्णय लेना है कि वह युद्ध करे अथवा शान्ति और अहिंसा के हेतु युद्ध से पलायन करे.

पांच हजार वर्ष पहले भारत के दिल्ली-क्षेत्र के निकट कुरुक्षेत्र में युद्ध होने वाला है. उस युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण और घबराये हुए अर्जुन के साथ जो बातचीत हुई, वही गीता के सात सौ श्लोक हैं. यह संवाद अर्थे धूतराष्ट्र को उसके सारथी संजय द्वारा दिव्यदृष्टि से देखकर बतलाया गया है. उसे यह दिव्यदृष्टि महर्षि व्यास जी द्वारा दी गयी थी.

गीता की मुख्य शिक्षा है कि कैसे हम अपने सभी काम-काज करते हुए जीवन के सुख और अंत में मुक्ति को प्राप्त करें. हम अपने कर्तव्य-कर्मों को लगन से करते चलें, चाहे वह कर्म युद्ध ही क्यों न हो और साथ ही प्रभु को याद रखें कि वही हमारे भीतर सही प्रेरणा दे रहा है.

संसार में दो तरह के लोग हैं, एक जो धार्मिक जीवन के लिए अपने जीविका उपार्जन और परिवार पोषण आदि कर्मों को छोड़ देते हैं तथा दूसरों पर आश्रित हो जाते हैं, और दूसरे वे जो धार्मिक जीवन की बिल्कुल ही उपेक्षा कर देते हैं; यह कहकर कि उनके पास अभी इन सब के लिए समय ही नहीं है. श्रीकृष्ण का संदेश है कि पूरा जीवन ही धर्ममय होना चाहिए. जो कुछ भी मनुष्य करे वह ईश्वर को ध्यान में रखकर करे. फिर धर्म के लिए कुछ विशेष परिश्रम अलग से नहीं करना पड़ता. केवल इतना भाव अपने मन में रखना पड़ता है कि हमारे सभी कर्म प्रभु देख रहे हैं और हम अपने कर्म उनके बतलाए मार्ग के अनुसार ही कर रहे हैं.

ऐसा हमें सदा ध्यान रहे; इसके लिए लोग तरह-तरह के पूजा-पाठ, व्रत-तप, यज्ञ-अनुष्ठान, ध्यान, जप, सत्संग, तीर्थ-भ्रमण, शास्त्र-अध्ययन आदि करते हैं. उन सबका उद्देश्य यही होता है कि किसी तरह हमारे भीतर से काम, क्रोध, लोभ आदि विकार कम हों और हम अपने मन के स्वामी बनें. इस बात का सदा ध्यान रहे कि कर्म तो हमारे भीतर

प्रकृति करवाती है और हम तो निमित्त मात्र हैं। सभी कार्यों में हमें कुशलता चाहिए और अपने भीतर कोई उत्तेजना नहीं आनी देनी चाहिए; चाहे लाभ हो या हानि, दुःख हो या सुख, सफलता हो या विफलता।

आत्मा का अज्ञान मनुष्य का सबसे बड़ा अभिशाप (दुर्दशा का कारण) है। आत्मा का ज्ञान शब्दों से या ग्रन्थों से करा देना संभव नहीं है, भाषा असमर्थ है और शास्त्रों का अनुवाद परमसत्य का ज्ञान पूर्णतः करवाने में असमर्थ है। प्रस्तुत अनुवाद में यह प्रयास किया गया है कि शैली मूल संस्कृत काव्य के यथासम्भव समीप हो, किन्तु साथ ही पढ़ने और समझने में सरल हो। शब्दों या वाक्यांशों को कोष्ठों में जोड़कर श्लोकों के अनुवाद को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। शुरुआती लोगों की सुविधा के लिए प्रमुख 133 श्लोकार्थों को **बोल्ड-रेखांकित** (**bold-underlined**) में मुद्रित किया गया है। हम अपने सभी पाठकों को इन श्लोकों पर विचार, मनन और आचरण करने का सुझाव देते हैं। शुरुआती और व्यस्त लोगों को गीता के अथाह सागर की गहराई में उतरने से पहले इन श्लोकों को पढ़ना और समझना चाहिए।

वराहपुराण के अनुसार कोई भी पाप, चाहे वह कितना ही जघन्य हो, उस व्यक्ति को नहीं लग सकता जो गीता पढ़ता है, मनन करता है तथा उसकी शिक्षाओं पर आचरण करता है, वैसे ही जैसे जल का प्रभाव कमल पर नहीं पढ़ता है। जहां गीता रखी, पढ़ी, गाई या पढ़ाई जाती है, वहां स्वयं भगवान कृष्ण निवास करते हैं। गीता परमज्ञान है और परमतत्त्व तथा अनादि-अनन्त और शाश्वत सत्ता का नादरूप है, स्वर-प्रतीक है। जो इसे पढ़ता है, मनन करता है और निष्ठाभक्ति से गीता की शिक्षाओं का अनुसरण करता है, वह प्रभुकृपा से मोक्ष की प्राप्ति करता है।

गीता के गंभीर विषयों के मूल भावों का सरल भाषावद्व नहीं होने के कारण जन-साधारण इसका अधिक लाभ नहीं उठा पाते। गीता जैसे गृद्ध ग्रंथ के लिए भाषा को यथासम्भव सरल बनाने का प्रयास किया गया है। यह ग्रन्थ उन गुरुओं को समर्पित किया गया है, जिनके आशीर्वाद, कृपा और शिक्षाएं अमूल्य रही हैं। और यह महानतम गुरु भगवान कृष्ण को भक्ति और प्रेम के साथ समर्पित है। प्रभु को यह अर्थ्य स्वीकार हो; और वे उन्हें, जो बाबार इस ग्रन्थ को पढ़ें, शान्ति, सुख और सच्चा आत्मज्ञान प्रदान करने की कृपा करें।

ॐ तत्सत्



श्री गीताजी की महिमा

Audio:

<https://gita-society.com/hindifile/gitamahima.mp3>

गीता हृदय भगवान का, सब ज्ञान का शुभ सार है ।

इस शुद्ध गीता ज्ञान से ही, चल रहा संसार है ॥१॥

गीता परमविद्या सनातन, कर्म शास्त्र प्रधान है ।

परब्रह्म रूपी मोक्षकारी, नित्य गीता-ज्ञान है ॥२॥

यह मोह माया कष्टमय, तरना जिसे संसार हो ।

वह बैठ गीता नाव में, सुख से सहज में पार हो ॥३॥

संसार के सब ज्ञान का, यह ज्ञानमय भंडार है ।

श्रुति,उपनिषद्,वेदान्त-ग्रन्थों का परम शुभसार है

गाते जहां जन नित्य “हरिगीता” निरंतर नेम से ।

रहते वही सुख-कन्द नटवर, नन्द-नन्दन प्रेम से ॥५॥

गाते जहां जन गीत-गीता, प्रेम से धर ध्यान हैं ।
 तीरथ वहीं भव के सभी, शुभ शुद्ध और महान हैं
 धरते हुए जो ध्यान गीता-ज्ञान का तन छोड़ते ।
 लेने उसे माधव मुरारी, आप ही उठ दौड़ते ॥१॥
 सुनते-सुनाते नित्य, जो लाते इसे व्यवहार में
 पाते परम-पद ठोकरे, खाते नहीं संसार में ८

ॐ

ॐ श्री गणेशाय नमः ॐ
 वसुदेवस्यात् देवं, कंसचाणूरमर्दनम् ।
 देवकीपरमानन्दं, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
 मूकं करोति वाचालं, पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
 यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम् ॥२॥

अथ श्रीमद् भगवद् गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

१. अर्जुनविषादयोगः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव, किम् अकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले— हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या-क्या किया? (१.०१)

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं, व्यूढं दुर्योधनस् तदा ।

आचार्यम् उपसद्गम्य, राजा वचनम् अब्रवीत् ॥२॥

संजय बोले— पाण्डवों की सेना की व्यूह-रचना देखकर राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा— (१.०२)

पश्येतां पाण्डुपुत्राणाम्, आचार्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण, तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य, अपने बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्याहाकार खड़ी की गई पाण्डुपुत्रों की इस महान् सेना को देखिए. (१.०३)

अत्र शरा महेष्वासा, भीमार्जुनसमा युधि ।

युयुधानो विराटश्च, द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

धृष्टकेतुश् चेकितानः, काशिराजश्च वीर्यवान् ।

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च, शैव्यश्च नरपङ्गवः ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त, उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च, सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस सेना में महान् धनुर्धारी योद्धा हैं, जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं; जैसे युयुधान, विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान् काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैव्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्र, ये सब महारथी हैं. (१.०४-०६)

कौरव सेनानायकों का परिचय

अस्माकं तु विशिष्टा ये, तान् निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य, संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

हे द्विजोत्तम, हमारे पक्ष में भी जो विशिष्ट योद्धागण हैं, उनको भी आप जान लीजिये। आपकी जानकारी के लिए मैं अपनी सेना के नायकों के नाम बताता हूँ। (१.०७)

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च, कृपश्च समितिंजयः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च, सौमदत्तिस् तथैव च ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा, मदर्थे त्यक्तजीविताः ।

नानाशस्यप्रहरणाः, सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

एक तो स्वयं आप, भीष्म, कर्ण और विजयी कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र हैं। मेरे लिए प्राणत्याग करने के लिए तैयार, अनेक प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित तथा युद्ध में कुशल और भी अनेक शूरवीर हैं। (१.०८-०९)

अपर्याप्तं तद् अस्माकं, बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदम् एतेषां, बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु, यथाभागम् अवस्थिताः ।

भीष्मम् एवाभिरक्षन्तु, भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी सेना अजेय है और भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना जीतने में सुगम है। अतः विभिन्न मोर्चों पर अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए आप सब लोग भीष्मपितामह की ही सब ओर से रक्षा करें। (१.१०-११)

तस्य संजनयन् हर्ष, कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनघोच्छैः, शश्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

उस समय कौरवों में वृद्ध, प्रतापी भीष्मपितामह ने दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से गरज कर शंखध्वनि की। (१.१२)

ततः शश्खाश्च भेर्यश्च, पणवानकगोमुखाः ।

सहस्रैवाभ्यहन्यन्त, स शब्दस् तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तत्पश्चात् शंख, नगाडे, ढोल, शूर्णी आदि वाद्य एक साथ ही बज उठे, जिनका बड़ा भयंकर नाद हुआ। (१.१३)

ततः इवतैर् हयैर् युक्ते, महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव, दिव्यौ शश्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके उपरान्त श्वेत अश्वों से युक्त भव्य रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन ने भी अपने-अपने दिव्य शंख बजाये। (१.१४)

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो, देवदत्तं धनंजयः ।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशश्खं, भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

भगवान् कृष्ण ने पांचजन्य, अर्जुन ने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाये। (१.१५)

अनन्तविजयं राजा, कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च, सुघोषमणिपुष्ट्यकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः, शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च, सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्वृपदो द्वौपदेयाश्च, सर्वेषाः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः, शशखान् दध्मः पृथक् पृथक् ॥१८॥

हे राजन्, कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख और नकुल तथा सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्ट्यक नामक शंख बजाये। श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि, राजा द्वृपद, द्वौपदी के पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु ने अलग-अलग शंख बजाये। (१.१६-१८)

स घोषो धार्ताराष्ट्राणां, हृदयानि व्यदास्यत् ।
न भश्च पृथिवीं चैव, तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

वह भयंकर धोष आकाशा और पृथिवी पर गूँजने लगा और उसने आपके पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिए। (१.१९)

अर्जुन द्वारा युद्धेच्छुक योद्धाओं को देखने की कामना
प्रवृत्ते शश्वसंपाते, धनुर उद्धम्य पाण्डकः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यम्, इदम् आह महीपते ।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये, रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावद् एतान् निरीक्षेऽहं, योद्धुकामान् अवस्थितान् ।
कैर् मया सह योद्धव्यम्, अस्मिन् रणसमुद्धमे ॥२२॥

हे राजन्, इस प्रकार जब युद्ध प्रारम्भ होनेवाला ही था तब कपिध्वज अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को स्थित देखकर धनुष उठाकर भगवान कृष्ण से ये शब्द कहे— हे अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिए; जिससे मैं युद्ध की इच्छा से खड़े उन लोगों का निरीक्षण कर सकूँ, जिनके साथ मुझों युद्ध करना है। (१.२०-२२)

योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं, य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्, युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय चाहेवाले जो राजा लोग यहां एकत्र हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखना चाहता हूँ। (१.२३)

संजय उवाच
एवम् उक्तो हृषीकेशो, गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये, स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्वाणप्रमुखतः, सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्, समवेतान् कुरुन् इति ॥२५॥

संजय बोले— हे भारत, अर्जुन के इस प्रकार कहने पर भगवान कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच उत्तम रथ को भीष्म, द्वाण तथा पृथिवी के समस्त शास्यकों के सामने खड़ा करके कहा— हे पार्थ यहां एकत्र हुए इन कौरवों को देखो। (१.२४-२५)

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृन् अथ पितामहान् ।

आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखीस् तथा ॥२६॥

वहां अर्जुन ने अपने चाचाओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों और मित्रों को खड़े हुए देखा। (१.२६)

अर्जुन का विषाद

श्वशुरान् सुहृदश्वैव, सेनयोर् उभयोर् अपि ।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः, सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् ॥२७॥

कृपया परस्याविष्टो, विषीदत्र इदम् अब्रवीत् ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण, युयुत्सु समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे, रोमर्हश्च जायते ॥२९॥

श्वशुरों, मित्रों और सब बन्धुओं को भी उन दोनों सेनाओं में स्थित देखकर कुत्तीपुत्र अर्जुन का मन करुणा से भर गया और विषाद युक्त होकर उसने यह कहा— हे कृष्ण, युद्ध की इच्छा से उपस्थित इन स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख भी सूख रहा है और मेरे शरीर में कष्पन तथा रोमांच हो रहा है। (१.२७-२९)

गाण्डीवं स्मंसते हस्तात्, त्वक् चैव परिदद्यते ।

न च शक्नोम्य अवस्थातुं, भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि, विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि, हत्वा स्वजनम् आहवे ॥३१॥

मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा जल रही है। मेरा मन भ्रमितसा हो रहा है तथा मैं खड़ा रहने में भी असर्प हूं और हे केशव, मैं शकुनों को भी विपरीत ही देख रहा हूं। युद्ध में अपने स्वजनों को मारकर कोई कल्याण भी नहीं देखता हूं। (१.३०-३१)

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द, किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

येषाम् अर्थे काङ्क्षितं नो, राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे, प्राणांस् त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

हे कृष्ण, मैं न विजय चाहता हूं और न राज्य तथा न सुखों को ही। हे गोविन्द, हमें ऐसे राज्य से अथवा भोगों से और जीने से भी क्या लाभ है? क्योंकि वे सब लोग, जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की इच्छा है, धन और जीवन की आशा त्यागकर युद्ध के लिए खड़े हैं। (१.३२-३३)

आचार्याः पितरः पुत्रास्, तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः, श्यालाः संबन्धिनस् तथा ॥३४॥

एतान् न हन्तुम् इच्छामि, ज्ञतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य, हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन कृष्ण, गुरुजन, ताजाओं, चाचाओं, पुत्रों, पितामहों, मामाओं, श्वशुरों, पोतों, सालों तथा अन्य सम्बन्धियों को, मुझपर प्रहार करने पर भी, मैं मारना नहीं चाहता। तीनों

लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है? (१.३४-३५)

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः, का प्रीतिः स्याज् जनार्दन ।

पापम् एवाश्रयेद् अस्मान्, हत्वैतान् आततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन कृष्ण, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारने से तो हमें केवल पाप ही लगेगा. (१.३६)

तस्मान् नार्हा वयं हन्तुं, धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा, सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए अपने बान्धवों, धृतराष्ट्र के पुत्रों, को मारना हमारे लिए उचित नहीं है; क्योंकि, हे माधव, स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? (१.३७)

यद्यप्येते न पश्यन्ति, लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

कथं न ज्ञेयम् अस्माभिः, पापाद् अस्मान् निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं, प्रपश्यद्विरेजनार्दन ॥३९॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित हुए ये लोग अपने कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में हुए पाप को नहीं देख रहे हैं; तथापि, हे जनार्दन, कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जाननेवाले हम लोगों को इस पाप से निवृत्त होने के लिए क्यों नहीं सोचना चाहिए? (१.३८-३९)

अर्जुन द्वारा युद्ध के दोषों का वर्णन

कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः सनातनाः ।

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम्, अधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल के नाश से कुल के सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म नष्ट होने पर सारे कुल को पाप दबा लेता है. (१.४०)

अधर्मोभिभवात् कृष्ण, प्रदुष्यन्ति कुलस्थियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्ण्यं, जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण, पाप के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं; और, हे वार्ष्ण्य, स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर पैदा होते हैं. (१.४१)

संकरो नरकायैव, कुलघानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां, लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

वर्णसंकर कुलघातियों को और सारे कुल को नरक में ले जाता है, क्योंकि (वर्णसंकर द्वारा) आदृथ और तर्पण न मिलने से पितर भी अपने स्थान से नीचे गिर जाते हैं. (१.४२)

दोषैर् एतैः कुलघानां, वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साधन्ते जातिधर्माः, कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं. (१.४३)

उत्सन्नकुलधर्माणां, मनुष्याणां जनार्दन ।

नरकेऽनियतं वासो, भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन, हमने सुना है कि जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन्हें बहुत समय तक नरक में वास करना होता है। (१.४४)

कठिन समय में सशक्त भी भ्रमित हो जाते हैं

अहो बत महत् पापं, कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद् राज्यसुखलोभेन, हन्तुं स्वजनम् उद्धताः ॥४५॥

यह बड़े शोक की बात है कि हम लोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं तथा राज्य और सुख के लोभ से अपने स्वजनों का नाश करने को तैयार हैं। (१.४५)

यदि माम् अप्रतीकारम्, अशास्त्रं शस्त्रपाणयः ।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्, तन् मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा यदि शास्त्ररहित और सामना न करनेवाले मुझको ये शस्त्रधारी कौरव रण में मार डालें। (१.४६)

संजय उवाच

एवम् उक्त्वाऽर्जुनः संख्ये, रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं, शोकसविन्मानसः ॥४७॥

संजय बोले— ऐसा कहकर शोकाकुल मनवाला अर्जुन रणभूमि में बाणसहित धनुष का त्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ गया। (१.४७)

इस प्रकार अर्जुनविषादयोग नामक प्रथम अध्याय पूर्ण होता है.

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सांख्ययोगः

२. सांख्ययोग

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टम्, अशुपूर्णकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तम् इदं वाक्यम्, उवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय बोले— इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसू भरे, व्याकुल नेत्रोवाले, शोकाकुल अर्जुन से भगवान कृष्ण ने कहा— (२.०१)

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलम् इदं, विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टम् अस्वर्गम्, अकीर्तिकरम् अर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान बोले— अर्जुन, इस विषम अवसर पर तुम्हें यह कायरता कैसे प्राप्त हुई? यह श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण के विपरीत है तथा यह न तो स्वर्ग-प्राप्ति की साधन है और न कीर्ति देनेवाली ही है। (२.०२)

कलैव्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत् त्वय्यु उपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोन्तिष्ठ परंतप ॥३॥

इसलिए, हे अर्जुन, तुम कायर मत बनो. यह तुम्हें शोभा नहीं देता. हे शत्रुओं को मारनेवाले अर्जुन, तुम अपने मन की इस दुर्बलता को त्यागकर युद्ध करो. (२.०३)

अर्जुन द्वारा युद्ध विरोधी तर्कों को चालू रखना

अर्जुन उवाच

कथं भीष्मम् अहं संख्ये, द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि, पूजार्हावृ अरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बाले— हे मधुसूदन, मैं इस रणभूमि में भीष्म और द्रोण के विरुद्ध बाणों से कैसे युद्ध करूँ? हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं. (२.०४)

गुरुन् अहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोवतु भैश्यम् अपीहलोके ।

हत्वार्थकामांस् तु गुरुन् इहैव

भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

इन महानुभाव गुरुजनों को मारने से अच्छा इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना है, क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो इस लोक में उनके रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूपी भोगों को ही तो भोग्याना. (२.०५)

न चैतद् विद्धः कर्तरन् नो गरीयो

यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यान् एव हत्वा न जिजीविषामस्

तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

और हम यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिए (युद्ध करना या न करना, इन दोनों में) कौन-सा काम अच्छा है. अथवा यह कि हम जीतेंगे या वे जीतेंगे. जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं. (२.०६)

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमृढ्यताः ।

यच्छ्रेयः स्यान् निश्चितं ज्ञाहि तन् मे

शिष्यस् तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

इसलिए करुणापूर्ण और कर्तव्य पथ से भ्रमित, मैं, आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए जो निश्चय ही कल्याणकारी हो उसे आप कृपया कहिए. मैं आपका शिष्य हूँ, शरण में आये मुझको आप शिक्षा दीजिए. (२.०७)

धर्म की परिभाषा की जा सकती है. धर्म वह शाश्वत नियम है जो सृष्टि और संसार की व्यवस्था को चलाता, बनाये रखता और पोषित करता है. स्रष्टा और सृष्टि के बीच यह शाश्वत सम्बन्ध है. इसके अतिरिक्त धर्म का अर्थ जीवन-पदधारि, कर्तव्य, न्यायसंगत व्यवहार, आदर्श आचरण, गुणश्रेष्ठता, प्रकृति, गुणात्मकता, नैतिक सिद्धान्त और सत्य भी है. अधर्म धर्म का विलोम शब्द है. संकटकालीन क्षणों में विज्ञजनों का मार्गदर्शन अपेक्षित है.

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकम् उच्छोषणम् इन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमाव् असपत्नम् क्रदधं
राज्यं सुराणाम् अपि चाधिपत्यम् ॥८॥

पृथ्वी पर निष्कण्टक समृद्ध राज्य तथा देवताओं का स्वामित्व प्राप्तकर भी मैं
ऐसा कुछ नहीं देखता हूं, जिससे हमारी इन्द्रियों को सुखानेवाला शोक दूर हो
सके. (२.०८)

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा हृषीकेशं, गुडकेशः परंतप ।

न योत्थ्य इति गोविन्दम्, उक्त्वा तृष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय बोले— हे राजन्, निद्रा को जीतनेवाला, अर्जुन, अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान से “मैं
युद्ध नहीं करूँगा” कहकर चुप हो गया. (२.०९)

तम् उवाच हृषीकेशः, प्रहसन् इव भारत ।

सेनयोर् उभयोर् मध्ये, विषीदन्तम् इदं वचः ॥१०॥

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र), दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकाकुल अर्जुन को अन्तर्यामी
श्रीकृष्ण हस्ते हुए-से ये वचन बोले. (२.१०)

आत्मा और शरीर के ज्ञान के साथ गीता के उपदेशों का प्रारम्भ

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यान् अन्वशोचस् त्वं, प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतास्यन् अगतास्यश्व, नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, तुम ज्ञानियों की तरह वाते करते हो, लेकिन जिनके लिए
शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए शोक करते हो. ज्ञानी मृत या जीवित किसी के
लिए भी शोक नहीं करते. (२.११)

जिस प्रकार नदी में बहते हुए दो काठ के टुकड़े कभी-कभी एक दूसरे से मिल जाते हैं
और किर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोक में प्राणियों का समागम होता है (भ.भा.
१२.१७४.१५). सुधीजन, जो जानते हैं कि शरीर नश्वर है और आत्मा अमर, शोक करने का
कोई कारण नहीं देखते (कठ.उ. २.२२)

आत्मा सजीवता है, चैतन्य है, शाश्वत अस्तित्व ब्रह्म है, स्व-अस्मिता है, जीवन-स्रोत है,
शरीर-मस्तिष्क-समस्ति की सार्वभौमिक-सार्वकालिक शक्ति है, ऊर्जा है. जिस प्रकार देशकाल
में हमारे शरीर की सत्ता है, अस्तित्व है, उसी प्रकार आत्मा में हमारे विचार, हमारी प्रज्ञा,
हमारे मनोभाव, हमारी वित्तावस्था विद्यमान हैं. शारीरिक इन्द्रियों से आत्मा के दर्शन नहीं
हो सकते, क्योंकि आत्मा इन्द्रियों के परे, अतीन्द्रिय, है.

विभिन्न संदर्भों में गीता में आत्मा शब्द का प्रयोग वित्त, शरीर, मानस, मस्तिष्क, प्रज्ञा,
अवचेतन, चैतन्य, सूक्ष्म इन्द्रिय, निम्न इन्द्रिय, अहम्, स्वयं, हृदय, मानव, ब्रह्म, परमसत्य,
जीवात्मा, व्यक्तिगत आत्मा आदि अर्थों में भी हुआ है.

न त्वेवाहं जातु नासं, न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः, सर्वे वयम् अतः परम् ॥१२॥

ऐसा नहीं है कि मैं किसी समय नहीं था, अथवा तुम नहीं थे या ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। (२.१२)

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर् धीरस् तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे इसी जीवन में जीवात्मा बाल, युवा और वृद्ध शरीर प्राप्त करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त करता है। इसलिए धीर मनुष्य को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए। (१५.०८ भी देखें।) (२.१३)

मात्रास्पर्शास् तु कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्, तांस् तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे अर्जुन, इन्द्रियों के विषयों से संयोग के कारण होनेवाले सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख क्षणभंगुर और अनित्य हैं; इसलिए, हे अर्जुन, तुम उसको सहन करो। (२.१४)

यं हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं पुरुषरूपम् ।

समदुःखसुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख और सुख में समान भाव से रहनेवाले जिस धीर मनुष्य को इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर पाते, वह मोक्ष का अधिकारी होता है। (२.१५)

प्रतिभासित विश्व द्वन्द्वों के अभाव में रह ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा, हर्ष और विषाद आदि सदा रहेंगे। यदि द्वन्द्वों—सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि—के मनोवेगों से अप्रभावित रहने में मन को प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। यह जगत् जीवात्माओं के लिए ईश्वर द्वारा निर्मित क्रीड़ा-स्थल है। खेल में दो का होना अनिवार्य है। द्वन्द्वों का सम्पूर्ण विलोप कर देने से खेल जारी नहीं रह सकता। दुःख का समाप्त हो जाना सुख को जन्म देता है और सुख की समाप्ति का परिणाम होता है दुःख। इस प्रकार दुःख सुख के गर्भ में जन्म लेता है। शान्ति युद्ध के गर्भ से उत्तम होती है। विषाद विद्यमान है, क्योंकि हर्ष की कामना विद्यमान है। जब हर्ष की कामना का लोप हो जाता है, तब विषाद भी मिट जाता है। विषाद केवल हर्ष का पूर्वभास है और हर्ष विषाद का। स्वर्ग-गमन भी पृथ्वी पर प्रत्यागमन के दुःख की पूर्व-प्रक्रिया है। अतः भौतिक पदार्थ मानव-जीवन के उद्देश्य नहीं होने चाहिए। भौतिक आनन्द को चुनना वैसा ही है, जैसा अमृत को त्याग कर विष का चयन करना।

प्रकृति का नियम है—परिवर्तन—ग्रीष्म का शीत में बदलना, वसन्त का पतझड़ में, पूर्णिमा के चांद के प्रकाश का अमावास्या के अंधकार में। न विषाद सदा रहता है न हर्ष। विषाद के बाद हर्ष आता है और हर्ष के बाद फिर विषाद। इस प्रकार चिन्तन करते हुए मानव को समय के प्रहार को धैर्य के साथ सहना सीखना चाहिए—न केवल सहन करना सीखना, वरन् उसकी अपेक्षा करना, उसका स्वागत करना और समान रूप से जीवन में विषाद और हर्ष दोनों का आनन्द लेना भी उसे आना चाहिए। विषाद की भूमि में आशा के बीज बोझ्ये। दुर्भाग्य की रात्रि के अंधेरे में शास्त्रों की मशाल के साथ प्रशु में आस्था रखते हुए मार्ग ढूँढ़ना चाहिए। समस्याओं के बिना अवसर भी नहीं मिलते। आइंस्टाइन ने कहा था— कठिनाइयों के मध्य में ही अवसर निहित हैं।

आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोर् अपि दृष्टोऽन्तस्, त्वं अनयोस् तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् वस्तु का भाव नहीं होता है और सत् का अभाव नहीं होता है। तत्त्वदर्शी मनुष्य (असत् और सत्) दोनों को तत्त्व से जानते हैं। (२.१६)

परम सत् सर्वत्र और सब कालों—भूत, वर्तमान और भविष्य—में विद्यमान है। असत् कल्पना है, उसकी जो कहीं है ही नहीं—खरगोश के सींग या मुगमरीचिका के जल की तरह। जिसका आदि है, अन्त है, वह न सत् है न असत्। वह मिथ्या है। मानव-शरीर (तथा जगत्) सत् है न असत् तथा सत् और असत् दोनों हैं, क्योंकि उसका अस्तित्व अस्थायी है। मिथ्या वह है, जो प्रथम दृष्टि में सत् का आभास देती है, पर वास्तव में असत् है। मानव-शरीर और जगत् दोनों ही मिथ्या कहे गए हैं। इस श्लोक में असत् शब्द का प्रयोग मिथ्या के अर्थ में किया गया है।

हमारा भौतिक शरीर जन्म, विकास, प्रौढ़ता, पुनरुत्पत्ति, क्षय और मृत्यु के अधीन है, जबकि आत्मा शाश्वत, अविनाशी, शुद्ध, अप्रतिम, सर्वज्ञ, अपरिवर्तनीय, स्वयं-प्रभासित, सब कारणों का कारण, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, अप्रभावित, अवध्य और अनिर्वचनीय है।

अविनाशी तु तद् विदिधि, येन सर्वम् इदं तत्त्वम् ।

विनाशम् अव्ययस्यास्य, न कश्चित् कर्तुम् अर्हति ॥१७॥

उस अविनाशी तत्त्व को जानो, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, इस अविनाशी का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। (२.१७)

अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद् युध्यस्य भारत ॥१८॥

इस अविनाशी, असीम और नित्य जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं; इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तुम युद्ध करो। (२.१८)

य एनं वेति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो, नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्मा को मारनेवाला या मरनेवाला मानते हैं, वे दोनों ही नासमझ हैं, क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जा सकता है। (कठ.३. २.१९ में एक समानान्तर श्लोक है।) (२.१९)

न जायते प्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

आत्मा कभी न जन्म लेता है और न मरता ही है। आत्मा का होना फिर न होना नहीं होता है। आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता। (कठ.३. २.१८ भी देखें।) (२.२०)

वेदाविनाशिनं नित्यं, य एनम् अजम् अव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ, कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ, जो मनुष्य आत्मा को अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मरवायेगा और कैसे किसको मारेगा? (२.२१)

मृत्यु, और जीवात्मा का पुनर्जन्म

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृहणाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य्
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीव मृत्यु के बाद अपने पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर प्राप्त करता है. (२.२२)

जैसे इल्ली एक वस्तु को छोड़ने से पहले दूसरे पदार्थ का अधिग्रहण कर लेता है, वैसे ही जीव पुराने शरीर को छोड़ने से पहले (या बाद में) नया शरीर प्राप्त कर लेता है (बृह.उ. ४.०८.०३). भौतिक शरीर की तुलना एक पिंजरे, वाहन, आवास तथा सूक्ष्म शरीर के वसन से भी की गई है जिसे बार-बार बदलने की आवश्यकता होती है। मृत्यु भौतिक शरीर से सूक्ष्म शरीर का वियोग है, अलग होना है। जीवात्मा एक यात्री है। मृत्यु जीवात्मा की यात्रा का अन्त नहीं है। मृत्यु उस विश्राम-स्थल की तरह है, जहां जीवात्मा वाहन बदलता है और फिर यात्रा जारी रहती है। जीवन अनवरत और अनन्त है। अवश्यम्यावी मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। वह केवल विनाशशील भौतिक शरीर का अन्त है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मास्तः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयम् अदाद्योऽयम्, अक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुर्, अचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

शस्त्र इस आत्मा को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती; क्योंकि आत्मा अछेद्य, अदाद्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है. (२.२३-२४)

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम्, अविकार्योऽयम् उच्यते ।

तस्माद् एवं विदित्वैनं, नानुशोचितुम् अर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार कहा जाता है। अतः आत्मा को ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२५)

अथ चैनं नित्यजातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो, नैवं शोचितुम् अर्हसि ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्, ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्माद् अपरिहार्योऽर्थे, न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥२७॥

हे महाबाहो, यदि तुम शरीर में रहनेवाले जीवात्मा को नित्य पैदा होनेवाला तथा परनेवाला भी मानो, तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि जन्म लेनेवाले की मृत्यु निश्चित है और मरनेवाले का जन्म निश्चित है। अतः जो अटल है, उसके विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२६-२७)

मृत्यु की निश्चितता से किसी भी जीव की अनावश्यक हत्या, अन्याय-भरे युद्ध, यहाँ तक कि आत्महत्या का औचित्य भी सिद्ध नहीं होता या किया जा सकता है।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्यव, तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे अर्जुन, सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मृत्यु के बाद फिर अप्रकट हो जाएंगे, केवल (जन्म और मृत्यु के) बीच में प्रकट दीखते हैं; फिर इसमें शोक करने की क्या बात है? (२.२८)

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्

आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनम् अन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, कोई इसका आश्चर्य की तरह वर्णन करता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई इसके बारे में सुनकर भी नहीं समझ पाता है। (कठ.उ. २.०७ भी देखें.) (२.२९)

देही नित्यम् अवध्योऽयं, देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि, न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन, सबके शरीर में रहनेवाला यह आत्मा सदा अवध्य है, इसलिए किसी भी प्राणी के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। (२.३०)

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उसके कर्तव्यों का स्मरण कराना

स्वर्धमम् अपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुम् अर्हसि ।

धर्मादिधि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्, क्षत्रियस्य न विघ्नते ॥३१॥

और अपने स्वर्धम की दृष्टि से भी तुम्हें अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्म नहीं है। (२.३१)

यदृच्छ्या चोपत्रं, स्वर्गद्वारम् अपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ, लभन्ते युद्धम् ईदृशम् ॥३२॥

हे पृथगनन्दन, अपने आप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्ग के खुले हुए द्वार जैसा है, जो सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है। (२.३२)

धर्मयुद्ध अन्य धर्मों के अनुयायियों के विरुद्ध किया गया युद्ध नहीं है। न्यायसंगत धर्मयुद्ध अपने दुष्कर्म करनेवाले स्वजनों के विरुद्ध भी लड़ा जा सकता है (ऋ.वे. ६.७५-९६). जीवन अच्छाई और बुराई की शक्तियों के मध्य एक निरंतर संग्राम है। एक शुरवीर व्यक्ति को—योद्धा की वीर-भावना से—विजय की इच्छाशक्ति और दृढ़निश्चय के साथ बुराइयों की शक्तियों और कठिनाइयों से बिना समझौता किए, युद्ध करना चाहिए। नैतिकता के प्रति निष्ठा रखनेवाले साहसी शूरवीरों की प्रश्ना सहायता करते हैं। धर्म उनकी रक्षा करता है, जो धर्म की रक्षा करते हैं।

साधारण, पर अनिवार्य, मृत्यु की अपेक्षा किसी न्यायसंगत धर्ये के लिए बलिदान का गौरव प्राप्त करते हुए मरना श्रेयस्कर है। स्वर्ग के द्वार उनके लिए पूर्णतः खुले हैं, जो न्याय

और धर्म की रक्षा में तत्पर रहते हैं। अन्याय अथवा दुष्कर्म का विरोध न करना परोक्षतः उसे समर्थन देना ही है। अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं।

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं, संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्ति च, हित्वा पापम् अवाप्यसि ॥३३॥

और यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे, तब अपने स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगे। (२.३३)

अकीर्तिं चापि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्, मरणाद् अतिरिच्छते ॥३४॥

तथा सब लोग बहुत दिनों तक तुम्हारी अपकीर्ति की चर्चा करेंगे। सम्मानित व्यक्ति के लिए अपमान मृत्यु से भी बढ़कर है। (२.३४)

भयाद् रणाद् उपरतं, मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बुहमतो, भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

महारथी लोग तुम्हें डरकर युद्ध से भागा हुआ मानेंगे और जिनके लिए तुम बहुत माननीय हो, उनकी दृष्टि से तुम नीचे गिर जाओगे। (२.३५)

अवाच्यवादांश्च बहून्, वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस् तव सामर्थ्यं, ततो दुःखतरं तु किम् ॥३६॥

तुम्हारे वैरी लोग तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुम्हारी बहुत बुराई करेंगे। तुम्हारे लिए इससे अधिक दुःखदायी और क्या होगा? (२.३६)

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

युद्ध में मरकर तुम स्वर्ग जाओगे या विजयी होकर पृथ्वी का राज्य भोगोगे; इसलिए, हे कौन्तेय, तुम युद्ध के लिए निश्चय करके खड़े हो जाओ। (२.३७)

सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पापम् अवाप्यसि ॥३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीत-हार की चिन्ता न करके मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिए। ऐसे भाव से कर्म करने पर मनुष्य को पाप (अर्थात् कर्म का बन्धन) नहीं लगता। (२.३८)

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो भी प्राप्त हो जाय, उसका हृदय से स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे (म.भा. ७२. १७४.३६)। दो ही प्रकार के व्यक्ति संसार में सुखी रहते हैं— एक वे जो पूर्णतः अनशिङ्ग हैं, दूसरे वे जो पूर्ण ज्ञानी हैं। शेष सब दुःखी हैं (म.भा. ७२. १७४.३३)।

कर्मयोग, अर्थात् निष्काम कर्म का महत्व

एषा तेऽपिहिता सांख्ये, बुद्धिर् योगे त्वं इमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ, कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ, मैंने सांख्यमत का यह ज्ञान तुम से कहा, अब कर्मयोग का विषय सुनो, जिस ज्ञान से युक्त होकर तुम कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। (२.३९)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विघ्नते ।

स्वल्पम् अप्य् अस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश ही नहीं होता तथा उल्टा फल भी नहीं मिलता है। इस निष्काम कर्मयोगरूपी धर्म का थोड़ा-सा अभ्यास भी (जन्म-मरणरूपी) महान् भय से रक्षा करता है। (२.४०)

कर्मयोग को निष्काम कर्मयोग, सेवा, निःस्वार्थ सेवा, त्याग, यज्ञ, धृतियोग और कर्मविज्ञान भी कहा गया है। कर्मयोगी किसी निजी कर्मफल की इच्छा या आसक्ति के बिना कर्तव्य-भाव से प्रभुप्रेम के लिए कर्म करता है और सब भयों से मुक्त हो जाता है। कर्म शब्द का अर्थ कर्तव्य, क्रिया, उद्यम और अतीत के कर्मों के परिणाम भी है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिर्, एकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्य अनन्ताश्च, बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे अर्जुन, कर्मयोगी केवल ईश्वरप्राप्ति का ही दृढ़ निश्चय करता है; परन्तु सकाम मनुष्यों की इच्छाएं अनेक और अनन्त होती हैं। (२.४१)

वेदों का विषय भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के दोनों पहलू हैं

याम् इमां पुष्टिं वाचं, प्रवदन्त्य् अविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ, नान्यद् अस्तीति वादिनः ॥४२॥

हे पार्थ, सकाम अविवेकीजन, जिन्हें वेद की मधुर संगीतमयी वाणी से प्रेम है, (वेद को यथार्थ रूप से नहीं समझने के कारण) ऐसा समझते हैं कि वेद में भोगों के सिवा और कुछ है ही नहीं। (२.४२)

कामात्मानः स्वर्गपरा, जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां, भोगैश्वर्यर्गतिं प्रति ॥४३॥

वे कामनाओं से युक्त, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले, भोग और धन को प्राप्त करानेवाले अनेक धार्मिक संस्कारों को बताते हैं, जो पुनर्जन्मरूपी कर्मफल को देनेवाले होते हैं। (कठ.३. २. ०५, ईशा.३. ०९ भी देखें।) (२.४३)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां, तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः, समाधौ न विधीयते ॥४४॥

भोग और ऐश्वर्य ने जिनका चित्त हर लिया है, ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण में भगवत्प्राप्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता है और वे परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकते हैं। (२.४४)

आत्मबोध का अर्थ है परमप्रभु श्रीकृष्ण भगवान के प्रति अपने सम्बन्धों का ज्ञान तथा प्रभु की अतीद्विद्य प्रकृति का बोध। वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा दिलाइ गई भौतिक लाभों की प्रत्याशा वैसी ही है जैसी किसी मां के द्वारा बच्चे को भौतिक जीवन से अनासक्ति के लिए दी गई औषधि को लेने के लिए प्रेरित करने को मिष्ठान का वायदा करना। अनेक संदर्भों में यह आवश्यक है। समय के अनुसार कर्मकाण्डों में परिवर्तन अनिवार्य है, साथ ही उनका भक्ति और सत्कर्मों द्वारा समर्थित होना भी। लोग किसी भी समय प्रार्थना कर सकते हैं और ध्यानावस्थित हो सकते हैं—बिना किसी कर्मकाण्ड के। आध्यात्मिक जीवन में कर्मकाण्डों का बड़ा योगदान रहा है, किन्तु उनका दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। परमप्रभु श्रीकृष्ण और भगवान बुद्ध दोनों ने ही वैदिक कर्मकाण्डों के दुरुपयोग की भर्त्तना की है, कर्मकाण्डों की नहीं। कर्मकाण्डों से पवित्र और सुखद वातावरण पैदा होता है। कर्मकाण्ड देवयान माने जाते हैं

(क्र.वे. १०.६३.१०) और उनकी आलोचना शक्तिहीन जलयान कहकर भी की गई है (मु.ज. १.२.०७).

त्रैगुण्यविषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन, वेदों (के कर्मकाण्ड) का विषय प्रकृति के तीन गुणों से सम्बन्धित है; तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, परमात्मा में स्थित, योगक्षेम न चाहनेवाले और आत्मपरायण बनो. (२.४५)

गुण का अर्थ है— शुचिता, विशेषता, स्वधर्म, स्थिति, भौतिक लक्षण; तथा मन, पदार्थ और प्रकृति की शक्ति. भौतिक प्रकृति के त्रिगुणों (सत्तोगुण, रजोगुण और तमोगुण) के विस्तार-व्याख्या के लिए चौदहवें अध्याय को देखें.

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान् सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

ब्रह्म को तत्त्वतः जाननेवालों के लिए वेदों की उतनी ही आवश्यकता रहती है, जितनी महान् सरोवर के प्राप्त होनेपर एक छोटे जलाशय की. (२.४६)

धर्मग्रन्थ एक सीमित सरोवर की तरह है, जो अपना जल सत्य के अनन्त महासागर से ग्रहण करते हैं. अतः धर्मग्रन्थ बोधि प्राप्ति के बाद ही अनावश्यक हो जाते हैं, क्योंकि अनन्त जलप्रवाह से धिरे होने पर जलाशय की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती. जिसने परम प्रभु को जान लिया है, वह वैदिक कर्मकाण्डों के फलस्वरूप मिलनेवाले स्वर्ग आदि की इच्छा नहीं करेगा. वेदादि धर्मग्रन्थ आवश्यक माध्यम हैं, ध्येय नहीं. धर्मग्रन्थ आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए हमारे पथदर्शक हैं और लक्ष्य की प्राप्ति पर उनकी उपयोगिता पूरी हो जाती है.

कर्मयोग का सिद्धान्त और व्यवहार

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर् भूर्, मा ते सङ्गोऽस्त्व् अकर्मणि ॥४७॥

केवल कर्म करना ही मनुष्य के बश में है, कर्मफल नहीं. इसलिए तुम कर्मफल की आसक्ति में न फंसो तथा अपने कर्म का त्याग भी न करो. (२.४७)

अधिकार शब्द का अर्थ है— योग्यता, सामर्थ्य, अर्हता, शक्ति, सौभाग्य, सुविधा, अधिकृत क्षेत्र, प्राथमिकता, विकल्प, न्यायसंगत दावा, सत्ता, नियंत्रण आदि. जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण का विकास तभी होता है, जब हम यह समझ लेते हैं कि समस्त क्रिया-कलाप में अपने श्रेष्ठतम प्रयास को लगाने की क्षमता तो हम रखते हैं, किन्तु अपने कामों के परिणाम हम नहीं चुन सकते. परिणामों के निर्णय करनेवाले तत्त्वों पर हमारा कोई भी नियंत्रण नहीं है. यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कामों के परिणामों के चयन की शक्ति दी जाती, या उनकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति की क्षमता उन्हें मिल जाती, तो संसार का कारोबार न चलता. हर व्यक्ति को जीवन में अपना कर्तव्य-विशेष करने की शक्ति और क्षमता दी गई है, पर अपेक्षित परिणामों को चुनने के लिए कोई स्वतंत्र नहीं है. सफलता या अच्छे परिणाम की अपेक्षा किए बिना कर्म करने का कोई अर्थ ही नहीं है, किन्तु किसी भी योजना में अपेक्षित के लिए पूर्णतः तैयार रहना भी उस योजना का महत्त्वपूर्ण अंग होना चाहिए. स्वामी कर्मनन्द का कथन है— कर्मयोग का सार है केवल स्त्रा की खुशी के लिए काम करना, सब कर्मों के फल की इच्छा को मन से हटा देना और परिणामों को प्रभु पर छोड़ देना. अपने कर्म के फलों का व्यक्तिगत

भोग करने का चिन्तन किए बिना प्रभु के निजी सेवक के रूप में अपनी अधिकतम क्षमता के अनुसार अपना कर्तव्य करते रहो।

सफलता में सबसे बड़ी बाधा है कर्मफल के प्रति भावनात्मक रूप से लिप्त होने के कारण असफलता का भय; व्याख्या के इस भय के कारण मन की स्थिरता के सतत भंग होने से कार्यक्षमता का क्षय होता है। अतः कर्तव्य को अनासक्तासाक्षित के साथ करना चाहिए। परिणाम की चिन्ता किए बिना कठिन परिश्रम करने से किसी भी काम में सफलता मिलना सुगम हो जाता है। काम तभी अधिक क्षमता से किया जाता है, जब मन—चेतन या अवचेतन अवस्था में—कर्म के अच्छे या बुरे परिणाम की चिन्ता में सतत रत नहीं होता। इस तथ्य की खोज जीवन में व्यक्ति को स्वयं करनी पड़ती है। व्यक्ति को केवल अपने या कुछ लोगों के लिए ही काम न कर मानवता की सहायता के महान् ध्येय को ध्यान में रखकर, बिना स्वयं के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के, कर्तव्यभाव से कार्यरत होना चाहिए। स्थितप्रज्ञता और आध्यात्मिक प्रगति निःस्वार्थ सेवा में निहित है, जबकि स्वार्थभावना से किया गया काम कर्म के बन्धन और निराशा को जन्म देता है। महत्तर उद्देश्य के लिए निष्ठापूर्वक की गई निःस्वार्थ सेवा इहलेक तथा परलोक में शाश्वत शान्ति और सुख की ओर ले जाती है।

व्यक्ति के अधिकार की सीमा कर्तव्य करने के बाद ही समाप्त हो जाती है, वह कभी भी फल के उपवन में प्रवेश नहीं करती। शिकारी का नियंत्रण मात्र बाण पर है, शिकार पर कभी भी नहीं। जब व्यक्ति के मन में विजय के सुख की कामना नहीं होती, तब वह पराजय के दुःख से भी प्रभावित नहीं होता। कर्मयोगी के लिए सफलता के हर्ष या असफलता के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता, व्याख्या के वह कर्मफल के सुख भोगने की प्रतीक्षा किए बिना सेवापथ पर अग्रसर रहता है। उसे सेवा-सुख का आनन्द उठाना आता है। अज्ञान-जनित, अत्यन्त सीमित, व्यक्तिगत लाभ की अदूरदर्शिता समाज और विश्व में सब बुराइयों का मूल है। धर्मरूपी पक्षी व्यक्तिगत लाभ के पिंजड़े में बन्द नहीं रखा जा सकता। धर्म और स्वार्थ का एकसाथ रहना सभव नहीं है। जहां स्वार्थ है, वहां धर्म नहीं और जहां धर्म है, वहां स्वार्थ नहीं रह सकता।

फल की कामना व्यक्ति को पाप की अंधेरी गली में ले जाती है और उसके सही विकास को रोकती है। मात्र अपने स्वार्थ के लिए कार्य करना पापपूर्ण है। व्यक्ति का कल्याण समाज के कल्याण में निहित है। सुधीजन पूरे समाज के लिए काम करते हैं, जबकि अज्ञानी मात्र अपने लिए। तत्त्वज्ञानी व्यक्तिगत लाभ की परछाई अपने कर्तव्य के मार्ग पर कभी नहीं पड़ने देता।

योगस्थः कुरु कर्मणि, सद्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय, परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में स्थित होकर, सभी प्रकार की आसक्तियों को त्यागकर, तथा सफलता और असफलता में सम होकर, अपने कर्तव्यकर्मों का भलीभांति पालन करो। मन का समत्व-भाव में रहना ही योग कहलाता है। (२.४८)

सुख और दुःख, जन्म और मृत्यु, लाभ और हानि, मिलन और वियोग कर्म के अधीन होने से दिन और रात के आगमन की भाँति अवश्यम्भावी हैं। मूर्ख समृद्धि में आनन्दित होते हैं और दुर्भाग्य पर शोक करते हैं, किन्तु कर्मयोगी सब परिस्थितियों में समान, अर्थात् स्थितप्रज्ञ, रहता है (तु.रा. १४६.०३-०४)। योग को निम्न श्लोकों में भी परिभ्राष्टित किया गया है— २.४८, २.५०, २.५३, ६.०३, ६.०४, ६.०८, ६.१६, ६.२३, ६.३१, ६.३२ और ६.४७।

द्वरेण ह्यवरं कर्म, बुद्धियोगाद् धनंजय ।

बुद्धौ शरणम् अच्चिष्ठ, कृपणः फलहेतवः ॥४९॥

कर्मयोग से सकामकर्म अत्यन्त निकृष्ट है; अतः हे अर्जुन, तुम कर्मयोगी बनो, क्योंकि फल की इच्छा रखनेवालों को (असफलता का भय तथा) दुःख होता है। (२.४९)

बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद् योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मफल की आसक्ति त्यागकर कर्म करनेवाला निष्काम कर्मयोगी इसी जीवन में पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, इसलिए तुम निष्काम कर्मयोगी बनो। (फल की आसक्ति से असफलता का भय होता है, जिसके कारण कर्म अच्छी तरह नहीं हो पाता है।) निष्काम कर्मयोग को ही कुशलतापूर्वक कर्म करना कहते हैं। (२.५०)

शान्ति, कर्मबन्धन से मुक्ति और आत्मसंतोष उन्हीं के लिए है, जो अनासक्त-भाव से किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए कर्म करते हैं और व्यक्तिगत लाभ या सम्मान की खोज में नहीं हैं। ऐसे व्यक्ति निःस्वार्थ सेवा की सुखानुभूति पाते हैं, जो अन्त में उन्हें मुक्ति दिलाती है। कर्मयोग मन और बुद्धि को पावन बनाता है और यह बड़ी शक्तिशाली साधना है। सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। गुण और दोष के फल केवल स्वार्थ के पेड़ पर ही फलते हैं, सेवा-वृक्ष पर कभी नहीं।

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि व्यक्ति तभी कठिन परिश्रम से काम करता है, जब कर्मफल के प्रति उसकी गहरी रुचि या आसक्ति होती है। अतः कर्मयोग या निःस्वार्थ सेवा व्यक्ति या समाज की भौतिक उन्नति के लिए शायद बहुत प्रेरणादायक नहीं हो सकता। यह दुविधा अपनी इच्छा के किसी श्रेष्ठ ध्येय के लिए निःस्वार्थ सेवा की अभिलिचि पैदा कर दूर की जा सकती है। फल के लोभ से कभी भी कर्म की पवित्रता को मलिन नहीं होने देना चाहिए। कमल की कुशलता है जल में रहते हुए भी जल से नहीं भीगने में; कार्य की कुशलता है कर्म करते हुए कर्मबन्धन से नहीं बंधने में।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदं गच्छन्त्य् अनामयम् ॥५१॥

ज्ञानी कर्मयोगीजन कर्मफल की आसक्ति को त्यागने के कारण जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं तथा परम शान्ति को प्राप्त करते हैं। (२.५१)

यदा ते मोहकलिङ्गं, बुद्धिर व्यतिरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं, श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल को पार कर जाएगी, उस समय तुम शास्त्र से सुने हुए तथा सुनने योग्य वस्तुओं से भी वैराग्य प्राप्त करोगे। (२.५२)

ज्ञान की प्राप्ति के बाद धर्मग्रन्थ अनावश्यक हो जाते हैं। शंकराचार्य के अनुसार इस श्लोक का अर्थ है कि जिस व्यक्ति ने अज्ञान के पर्दे को छिन्न-भिन्न कर दिया है और सत्य को पा लिया है, वह वैदिक ग्रन्थों के प्रति—जो वांछित फलों की प्राप्ति के लिए कर्मकाण्डों का विस्तृत विद्यान प्रतिपादित करते हैं—उदासीन हो जाता है।

श्रुतिविप्रतिपत्ना ते, यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्, तदा योगम् अवाप्यासि ॥५३॥

जब अनेक प्रकार के प्रवचनों को सुनने से विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में निश्चल रूप से स्थिर हो जायगी, उस समय तुम समाधि में परमात्मा से युक्त हो जाओगे। (२.५३)

धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का अध्ययन या विभिन्न दार्शनिक रचनाओं का पठन निश्चय ही श्रान्ति को जन्म देता है। श्री रामकृष्णने कहा है कि व्यक्ति को धर्मग्रन्थों से यही सीखना चाहिए कि केवल ईश्वर ही सत्य है, यथार्थ है और विश्व मायामय है। नौसिखिया को जानना चाहिए कि केवल ईश्वर ही शश्वत सत् है, शेष सब कुछ मिथ्या है। आत्मज्ञान के बाद व्यक्ति जान लेता है कि ईश्वर ही सब कुछ बन गया है। सब कुछ उसी का प्रकटीकरण है। अन्य रूपों में यह सब उसी की लीला है। समाधि में विभिन्न विरोधी विचारों से उत्पन्न श्रान्ति मिट जाती है और संतुलन मिल जाता है।

विभिन्न विचारधाराएं, मतमतान्तर, दर्शन, पूजाविधान और वैदिक संस्कृति में प्रचलित आध्यात्मिक रीतिरिवाज योग की सीढ़ी के विभिन्न सोपान हैं। साधनों के इतने विकल्प किसी और धर्म, पर्याय, पदधारि या मार्ग में नहीं मिलते। विकास की स्थितियों की विभिन्नता के कारण लोगों की वृत्तियां अलग-अलग हैं। अतः भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न विचारधाराएं अनिवार्य हैं तथा विकास के सोपान पर चढ़नेवाले व्यक्ति के लिए भी वे जल्दी हैं। सीढ़ी का उच्चतम सोपान है शंकराचार्य का अद्वैतवाद, जो अधिकतर लोगों की समझ से बाहर है। सब विचारधाराएं और मतमतान्तर आवश्यक हैं। उनसे व्यक्ति को श्रमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि श्रान्ति पैदा करना उनका मन्तव्य नहीं है; किन्तु उनमें से किसी एक का बुद्धिपूर्वक चयन करना आवश्यक है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत, किम् आसीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले— हे केशव, समाधिप्राप्त, स्थिर बुद्धिवाले अर्थात् स्थितप्रज्ञ मनुष्य का क्या लक्षण है? स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है। (२.५४)

आत्मज्ञानी के लक्षण

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् , सर्वान् पार्थं मनोगतान् ।

आत्मन्येव् आत्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञस् तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान बोले— हे पार्थ, जिस समय साधक अपने मन की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्णरूप से त्याग देता है और आत्मा में आत्मानन्द से ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। (२.५५)

शरदा माँ के अनुसार ज्ञान, भक्ति और मुक्ति की कामनाओं को कामनाओं की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ये उच्चतर कामनाएं हैं। पहले व्यक्ति को क्षुद्र कामनाओं की जगह उच्चतर कामनाएं ग्रहण करनी चाहिए, फिर उच्चतम कामना का भी परित्याग करके पूर्णतः मुक्त हो जाना चाहिए।

दुर्खेष्व अनुद्विन्मना, सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभ्यक्रोधः, स्थितधीर् मुनिर उच्यते ॥५६॥

दुःख से जिसका मन उद्धिन नहीं होता, सुख की जिसकी आकांक्षा नहीं होती तथा जिसके मन से राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। (२.५६)

व्यक्तियों, स्थानों और पदार्थों का मोह बुद्धि को हर लेता है और व्यक्ति को अद्वारदरशी बना देता है। लोग मोह के बन्धन में बुरी तरह जकड़े हुए हैं। ज्ञान के द्वारा इस बन्धन को काटकर व्यक्ति को अनासक्त और मुक्त होना सीखना पड़ता है।

यः सर्वत्रानभिस्त्वेहस्, तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जिसे किसी भी वस्तु में आसक्ति न हो, जो शुभ को प्राप्तकर प्रसन्न न हो और अशुभ से द्वेष न करे, उसकी बुद्धि स्थिर है। (२.५७)

यदा संहरते चायं, कूर्मोऽद्वानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जब साधक सब ओर से अपनी इन्द्रियों को विषयों से इस तरह हटा ले जैसे कछुआ (विपत्ति के समय अपनी रक्षा के लिए) अपने अंगों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिए। (२.५८)

जब व्यक्ति लुभानेवाले पदार्थों से इन्द्रियों को वैसे ही हटाना सीख लेता है —जैसे संकटकाल में कछुआ अपने खोल के भीतर अपने अवयवों को समेट लेता है और संकट टल जाने तक उसे उन अवयवों को बाहर निकालने को कोई बाध्य नहीं कर सकता—तब ज्ञान-दीप प्रज्वलित हो उठता है और व्यक्ति को अपने भीतर स्वयं प्रभासित परमात्मा की प्रतीति होती है (भ. भा. १२. ७७४. ५७)।

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्ज रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

इन्द्रियों को विषयों से हटानेवाले मनुष्य से विषयों की इच्छा तो हट भी जाती है, परन्तु विषयों की आसक्ति दूर नहीं होती। परमात्मा के स्वरूप को भलीभांति समझकर स्थितप्रज्ञ मनुष्य (विषयों की) आसक्ति से भी दूर हो जाता है। (२.५९)

ऐन्द्रिय भोग का त्याग करने से अथवा बीमारी या वृद्धावस्था के कारण शारीरिक शक्तियों के क्षीण होने से ऐन्द्रिय सुख की ललसा भी लुप्तप्राप्य हो जाती है, किन्तु राग-वासना नहीं मरते। जिन्होंने परमप्रभु के ऐकात्म्य का अमृत पी लिया होता है, उन्हें फिर कभी निम्न कोटि के ऐन्द्रिय भोग में सुख नहीं मिलता।

अनियन्त्रित इन्द्रियों के दुष्परिणाम

यततो ह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसर्भं मनः ॥६०॥

हे कुन्तीनन्दन, संयम का प्रयत्न करते हुए ज्ञानी मनुष्य के मन को भी चंचल इन्द्रियां बलपूर्वक हर लेती हैं। (२.६०)

मन का कभी भरोसा नहीं किया जा सकता। सुधीजन सदा मन के प्रति सजग रहते हैं। आत्मज्ञानी व्यक्ति को भी मन भटका सकता है (भा.पु. ५.०६.०२-०५)। मन की प्रक्रियाओं का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हुए मनके प्रति निरन्तर सजग रहना चाहिए। सजगता में तब तक तनिक भी असावधानी नहीं होनी चाहिए, जब तक श्रीकृष्ण को सर्वसम्पन्न परमप्रभु के रूप में जानने का ध्येय पूरा न हो जाए। शारदा माँ का कथन है— जिस प्रकार जल की

प्रकृति नीचे की ओर बहने की है, उसी प्रकार मन का स्वभाव ही शोग के निम्न पदार्थों की ओर जाने का है। प्रशु की कृपा मन को उच्च ध्येयों की ओर ले जा सकती है, जेसे सूर्य की किरणें जल को ऊपर उठाने में समर्थ हैं।

मन हमेशा धोखा देने और चाल खेलने को तत्पर रहता है। अतः अनुशासन, सतर्कता और साधना की सतत जरूरत है। मन उस बेलगाम धोड़े की तरह है जिसे सधाने की आवश्यकता है। मन को कभी भी ऐन्ड्रिय शोग के क्षेत्र में खुले भटकने नहीं देना चाहिए। आध्यात्मिक-साधना का मार्ग बहुत फिसलन भरा है और पतन से बचने के लिए उसपर बहुत साधानी से चलना चाहिए। यह आनन्द के लिए किए गए नौका-विहार की तरह न होकर तेज धारवाली तलवार पर चलने-जैसा अत्यन्त कठिन है। इस मार्ग पर बहुत बाधाएं और भटकनें आती रहती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य, युक्त आसीत मत्परः ।

वशो हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिए साधक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके मुझमें श्रद्धापूर्वक ध्यान लगाकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। (२.६१)

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्य तेषूपजायते ।

सङ्गात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिन्तन करने से विषयों में आसक्ति होती है, आसक्ति से (विषयों के सेवन करने की) इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा (पूरी नहीं होने) से क्रोध होता है। (२.६२)

क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविश्रमः ।

स्मृतिप्रशंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है। सम्मोह से मन भ्रष्ट हो जाता है। मन भ्रष्ट होने पर बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पतन होता है। (२.६३)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयान् इन्द्रियैश्वरन् ।

आत्मवश्यैर् विधेयात्मा, प्रसादम् अधिगच्छति ॥६४॥

रागद्वेष से रहित संयमी साधक अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ शान्ति प्राप्त करता है। (२.६४)

प्रसादे सर्वदुःखानां, हानिर् अस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

शान्ति से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है और शान्तचित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होकर परमात्मा से युक्त हो जाती है। (२.६५)

नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिर्, अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

(ईश्वर से) अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में न ईश्वर का ज्ञान होता है, न ईश्वर की भावना ही। भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त मनुष्य को सुख कहां? (२.६६)

इन्द्रियाणां हि चरतां, यन् मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर् नावम् इवाप्पसि ॥६७॥

जैसे जल में तैरती नाव को तुकान उसके लक्ष्य से दूर ढकेल देता है, वैसे ही इन्द्रिय-सुख मनुष्य की बुद्धि को गलत रास्ते की ओर ले जाता है। (२.६७)

दीपशिखा के प्रकाश के भोग के आनन्द का लोभ पतंगों को विनाश की ओर ले जाता है। इसी प्रकार ऐन्द्रिय सुखों के भोग की लालसा व्यक्ति को आत्मज्ञान से दूर रखती है और आवागमन के जाल की ओर ले जाती है (म.भा. ३.०२.६६)

तस्माद् यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए, हे अर्जुन, जिसकी इन्द्रियां सर्वथा विषयों के वश में नहीं होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। (२.६८)

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

एक संयमी योगी, जो सत की खोज में है, और साधारण व्यक्ति के जीवन में दिन-रात का फर्क होता है। योगी ईच्छाओं से विमुक्त रहता है, जब अन्य सभी भोग-विलास में लगे रहते हैं। (२.६९)

योगी जीवन की सांसारिक रात्रि में जाग्रत् या अनासक्त रहते हैं, क्योंकि वे परम सत्य की खोज में हैं। जो व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं से मुक्त होता है, वह जाग्रत् अर्थात् प्रबुद्ध समझा जाता है (त्रु.रा. २.६२.०२). योगी को आत्मा की सतत प्रतीति रहती है, जिसके बारे में अन्य लोग अनभिज्ञ रहते हैं। सन्त, जो परम सत्य को जानता है, ऐन्द्रिय भोग-पदार्थों से—जिसकी प्रतीति अन्य लोगों को रहती है—अनभिज्ञ रहता है। भौतिकवादी व्यक्ति से योगी का जीवन सर्वथा भिन्न होता है। जहां अधिकतर व्यक्ति मायावी संसार की रात्रि में सोए, सपनों की योजनाएँ रचते रहते हैं, वहां योगी जाग्रत् रहता है, क्योंकि वह संसार में रहते हुए भी उससे अनासक्त रहता है।

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं

समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे सभी नदियों के जल समुद्र को विचलित किए बिना परिपूर्ण समुद्र में समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस संयमी मनुष्य में विकार उत्पन्न किए बिना समा जाते हैं, वह मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है, न कि भोगों की कामना करनेवाला। (२.७०)

जिस प्रकार नदी अपने मार्ग में आए लकड़ी आदि पदार्थों को बहाकर ले जाती है, उसी प्रकार कामनाओं की सरिता की प्रचण्ड धारा भी भौतिकवादी व्यक्ति के मन को बहा ले जाती है। योगी का मन उस प्रशान्त महासागर की तरह है, जिसमें कामनाओं की सरिताएं बिना उसे आन्दोलित किए समाहित हो जाती हैं। योगी व्यक्तिगत लाभ-हानि के बारे में चिन्तन नहीं करता। मानव कामनाएं अनन्त हैं। कामना का तुष्टीकरण खारा जल पीने के समान है, उससे प्यास बुझती नहीं और बढ़ जाती है। कामनाओं की पूर्ति का प्रयास पेट्रोल द्वारा आग बुझाने-जैसा है।

भौतिक कामना की पूर्ति का प्रयत्न करना वैसा ही है, जैसा और लकड़ी डालकर आग को बुझाना। लकड़ी न डालने से आग स्वतः ही बुझ जाती है (म.भा. १२.७७.०५). यदि कोई

व्यक्ति महान् शत्रु रूपी इच्छाओं (अर्थात् मन) पर विजय प्राप्त किए बिना मर जाता है, तो विजय होने तक उसे इस शत्रु से लड़ने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है (म. भा. १२.५६.२४). जिस प्रकार व्यक्ति वायु के द्वारा आन्दोलित जल में अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता, उसी प्रकार भौतिक इच्छाओं की आधी से उत्तेजित मन और इन्द्रियों वाला व्यक्ति ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकता (म. भा. १२.२०८.०३).

विहाय कामान् यः सर्वान् , पुमांश्चरति निष्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः, स शान्तिम् अधिगच्छति ॥७१॥

जो मनुष्य सब कामनाओं को त्यागकर इच्छारहित, ममतारहित तथा अहंकाररहित होकर विचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है.

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ, नैनां प्राप्य विमुद्दति ।

स्थित्वाऽस्याम् अन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाणम् क्रच्छति ॥७२॥

हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्य मोहित नहीं होता. अन्तसमय में भी इस निष्ठा में स्थित होकर मनुष्य ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है. (२.७२)

ब्रह्म ही परम तत्त्व है, सत्य है, ज्ञान है, चेतना है, अनन्त है और परम आनन्द है (तैति.उ. २.०९.०१). ब्रह्म को जानने पर जीव आनन्दमय हो जाता है. आनन्द का दाता स्वयमेव आनन्द ही है, जैसे धनदाता धनिक ही है (स्वामी शिवानन्द). ब्रह्म इस सुष्टि के आदि, अस्तित्व और विनाश का स्रोत है (ब्र.सू. १.०९.०२, तैति.उ. ३.०९.०१). ज्ञान ब्रह्म का प्राकृतिक धर्म नहीं, सहज स्वभाव है (देवी.भा. ७.३२.१६). ब्रह्म ही विश्व का उपादान और निमित्त (material and instrumental) दोनों कारण है. वही ऊर्जा का स्रोत भी है और कुण्डली भी. उसे ही संयुक्त-क्षेत्र (Unified Field), परमात्मा, शाश्वत पुरुष, दिव्य पुरुष और सम्पूर्ण चेतना भी कहा गया है; जो बुद्धि और मन के द्वारा सब प्राणियों को बोध प्रदान करता है.

ब्रह्मनिर्वाण (गीता २.७२, ५.२४, ५.२५ और ५.२६), परमनिर्वाण (गीता ६.१५) तथा मुक्ति शब्द से हिन्दू धर्म के अनुसार अभिप्राय है कारण शरीर से वासनाओं के सब चिह्नों का सम्पूर्ण विनाश और जीवात्मा का परमात्मा में एकीकरण. कुछ लोगों का मानना है कि सार्वभौमिक, सार्वकालिक परमात्मा ही कारण शरीर है, जो सब कुछ बला रहा है तथा स्वयं करुणाभाव से अनासक्त और निर्लिप्त रहता है. प्राणियों का आवागमन के चक्कर से छुटकारा पाने को मुक्ति कहते हैं. बौद्धधर्म में निर्वाण तथा हिन्दूधर्म में मोक्ष का अभिप्राय है सांसारिक कामनाओं और अहम् की समाप्ति. मोक्ष की परिभाषा है प्राणी की वह स्थिति, जिसमें समस्त सांसारिक कामनाओं और व्यक्तिगत लघियों तथा अरुचियों का पूर्णतः शमन हो गया है. मोक्ष शरीर-चेतना से निकल कर आत्म-चेतना की स्थिति को प्राप्त करना है, भौतिक शरीर के प्रति मोह का क्षय हो जाना है, कृष्णानन्द में लीन होने की अनुभूति है. मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, ब्रह्मनिर्वाण, परमनिर्वाण आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में किया जाता है.

इस प्रकार सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ तृतीयोऽध्यायः
कर्मयोगः
३. कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसि चेत् कर्मणस् ते, मता बुद्धिर् जनार्दन ।

तत् किं कर्मणि घोरे मां, नियोजयसि केशव ॥१॥

व्यामिश्रेण वाक्येन, बुद्धिं मोहयसीव मे ।

तद् एकं वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहम् आप्नुयाम् ॥२॥

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर, हे केशव, आप मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं? आप मिश्रित वचनों से मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं. अतः आप उस एक बात को निश्चित रूप से कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो. (३.०१-०२)

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान बोले— हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है. जिनकी रुचि ज्ञान में होती है, उनकी निष्ठा ज्ञानयोग से और कर्म में रुचिवालों की निष्ठा कर्मयोग से होती है. (३.०३)

ज्ञानयोग को सांख्ययोग या सांन्यासयोग भी कहा जाता है. ज्ञानयोगी स्वयं को किसी भी कर्म का कर्ता नहीं मानता. ज्ञान का अर्थ है तात्त्विक अतीन्द्रिय ज्ञान. यहां यह भी बताना जरूरी है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही परमात्मा की उपलब्धि के साधन हैं. जीवन में इन दोनों मार्गों का समन्वय श्रेष्ठ माना जाता है. हमें आत्मज्ञान की साधना और निःस्वार्थ सेवा दोनों को अपने जीवन का अंग बनाना चाहिए.

न कर्मणाम् अनारम्भान्, नैष्कर्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनाद् एव, सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

मनुष्य कर्म का त्यागकर कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं होता. कर्म के त्याग मात्र से ही सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती. (३.०४)

न हि कश्चित् क्षणमपि, जातु तिष्ठत्य् अकर्मकृत् ।

कार्यते ह्य अवशः कर्म, सर्वः प्रकृतिजैर् गुणः ॥५॥

कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुणों द्वारा मनुष्यों से परवश की तरह सभी कर्म करवा लिए जाते हैं. (३.०५)

विचार, शब्द और क्रिया से प्रसूत कर्म का पूर्ण त्याग किसी के लिए भी सम्भव नहीं है. अतः व्यक्ति को हमेशा अपनी रुचि के साधनों से प्रभुसेवा में सक्रिय रहना चाहिए, क्योंकि खाली दिमाग शैतान का घर है. आकांक्षाविहीन मनःस्थिति के साथ आमरण कर्म करते रहना कर्मत्याग तथा प्रभुप्राप्ति के बाद बिताए तापस जीवन, दोनों से श्रेयस्कर है, क्योंकि तापस भी कर्म के आवेद से मुक्त नहीं हो पाता.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमुदात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य इन्द्रियों को (प्रदर्शन के लिए) रोककर मन द्वारा विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है। (३.०६)

दूसरों की सेवा क्यों?

यस त्वं इन्द्रियाणि मनसा, नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम्, असक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य बुद्धि द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त होकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्काम कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। (३.०७)

नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्य अकर्मणः ।

शरीरस्यात्रापि च ते, न प्रसिद्धेद् अकर्मणः ॥८॥

तुम अपने कर्तव्य का पालन करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं होगा।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय, मुक्तसद्गः समाचर ॥९॥

केवल अपने लिए कर्म करने से मनुष्य कर्मबन्धन से बंध जाता है; इसलिए हे अर्जुन, कर्मफल की आसक्ति त्यागकर (सेवाभाव से भलीभांति) उस परमात्मा के लिये अपने कर्तव्यकर्म का पालन करो। (३.०९)

यज्ञ का अर्थ है त्याग, निःस्वार्थ सेवा, निष्काम कर्म, पुण्य कार्य, साधना, दान, देवों के लिए दी गई हवि—हवन के माध्यम से—के साथ की गई पुजा आदि।

पारस्परिक सहयोग विधाता का पहला निर्देश

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्म्, एष वोऽस्त्व इष्टकामधुक् ॥१०॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यज्ञ (अर्थात् निःस्वार्थ सेवा) के साथ प्रजा का निर्माण कर कहा—“इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम लोगों को इष्टफल देनेवाला हो。” (३.१०)

देवान् भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परम् अवाप्यथ ॥११॥

तुम लोग जन-सेवा यज्ञ के द्वारा देवताओं की सहायता करो और देवगण तुम लोगों की सहायता करें। इस प्रकार एक दूसरे की सहायता करते हुए तुम परम कल्याण (मुक्ति) को प्राप्त होगे। (३.११)

देव का अर्थ है परमप्रयु का प्रतिनिधि, अल्लौकिक शासक, दिव्य पुरुष, वह शक्ति, जो इच्छाओं की पूर्ति करता है, जो नियन्ता और रक्षक है। सुधीजन अपना जीवन दूसरों की सेवा करके सफल बनाते हैं, जबकि मुख्य लोग दूसरों को हानि पहुंचाकर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अकेले प्रवेश करने की इच्छा रखनेवालों के लिए स्वर्ग के द्वार भी बन्द रहेंगे। वेदों के अनुसार दूसरों की सहायता करना व्यक्ति के लिए श्रेष्ठतम पुण्य कर्म है। “एक दूसरे की

सेवा करना” सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का प्रथम आदेश है, जिसे भगवान् कृष्ण ने गीता में पूर्ण रूप से बताया है।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर् दत्तान् अप्रदायैभ्यो, यो भुडक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ द्वारा पोषित देवगण तुम्हें इष्टफल प्रदान करेंगे। देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो मनुष्य उन्हें बिना दिए अकेला सेवन करता है, वह निश्चय ही चोर है। (३.१२)

यहां प्रभु ने देवों और मानवों में, मानव और मानव में, राष्ट्र और राष्ट्र में तथा विभिन्न आध्यात्मिक संस्थाओं में प्रतिद्वन्द्विता-विहीन सहयोग-भाव की ओर सकेत किया है। जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य लोगों की त्यागमयी सेवाओं से होती है। हमारा जन्म ही एक दूसरे पर निर्भर होने के लिए हुआ है। स्वामी चिन्मयानन्द ने विश्व को सहयोगकर्म का ब्रह्माण्ड-चक्र कहा है। व्यक्ति और समाज दोनों की प्रगति में प्रतिद्वन्द्विता की अपेक्षा सहयोग अधिक लाभदायक है। सहयोग और दूसरों की सहायता के बिना किसी भी सार्थक काम की सिद्धि नहीं हो सकती। भगवान् राम को भी अपने काम में दूसरों की सहायता लेनी पड़ी थी। यह विश्व श्रेष्ठतर स्थान होगा, यदि परस्पर लड़ने या हौड़ करने की अपेक्षा इसके सारे निवासी एक दूसरे को सहयोग और सहायता दें। स्वार्थपूर्ण उद्देश्य ही आध्यात्मिक संस्थाओं को भी पारस्परिक सहयोग से रोकता है, जिसके कारण सनातन हिन्दूधर्म का विश्व में विशेष रूप से प्रचार-प्रसार नहीं हो पाता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुज्जते ते त्वं अर्घं पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो लोग केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पाप के भागी होते हैं। (ऋ.वे. १०.११७.०६ भी देखें।) (३.१३)

भोजन भगवान् के लिए पकाया जाना चाहिए और उपभोग से पूर्व प्रेमपूर्वक भगवान् को अर्पित किया जाना चाहिए। बच्चों को भोजन करने से पूर्व प्रार्थना करना सिखाया जाना चाहिए। प्रार्थना और प्रभु को धन्यवाद देने से पहले भोजन ग्रहण न करना गृहस्थ का नियम होना चाहिए।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्याद् अन्नसंभवः ।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्रवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्यिधि, ब्रह्माक्षरसमुद्रवम् ।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म, नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न **परमात्मा** से होता है, परमात्मा सेवा-यज्ञ (में स्वार्थ की बलिदान) से प्रसन्न होते हैं। अतः (निष्काम) कर्म ही यज्ञ है, कर्म वेदों में विहित है और वेद को अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जाना। इस तरह सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ (अर्थात् सेवा) में प्रतिष्ठित है। (४.३२ भी देखें।) (३.१४-१५)

ब्रह्म के स्वष्टारूप का नाम ब्रह्मा है। ब्राह्मण भारत में बौद्धिक वर्ग का नाम है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं, नानुवर्त्यतीह यः ।

अघायुर इन्द्रियारामो, मोर्घं पार्थं स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ, जो मनुष्य सेवा द्वारा इस सूचिचक्र के चलते रहने में सहयोग नहीं देता है, वैसा पापमय, भोगी मनुष्य व्यर्थ ही जीता है। (३.१६)

गृहं का दाना भूमि में डाले जाने और समा जाने के बिना मात्र एक दाना है। बलिदान होने पर ही वह अनेक दानों को जन्म देता है। सन्त, वृक्ष, सरिता और पृथ्वी द्वासरों के उपयोग के लिए ही हैं।

यस् त्वात्मरतिर् एव स्याद् , आत्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्ट्स् , तस्य कार्यं न विघ्नते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य परमात्मा में ही रमण करता है तथा परमात्मा में ही तृप्त और संतुष्ट रहता है, वैसे आत्मज्ञानी मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। (३.१७)

समस्त कर्तव्य, दायित्व, निषेध, नियम और प्रतिबन्ध व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाने के लिए ही हैं। पूर्ण योगी के लिए कोई भी सांसारिक दायित्व नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो , नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु , कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसका कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा वह (परमात्मा के सिवा) किसी और प्राणी पर आश्रित नहीं रहता। (३.१८)

नेता उदाहरण बने

तस्माद् असक्तः सततं , कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन् कर्म , परम् आप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तुम अनासक्त होकर सदा अपने कर्तव्यकर्म का भलीभांति पालन करो, क्योंकि अनासक्त रहकर कर्म करने से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है। (३.१९)

कर्मयोग-दर्शन—मानवता के कल्याण के लिए निःस्वार्थ समर्पण—का प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता से पूर्व लिखे किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में इतना सुन्दर नहीं हुआ है। परोपकारिता के आदर्श को भगवान् कृष्ण ने पूजा और साधना के श्रेष्ठतम रूप के स्तर पर उठाकर रख दिया है। निष्कामकर्म से व्यक्ति को प्रभुकृपा मिलती है, प्रभुकृपा से आस्था और आस्था से परम सत्य की प्रतीति होती है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है: परोपकारी कार्य से हमारे शरीर में कुण्डलिनी और पराशक्ति जाग्रत् होती है।

कर्मणैव हि संसिद्धिम् , आस्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि , संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि ॥२०॥

राजा जनक आदि ज्ञानीजन निष्काम कर्मयोग द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। लोककल्याण के लिए भी तुम्हारा कर्म करना ही उचित है। (३.२०)

निःस्वार्थ सेवा करनेवाले कर्म से नहीं बंधते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं (वि.पु. १.२२.५२). द्वासरों के हित का ध्यान रखनेवालों की पहुंच के कुछ भी बाहर नहीं है। स्वामी हरिहर जी कहते हैं: मानवता की निःस्वार्थ सेवा ही प्रभु की सच्ची सेवा और श्रेष्ठतम पूजा है।

यद् यद् आचरति श्रेष्ठस् , तत् तद् एवेतरो जनः ।

स यत् प्रपाणं कुरुते , लोकस् तद् अनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो आदर्श बताता है, जनसमुदाय उसीका अनुसरण करता है। (३.२१)

लोग महापुरुषों का अनुसरण करते हैं (आ.पु. ५.०४.७५).

न मे पार्थस्ति कर्तव्यं, त्रिषु लोकेषु किंचन ।

नानवाप्तम् अवाप्तव्यं, वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ, तीनों लोकों में न तो मेरा कोई कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ. (३.२२)

यदि ह्यहं न वर्तेयं, जातु कर्मण्यतन्नितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

उत्सीदेयुर् इमे लोका, न कुर्या कर्म चेद् अहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्याम्, उपहन्याम् इमाः प्रजाः ॥२४॥

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो, हे पार्थ, मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे. इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सब लोक नष्ट हो जायेंगे और मैं ही इनके विनाश का तथा अराजकता का कारण बनूंगा. (३.२३-२४)

सक्ताः कर्मण्य् अविद्वांसो, यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद् विद्वांस् तथासक्तशः, चिकीर्षुर् लोकसंश्रहम् ॥२५॥

हे भारत, अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्मफल में आसक्त होकर भलीभांति अपना कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी जनकल्याण हेतु आसक्तिरहित होकर भलीभांति अपना कर्म करें. (३.२५)

न बुद्धिभेदं जनयेद्, अज्ञानां कर्मसद्गिनाम् ।

जोषयेत् सर्वकर्मणि, विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी कर्मफल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे तथा स्वयं (अनासक्त होकर) समस्त कर्मों को भलीभांति करता हुआ दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दे. (३.२९ भी देखें.) (३.२६)

प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति की महत्ता उसके दो विरोधी विचारों और विरोधाभासों को संभालने की क्षमता में है; जैसे संसार में निरासक्त आसक्ति के साथ जीना. अधिकांश व्यक्ति केवल तभी परिश्रमपूर्वक काम करते हैं, जब उन्हें कर्मफल के भोग या आर्ष ध्येय की प्राप्ति की प्रवर्तक शक्ति ऐसा करने की प्रेरणा देती है. ऐसे व्यक्तियों को हतोत्साहित नहीं करना चाहिए, न उनकी भर्त्सना करना जरूरी है. सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक आसक्ति, न कि स्वयं सम्पत्ति दुःख का कारण बनती है. जिस प्रकार व्यक्ति के लिए पूजा, प्रार्थना आदि करने में पूर्ण एकाग्रता जरूरी है, उसी प्रकार व्यक्ति के लिए सांसारिक कर्तव्यों की पूर्ति में भी सम्पूर्णतः ध्यानावस्थित होना आवश्यक है, पूरी तरह यह भी जानते हुए कि संसार और इसके क्रियाकलाप क्षणिक हैं, संचारी हैं. सांसारिक कर्तव्यों की अवहेलना करके व्यक्ति को भगवान के ध्यान में रत नहीं रहना चाहिए. श्री योगानन्द जी का कथन है— ध्यान के प्रति भी उतनी ही निष्ठा रखो जितनी धनोपार्जन में व्यक्ति को केवल एकतरफा जीवन नहीं जीना चाहिए.

सभी कर्म प्रकृति करती हैं

प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणेः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमृदात्मा, कर्ताहम् इति मन्यते ॥२७॥

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति माँ के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपनेआप को ही कर्ता समझ लेता है (तथा कर्मफल की आसक्तिरूपी बन्धनों से बंध जाता है। मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की कठपुतली मात्र है). (५.०९, १३.२९, १४.१९ भी देखें.) (३.२७)

ईश्वर सब कर्मों का कर्ता है। सब कुछ प्रभु की इच्छा के अधीन है। व्यक्ति स्वयं की मृत्यु के लिए भी स्वतंत्र नहीं है। व्यक्ति तब तक प्रभुदर्शन नहीं कर सकता, जब तक वह यह सोचता है कि मैं ही कर्ता हूँ। ईश्वर की कृपा से यदि उसे यह अनुभूति हो जाती है कि वह कर्ता नहीं है, तो वह जीवनमुक्त हो जाता है। हमीं कर्ता हैं, हमीं भोक्ता हैं, ऐसा विचार कर्मबन्धन को जन्म देता है। आत्मज्ञानी और साधारण व्यक्ति के द्वारा किया गया एक ही काम भिन्न-भिन्न परिणाम देता है। आत्मज्ञानी द्वारा किया गया कर्म आध्यात्मिक हो जाता है और कर्मबन्धन को जन्म नहीं देता, क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं को कर्ता या भोक्ता नहीं मानता। सामान्य-जन द्वारा किया गया काम कर्मबन्धन को जन्म देता है।

तत्त्ववित् तु महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त, इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के रहस्य को जानेवाले ज्ञानी मनुष्य ऐसा समझकर कि (इन्द्रियों द्वारा) प्रकृति के गुण ही सारे कर्म करते हैं (तथा मनुष्य कुछ भी नहीं करता है) कर्म में आसक्त नहीं होते। (३.२८)

प्रकृतेर् गुणसंमूढाः, सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तान् अकृत्स्नविदो मन्दान्, कृत्स्नविन् न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होकर अज्ञानी मनुष्य गुणों के (द्वारा किए गए) कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन्हें ज्ञानी मनुष्य सकाम कर्म के मार्ग से विचलित न करें। (३.२६ भी देखें.) (३.२९)

प्रबुद्ध व्यक्ति को प्रकृति की शक्तियों के सम्मोहन में स्वार्थ सिद्धि के लिए किए जानेवाले कामों से अज्ञानियों को हतोत्साहित या विमुख नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में कर्मत्याग के स्थान पर कर्मरत होना ही अन्त में उन्हें ब्रह्मज्ञान की ओर ले जाएगा। मयि सर्वाणि कर्माणि, संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर् निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मुझमें चित लगाकर, सम्पूर्ण कर्मों (के फल) को मुझमें अर्पण करके, आशा, ममता और संतापरहित होकर अपना कर्तव्य (युद्ध) करो। (३.३०)

ये मे मतम् इदं नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो, मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतद् अभ्यसूयन्तो, नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढांस् तान्, विदिध नष्टान् अचेतसः ॥३२॥

जो मनुष्य बिना आलोचना किए, श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेश का सदा पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो आलोचक मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते, उन्हें अज्ञानी, विवेकहीन तथा खोया हुआ समझना चाहिए। (३.३१-३२)

सदृशां चेष्टते स्वस्याः, प्रकृतेर् ज्ञानवान् अपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सभी प्राणी अपने स्वभाव-वश ही कर्म करते हैं। ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है। फिर इन्द्रियों के निग्रह का क्या प्रयोजन है? (३.३३)

यह ठीक है कि हम अपनी प्रकृति का दमन नहीं कर सकते; न वैसा करना चाहिए, किन्तु हमें अपने क्रमिक विकास के लिए मानवीय जीवन की विवेकशक्तियों का प्रयोग करते हुए इन्द्रियों का दास नहीं, स्वामी होना चाहिए। इन्द्रियों के नियन्ता होने का सर्वोत्तम तरीका है अपनी इन्द्रियों का उपयोग श्रीकृष्ण की सेवा में करना।

पूर्णता के मार्ग में दो बाधाएँ

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थ, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर् न वशम् आगच्छेत्, तौ ह्यस्य परिपथ्यनौ ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रिय के भोग में राग और द्वेष, मनुष्य के कल्याण-मार्ग में विघ्न डालनेवाले, दो महान् शत्रु रहते हैं। इसलिए मनुष्य को राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए। (३.३४)

राग का अर्थ है पुनः पुनः ऐन्द्रिय सुख अनुभव करने की कामना और आसक्ति। द्वेष का अर्थ है अप्रिय वस्तु के प्रति वितृष्णा। ज्ञान की प्राप्ति और प्रसार आदि सभी मानवीय क्रियाकलाप का आधार मन की शान्ति और सुख की खोज ही है। कामना—प्रभु द्वारा प्रदत्त अन्य शक्तियों की भाँति—समस्या नहीं है। मन की उचित दशा में, राग-द्वेष पर नियंत्रण रखते हुए कामनाएँ की जा सकती हैं। यदि हम अपनी कामनाओं पर नियंत्रण रख सकते हैं, तो जो भी हमारे पास है, वह आवश्यकता न होकर ऐश्वर्य हो जाता है। इस दृष्टिकोण के साथ हम अपनी समस्त अरुचियों और अभिरुचियों के स्वामी हो सकते हैं। इसके लिए अनिवार्य है वह मनोदशा, जो हर वस्तु को ऐश्वर्य का रूप दे दे। ज्ञान, अनासक्ति और भक्तिवालों को किसी सांसारिक पदार्थ, व्यक्ति या कर्म के प्रति न रुचि होती है, न अरुचि।

व्यक्ति को निजी रुचियों या अरुचियों का ध्यान रखे बिना कर्तव्यभावना से कर्म करना चाहिए। इस युग में कर्मयोग ही वह तपस्या है, जिसके द्वारा व्यक्ति हिमालय के वनों या पर्वतों में गए बिना समाज में रहते और कर्म करते हुए भगवान तक पहुंच सकता है।

प्रभु के लिए किया गया कर्म सभी के लिए लाभदायक है, वैसे ही जैसे एक-एक पत्ती को जल देने की अपेक्षा पेड़ की जड़ को सीधने से पेड़ के हर भाग को पानी मिल जाता है। ज्ञान और वैराग्य पाते ही सुधीजनों की सब रुचियों और अरुचियों का विनाश हो जाता है। पूर्णता के मार्ग में व्यक्तिगत अभिरुचियां और अरुचियां दो मुख्य बाधाएँ हैं। राग-द्वेष पर विजय पानेवाला व्यक्ति मुक्त पुरुष हो जाता है और मोक्ष पा लेता है।

श्रेयान् स्वर्धर्मो विगुणः, परर्धर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वर्धर्मे निधनं श्रेयः, परर्धर्मो भयावहः ॥३५॥

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है। स्वर्धर्म के कार्य में मरना भी कल्याणकारक है। अस्वाभाविक कार्य हानिकारक होता है। (१८.४७ भी देखें।) (३.३५)

अपने स्वभाव द्वारा नियत कर्तव्य का पालन-कर्ता कर्मबन्धनों से मुक्त रहता है और धीरे-धीरे भौतिक प्रकृति के त्रिगुणात्मक संसार से ऊपर उठ जाता है (आ.पु. ७.११.३२)। अपने स्वभाव या संस्कार-जन्य कर्म से ही व्यक्ति का विकास होता है। जो उस काम में हाथ डालता है जिसके लिए वह बना नहीं है, उसे अवश्य ही असफलता मिलती है। स्वाभाविक कर्म तनाव पैदा नहीं करता और रचनात्मकता का स्रोत है। अपने स्वभाव के विपरीत कर्म न केवल तनावपूर्ण होता है, बल्कि फलदायक भी नहीं होता और उसमें आध्यात्मिक विकास

और उन्नति के लिए भी समय नहीं मिलता। दूसरी ओर, यदि कोई अति सहज या कलात्मक जीवन का अनुसरण करता है, तो हो सकता है वह गृहस्थ की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट कमा भी न सके। अतः सादा जीवन जिओ, अनावश्यक ऐश्वर्य-सामग्री को सीमित करो और निःस्वार्थ सेवा की अभिलाचि पैदा करो, ताकि जीवन की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में संतुलन रख सको। सन्तुलित जीवन ही सुखी जीवन है।

काम पाप का मूल है

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय, बलाद् इव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, न चाहते हुए भी बलपूर्वक बाध्य किए हुए के समान किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है? (३.३६)

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्रवः ।

महाशनो महापापा, विद्युत्येनम् इह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान बोले— रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है, कभी भी पूर्ण नहीं होनेवाले इस महापापी काम को ही तुम (आध्यात्मिक मार्ग का) शत्रु जानो। (३.३७)

रजोगुण, वांछित फलों की प्रसिद्धि के लिए धोरकर्म की ओर प्रेरित करनेवाला मानसिक असन्तुलन है। काम—समस्त ऐन्द्रिय और भौतिक सुखों की गहन कामना—रजोगुण से पैदा होता है। अतृप्त काम क्रोध को जन्म देता है। फल-प्राप्ति में बाधा या व्यवधान होने से फल-प्राप्ति की गहन कामना भयावह क्रोध में बदल जाती है। अतः भगवान कहते हैं कि रजोगुण-प्रसूत काम और क्रोध दो शक्तिशाली शत्रु हैं, जो व्यक्ति को पाप करने की ओर ले जा कर आत्मज्ञान—मानव-जीवन का परम ध्येय—के मार्ग से भटका सकते हैं। वस्तुतः व्यक्ति की इच्छाशक्ति के बावजूद भी सांसारिक कामनाएं उसे पापकर्म में रत होने के लिए बाध्य करती हैं। भगवान बुद्ध का कथन है— स्वार्थपूर्ण कामना ही सब पापों और शोक का मूल है।

धूमनाविद्यते वहनिर्, यथादर्शी मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्, तथा तेनेदम् आवृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से अग्नि और धूलि से दर्पण ढक जाता है तथा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही काम आत्मज्ञान को ढक देता है। (३.३८)

आवृतं ज्ञानम् एतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय, दुष्प्रेरणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय (अर्जुन), अग्नि के समान कभी तृप्त न होनेवाले, ज्ञानियों के नित्य शत्रु, काम, के द्वारा ज्ञान ढक जाता है। (३.३९)

काम और ब्रह्मज्ञान एक द्वासरे के शाश्वत शत्रु हैं। काम का विनाश ब्रह्मज्ञान से ही हो सकता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्, अस्याधिष्ठानम् उच्यते ।

एतैर् विमोहयत्य् एष, ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियां, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान कहे जाते हैं. यह काम इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अपने वश में करके ज्ञान को ढककर मनुष्य को भटका देता है. (३.४०)

काम पर विजय कैसे पाएं

तथात् त्वम् इन्द्रियाप्यादौ, नियम्य भरतर्षभ ।

पापानं प्रजहि ह्येनं, ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए हे अर्जुन, तुम पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विवेक के नाशक इस पापी कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४१)

मर्त्य पुरुष कामपाश से मुक्त होने पर अमर हो जाता है और इसी जन्म में मोक्ष पा लेता है (कठ.उ. ६.२४, बृह.उ. ४.०८.०७).

इन्द्रियाणि पराण्याहर, इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस् तु परा बुद्धिर्, यो बुद्धेः परतस् तु सः ॥४२॥

इन्द्रियां शरीर से श्रेष्ठ कही जाती हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और आत्मा बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है. (कठ.उ. ३.१० तथा गीता ६.०७-०८ भी देखें.) (३.४२)

इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से आत्मा श्रेष्ठ है (म.भा. १२.२०८.९०).

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्या, संस्तम्भात्मानम् आत्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो, कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार अपनी आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन आदि से की हुई शुद्धि) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (कठ.उ. ३.०३-०६ भी देखें.) (३.४३)

अनियंत्रित सांसारिक कामनाएं जीवन की सुन्दर आध्यात्मिक यात्रा को नष्ट कर देंगी. धर्मग्रन्थ मन में उत्पन्न हुई कामनाओं को समुचित नियंत्रण में रखने का मार्ग और साधन प्रदान करते हैं. शरीर की तुलना एक रथ से की जा सकती है, जिसमें जीवात्मा रूपी यात्री भगवान कृष्ण के परमधाम की ओर आध्यात्मिक यात्रा कर रहा है. कर्तव्य और त्याग उस रथ के दो पहिये और भक्ति उसका धुरा है. सेवा उसका मार्ग है और दैवीगुण मील के पत्थर. धर्मग्रन्थ अज्ञान के अंधेरे को द्वारा करने के लिए मार्गदर्शक प्रकाश-स्तम्भ हैं. मन और पंचेन्द्रियां इस रथ के घोड़े हैं. ऐन्द्रिय भोग-पदार्थ मार्गतट पर उगे हरित तृण हैं, रागद्वेष मार्ग के रोड़े हैं तथा काम, क्रोध और लोभ लुटेरे हैं. मित्र और सम्बन्धी मार्ग में अस्थायी रूप से मिले सहयात्री हैं. बुद्धि इस रथ का सारथी है. यदि बुद्धिरूपी सारथी को ज्ञान और इच्छाशक्ति से पवित्र और शक्तिशाली नहीं बनाया गया, तो बुद्धि मन को नियंत्रित न कर सकेगी और ऐन्द्रिय तथा भौतिक सुखों की सशक्त कामनाएं मन को अपने नियंत्रण में कर लेंगी. मन और इन्द्रियां दुर्बल सारथी-बुद्धि-पर आक्रमण कर उसे अपने नियंत्रण में कर लेंगे और मुक्तिमार्ग से भटकाकर वे जीवात्मा रूपी यात्री को आवागमन के गर्त में ढकेल देंगे.

यदि बुद्धि भलीभांति प्रशिक्षित है और आत्मज्ञान तथा विवेक की अभिनि में तपकर पावन हो चुकी है, तो वह आध्यात्मिक साधना और वैराग्य रूपी दो लगामों और यम-नियम के कोड़ों से इन्द्रियों के अश्वों को नियंत्रण में रखने में समर्थ होगी. सारथी को सदा लगाम पूरी तरह अपने हाथ में रखनी चाहिए, नहीं तो इन्द्रियों के अश्व रथ को अज्ञान के गर्त में ले

जाएंगे। अधिकांश मोटरकार की दुर्घटनाएं चालक की क्षणिक असावधानी के कारण होती हैं, उसी तरह एक क्षण की असावधानी भी व्यक्ति को मार्ग से विचलित कर सकती है। अन्त में समाधि के आध्यात्मिक तट पर पहुंचने के लिए व्यक्ति को माया रूपी नदी को पार करने के हेतु, निरहंकार के सेतु का सहारा लेना चाहिए। इन्द्रियों को वश में न कर सकनेवाला व्यक्ति मानवजन्म के ध्येय, आत्मज्ञान, को नहीं पा सकता।

अनुचित अस्थायी इन्द्रियसुखों से व्यक्ति स्वयं को विनष्ट न करे। इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति सारे विश्व को वश में कर सकता है और सभी उद्यमों में सफलता पा सकता है। मनोवेगों का पूर्ण निरस्तीकरण तो सम्भव नहीं है, किन्तु वे ज्ञान द्वारा नियंत्रण में रखे जा सकते हैं। जिस प्रकार वर्षाकाल में पावन गंगा नदी का स्वच्छ जल भी मैला हो जाता है, उसी तरह युवाकाल में बुद्धि भी दृष्टित हो जाती है। अच्छी संगति और जीवन के उच्च ध्येय का निधारण मन और बुद्धि को ऐन्द्रिय सुखों के भटकाव से प्रदूषित होने से बचाते हैं।

इस प्रकार कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूर्ण होता है।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ज्ञानमयकर्मयोगः

४. ज्ञानमयकर्मयोग

कर्मयोग पुरातन विस्मृत निर्देश है

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं, प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह, मनुर् इश्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तम्, इमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता, योगो नष्टः परंतप ॥२॥

स एवायं मया तेऽध्य, योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं ह्येतद् उत्तमम् ॥३॥

श्रीभगवान बोले— मैंने कर्मयोग के इस अविनाशी सिद्धान्त को सूर्यवंशी राजा विवस्वान् को सिखाया, विवस्वान् ने अपने पुत्र मनु से कहा तथा मनु ने अपने पुत्र इश्वाकु को सिखाया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए कर्मयोग को राजर्षियों ने जाना; परन्तु हे परन्तप, बहुत दिनों के बाद यह ज्ञान इस पृथ्वीलोक में लुप्त-सा हो गया। तुम मेरे भक्त और प्रिय मित्र हो, इसलिए वही पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुम्हें कहा है, क्योंकि यह कर्मयोग एक उत्तम रहस्य है। (४.०१-०३)

पिछले अध्याय में विवेचित कर्मयोग को भगवान ने सत्कर्म का गुह्यतम विज्ञान कहा है। कर्मयोगी स्वामी कर्मनन्द के अनुसार स्वयं भगवान द्वारा इस रहस्य को प्रकट किए बिना कोई भी व्यक्ति इसका पालन नहीं कर सकता।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म, परं जन्म विवस्वतः ।

कथम् एतद् विजानीयां, त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति ॥४॥

अर्जुन बोले— आपका जन्म तो अभी हुआ है तथा सूर्यवंशी राजा विवस्वान् का जन्म सृष्टि के आदि में हुआ था, अतः मैं कैसे जानूँ कि आप ही ने विवस्वान् से इस योग को कहा था ? (४.०४)

अर्जुन को शंका होती है कि उसके समकालीन श्रीकृष्ण ने किस प्रकार बहुत पहले प्राचीन काल में ऐदा हुए राजा विवस्वान् को कर्मयोग-शास्त्र का उपदेश दिया था। गीता द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मात्र पांच हजार वर्ष पुराना नहीं है, वरन् आदियुगीन है। मानवता के कल्याण हेतु भगवान् द्वारा इसका पुनः वर्णन किया गया है। समस्त अवतारी पुरुष विस्मृत सत्य की अग्नि को पुनर्प्रभासित करने आते हैं। जो भी हम सुनते या पढ़ते हैं, वह सब विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न महापुरुषों द्वारा पहले भी कहा जा चुका है।

प्रभु के अवतार का उद्देश्य

श्रीभगवानुवाच

बहनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत सारे जन्म हो चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते। (४.०५)

अजोऽपि सन् अव्ययात्मा, भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय, संभवाप्यात्ममायया ॥६॥

यद्यपि मैं अजन्मा, अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ, फिर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। (१०.१४ भी देखें।) (४.०६)

योगमाया (अर्थात् ब्रह्मज्योति) भगवान् कृष्ण की आनन्द-शक्ति है। महामाया योगमाया का आंशिक प्रतिबिम्ब है। कालमाया महामाया का प्रतिबिम्ब है और माया ब्रह्म की अलौकिक, असाधारण और रहस्यमयी शक्ति है। महामाया, कालमाया और माया को आदि प्रकृति भी कहा गया है। प्रकृति को माया का प्रतिबिम्ब भी समझा जाता है। इस प्रकार योगमाया माया और प्रकृति दोनों का उद्गम है। गुरु नानकदेव ने कहा— “प्रभु ने माया रची है, जो हमें भुलावा देती है और नियंत्रण में रखती है।” माया का अर्थ सत्य की अवास्तविक, काल्पनिक और ग्रामक छवि भी है। माया की शक्ति के कारण व्यक्ति को ब्रह्म से पृथक् विश्व के अस्तित्व का आभास होता है। ब्रह्मज्योति अथवा योगमाया ब्रह्म की अदृश्य, सम्मावित, अन्तर्निहित ऊर्जा (ऊर्जात्तेजिलैं-रेग्य) है, और माया ब्रह्म की कर्मशक्ति या गतिमान् ऊर्जा (खन्तिट्टैं-रेग्य) है। अग्नि और ताप की भाँति माया और योगमाया अविच्छेद्य हैं। माया शब्द का प्रयोग सामान्य लोगों को जगत् का रहस्य समझाने के लिए रूपक के रूप में भी होता है। मन भी माया का एक रूप है।

यदा यदा हि धर्मस्य, ज्ञानिर् भवति भारत ।

अभ्युत्थानम् अधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ॥८॥

हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब अच्छे लोगों की रक्षा, दुष्टों का संहर तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं, परब्रह्म परमात्मा, हर युग में अवतरित होता हूँ। (तु.रा. १.१२०.०३-०४ भी देखें।) (४.०७-०८)

ब्रह्म दिव्य भी है और सार्वभौमिक भी (अथ.वे. ४.१६.०८)। समय-समय परब्रह्म अवतरित होते हैं, क्योंकि दैवी विधान में जन-कल्याण के लिए उनकी आवश्यकता का अहसास होता है। जब-जब आसुरी शक्तियां धर्म के विनाश के लिए उनकी आवश्यकता का अहसास होता है, तब-तब प्रभु उचित सन्तुलन के लिए अवतरित होते हैं (वा.रा. ७.०८.२७). प्रभु की करुणा ही उनके अवतार का मूल कारण है (शा.भ.सू. ४६). प्रभु के अवतरित होने के धर्म की रक्षा के अतिरिक्त और भी कारण हैं। ब्रह्म, जो जन्म-मरण से परे है, पृथ्वी पर भक्तों की मनोकामना की पूर्ति के लिए भी महान् आत्मा के माध्यम से मानवरूप में अवतरित होते हैं, क्योंकि भक्तजन प्रभु का दर्शन करना और उनके संग्रह सान्निध्य में रहना चाहते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं, यद्यपि प्रभु भौतिक गुणों से रहित, अनासक्त और निर्विकार हैं तथापि वे अपने भक्तों के लिए संग्रह-साकार रूप धारण करते हैं (तु.रा. २.२९८.०३). श्री रामकृष्ण ने कहा था कि वे तीन सौ वर्षों तक अपने भक्तों के हृदयों और मनों में सूक्ष्मरूप में रहेंगे। योगानन्द जी का कहना है— जब तक विश्व में लोग सहायता के लिए मुझे पुकारेंगे, मैं अपनी नौका को खेने आता रहूँगा और उनको स्वर्गिक तर्ठों पर ले जाने का आवाहन करता रहूँगा।

जन्म कर्म च मे दिव्यम् , एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म , नैति माम् एति सोऽर्जुन ॥१॥

हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। इसे जो मनुष्य भलीभांति जान लेता है, उसका परने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता तथा वह मेरे लोक, परमधाम, को प्राप्त करता है। (४.०९)

वीतरागभयक्रोधा, मन्मया माम् उपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा, पूता मद्वावम् आगताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित, मुझमें तल्लीन, मेरे आश्रित तथा ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर, बहुत-से मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। (४.१०)

प्रार्थना और भविति का मार्ग

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस् तथैव भजाप्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

हे अर्जुन, जो भक्त जिस किसी भी मनोकामना से मेरी पूजा करते हैं, मैं उनकी मनोकामना की पूर्ति करता हूँ। मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मेरी शरण लेते हैं। (४.११)

मांगो और तुम पाओगे, खोजो और तम्हें मिलेगा, दरवाजा खटखटाओ और तुम्हारे लिए द्वार खुल जाएगा। माया के कारण अधिकतर लोग स्वास्थ्य, धन, सफलता आदि अस्थायी भौतिक लाभ खोजते हैं; आत्मज्ञान और प्रभु के कमल-चरणों की भक्ति नहीं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं, यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके, सिद्धिर् भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्मफल के इच्छुक संसार के साधारण मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मफल शीघ्र ही प्राप्त होते हैं। (४.१२)

जब तुम किसी वस्तु को प्रार्थना में मांगते हो, तो विश्वास रखो और आस्थावान् रहो कि तुम्हें वह मिल चुकी है और तुम्हें वह मिलेगी। प्रार्थना में व्यक्ति आवश्यकता की वस्तु को पाने में प्रभु की सहायता के लिए विनती करता है। पूजा में प्रभु की आराधना और महिमा का गुणगान करते हुए प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता है, उन वस्तुओं के लिए जो व्यक्ति को प्राप्त हैं। सबसे पहले व्यक्ति को अपनी दुर्दशा से अवगत होना चाहिए और उस पर मनन करते हुए कठिनाइयों से मुक्त होने में अपनी अवशता का अनुभव करना चाहिए। अवशता की उस अवस्था में व्यक्ति को प्रार्थना के माध्यम से प्रभु की सहायता मांगनी चाहिए। यदि तुम्हें अपनी दुरवस्था का आभास है और तुम परिवर्तन के लिए प्रभु की सहायता की कामना करते हो, तो प्रभु पहला पग उठाएंगे। अपने को दिल खोलकर प्रकट करो, प्रभु के सामने अपना गुण-दोष स्वीकार करो, उन्हें बताओ कि तुम कैसे हो और क्या कर रहे हो। प्रार्थना में तुम जैसे हो, वैसे प्रभु से कहो, स्पष्ट रूप से जो चाहते हो, उसे मांगो और उनकी सहायता की पुकार करो।

ध्यान-मन को प्रशान्त करके, ग्रहणशीलता की मुद्रा धारण करते हुए—प्रभु के निर्देश, अन्तर्दृष्टि और रहस्योदघाटन को प्राप्त करने के लिए प्रभु का श्रवण है। उदाहरण के लिए यह दृष्टिकोण अपनाना— प्रभु, मेरी प्रार्थना सुनने के लिए और उस सबके लिए, जो तुमने मुझे दिया है, धन्यवाद; किन्तु अब निर्देश करो कि जो तुमने दिया है उसका उपयोग मैं कैसे करूँ, इसमें तुम्हारी क्या इच्छा है? ऐसा कहकर निश्चल, सतर्क और ध्यानावस्थित होकर मात्र उसकी आवाज सुनने का प्रयत्न करो।

चातुर्वर्ष्यं प्रया सूष्टं, गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारम् अपि मां, विद्ध्य अकर्तारम् अव्ययम् ॥१३॥

मेरे द्वारा ही चारो वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव और रूचि के अनुसार बनाए गए हैं। सूष्टि की रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझ परमेश्वर को अविनाशी और अकर्ता ही जानना चाहिए। (क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं)। (१८.४१ भी देखें।)

(४.१३)

न मां कर्माणि लिप्यन्ति, न मे कर्मफले स्फूहा ।

इति मां योऽभिजानाति, कर्मभिर् न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म का बन्धन नहीं लगता, क्योंकि मेरी इच्छा कर्मफल में नहीं रहती है। इस रहस्य को जो व्यक्ति भलीभांति समझकर मेरा अनुसरण करता है, वह भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है। (४.१४)

सारे कर्म, प्रार्थना सहित, मात्र व्यक्तिगत लाभ के लिए न करके किसी अच्छे उद्देश्य और जनकल्याण के लिए करने चाहिएं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म, पूर्वैर् अपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मेव तस्मात् त्वं, पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

प्राचीन काल के मुमुक्षुओं ने इस रहस्य को जानकर कर्म किए हैं। इसलिए तुम भी अपने कर्मों का पालन उन्हीं की तरह करो। (४.१५)

सकाम, निष्काम, और निषिद्ध कर्म

किं कर्म किम् अकर्मति, कवयोऽप्य अत्र मोहिताः ।

तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

विद्वान् मनुष्य भी भ्रमित हो जाते हैं कि कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है, इसलिए मैं तुम्हें कर्म के रहस्य को समझाता हूं; जिसे जानकर तुम कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे.

(४.१६)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

सकाम कर्म, विकर्म अर्थात् पापकर्म तथा निष्कामकर्म (अर्थात् अकर्म) के स्वरूप को भलीभांति जान लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत ही न्यारी है। (४.१७)

सकाम कर्म स्वार्थपूर्ण कर्म है, जो कर्मबन्धन पैदा करता है। निषिद्ध कर्म को विकर्म कहते हैं, जो कर्ता और समाज दोनों के लिए हानिकारक है। अकर्म या निष्काम कर्म निःस्वार्थ सेवा है, जो मुक्ति की ओर ले जाता है।

कर्मयोगी को कर्म-बन्धन नहीं

कर्मण् अकर्म यः पश्येद् , अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वही ज्ञानी, योगी तथा समस्त कर्मों का करनेवाला है। (अपने को कर्ता नहीं मानकर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है।) (३.०५, ३.२७, ५.०८, १३.२९ भी देखें.)

(४.१८)

सभी कर्म निष्काम सक्रिय कर्ता ब्रह्म के हैं। सुधीजन ब्रह्म की अन्तर्निहित ऊर्जा (Potential Energy) के निष्क्रिय, अनन्त और अदृश्य भंडार में ब्रह्माण्ड की समस्त प्रभासित गतिमान ऊर्जा (Kinetic Energy) का मूल स्रोत देखते हैं, वैसे ही जैसे बिजली के पंखे की गति अदृश्य विद्युत के संचरण से होती है। कर्म की प्रेरणा और शक्ति ब्रह्म से ही आती है। अतः व्यक्ति को समस्त कर्मों को अध्यात्ममय बना देना चाहिए, यह आभास कर कि व्यक्ति स्वयं कुछ भी नहीं करता है; सबकुछ हमें मात्र माध्यम बनाते हुए ब्रह्म की ऊर्जा से ही होता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानान्विक्षकर्माणं, तम् आहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सारे कर्मों के संकल्प ज्ञानरूपी अग्नि से जलकर स्वार्थरहित हो गए हैं, वैसे मनुष्य को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं। (४.१९)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं, नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण् अभिप्रवृत्तोऽपि, नैव किंचित् करोति सः ॥२०॥

जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का सर्वथा त्यागकर, परमात्मा में नित्यतृप्त रहता है तथा (भगवान के सिवा) किसी का आश्रय नहीं लेता, वह कर्म करते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है (तथा अकर्म रहने के कारण कर्म के बन्धनों से सदा मुक्त रहता है।).

(४.२०)

निराशीर् यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म, कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशारहित है, जिसके मन और इन्द्रियां वश में हैं, जिसने सब प्रकार के स्वामित्व का परित्याग कर दिया है, ऐसा मनुष्य शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप (अर्थात् कर्म के बन्धन) को प्राप्त नहीं होता है। (४.२१)

यदृच्छालाभसंतुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धाव् असिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अपनेआप जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहनेवाला, द्वन्द्वों से अतीत, ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और असफलता में समभाववाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है। (४.२२)

गतसद्ग्रास्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म, समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जिसकी ममता तथा आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है, ऐसे परोपकारी मनुष्य के कर्म के सभी बन्धन विलीन हो जाते हैं। (४.२३)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्, ब्रह्मान्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं, ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

यज्ञ का अर्पण, धी, अग्नि तथा आहुति देनेवाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है। इस तरह जो सब कुछ में परमात्मा का ही स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है। (४.२४)

जीवन स्वयं एक सतत प्रज्ज्वलित अग्नि है, जहां निरन्तर यज्ञ जारी है। प्रत्येक कर्म को यज्ञ—पावन हवि कर्म—ही मानना चाहिए। हर चीज ब्रह्म नहीं है, किन्तु ब्रह्म हर वस्तु का मूल है। जब व्यक्ति हर कर्म में ब्रह्म के दर्शन करता है और सब वस्तुओं का उपयोग ब्रह्म के विशिन्न रूपों में करता है तथा उसे यह आशास हो जाता है कि समस्त कर्मों की प्रक्रिया में भी ब्रह्म निहित है, तो वह मुक्ति पा लेता है और ब्रह्म में लीन हो जाता है।

यज्ञ के विभिन्न प्रकार

दैवम् एवापरे यज्ञं, योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्मान्नाव् अपरे यज्ञं, यज्ञैनैवोपजुहवति ॥२५॥

कोई योगीजन देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा (ज्ञानरूपी) यज्ञ का हवन करते हैं। (४.२५)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्प्य अन्ये, संयमाग्निषु जुहवति ।

शब्दादीन् विषयान् अन्ये, इन्द्रियाग्निषु जुहवति ॥२६॥

अन्य योगी लोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं तथा कुछ लोग शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं। (४.२६)

सर्वाणीन्द्रियकर्मणि, प्राणकर्मणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्रौ, जुहवति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के और प्राणों के कर्मों का ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूपी अग्नि में हवन करते हैं। (४.२७)

द्रव्ययज्ञास् तपोयज्ञा, योगयज्ञास् तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

दूसरे साधक द्रव्यज्ञ, तपयज्ञ तथा योगज्ञ करते हैं और अन्य कठिन व्रत करनेवाले स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं। (४.२८)

अपाने जुहवति प्राणं, प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणः ॥२९॥

दूसरे कितने ही प्राणायाम करनेवाले योगीजन प्राण और अपान की गति को— अपानवायु में प्राणवायु का तथा प्राणवायु में अपानवायु का (क्रियायोग के द्वारा) हवन कर— रोक लेते हैं। (४.२९)

व्यावहारिक योग के श्लोकों (४.२६, ४.३०, ५.२७, ६.९३, ८.९०, ८.९२, ८.९३, ८.२४ और ८.२५) के गृह आध्यात्मिक अर्थ और विशद व्याख्या यहाँ सम्पूर्ण नहीं हैं। उन्हें क्रियायोग के सिद्ध आत्मज्ञानी से ही जाना जा सकता है।

योगाभ्यास का उद्देश्य श्वास-प्रक्रिया में शनैः प्रवीण होकर समाधि और परमचेतना प्राप्त कर लेना है। श्वास-प्रक्रिया की गति इस प्रकार कम की जा सकती है: (१) ऊपर-नीचे जाती हुई सागर की लहरों की तरह श्वास को भीतर जाते तथा बाहर आते देखकर (२) योगगहन श्वास (*Deep yogic or Diaphragmatic breathing*) का अभ्यास करके तथा (३) सोऽहम और क्रियायोग आदि यौगिक प्रक्रियाओं का प्रयोग करके।

अपरे नियताहाराः, प्राणान् प्राणेषु जुहवति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो, यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे साधक नियमित आहार करके प्राणवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं। ये सभी यज्ञों को जानेवाले हैं तथा यज्ञ के द्वारा इनके पाप नष्ट हो जाते हैं। (४.३०)

यज्ञशिष्टामृतभुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्यु अयज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ (अर्जुन), यज्ञ के प्रसादस्ती ज्ञानामृत को प्राप्तकर योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं। यज्ञ न करनेवाले मनुष्य के लिए परलोक तो क्या, यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं होता। (४.३८, ५.०६ भी देखें.) (४.३१)

एवं बहुविधा यज्ञा, वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान् विदिधि तान् सर्वान्, एवं ज्ञात्वा विमोक्षये ॥३२॥

वेदों में ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है। उन सब यज्ञों को तुम (शरीर, मन और इन्द्रियों की) क्रिया द्वारा सम्पन्न होनेवाले जानो। इस प्रकार जानकर तुम (कर्मबन्धन से) मुक्त हो जाओगे। (३.१४ भी देखें.) (४.३२)

ज्ञानयोग श्रेष्ठतर आध्यात्मिक अभ्यास है

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्, ज्ञानयज्ञः परंतप ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्ते ॥३३॥

हे परंतप अर्जुन, ज्ञानयज्ञ द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ है, क्योंकि, हे पार्थ, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही सारे कर्मों का लक्ष्य अर्थात् पराकाष्ठा है। (४.३३)

तद् विदिधि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस् तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

उस तत्त्वज्ञान को तुम ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर, उन्हें आदर, जिज्ञासा तथा सेवा से प्रसन्न करके सीखो। तत्त्वदर्शी ज्ञानी मनुष्य तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे। (४.३४)

सत्य को पा लेनेवाले मनीषियों का सत्संग अत्यन्त लाभकारी है। मात्र धर्मग्रन्थ पढ़ने, दान देने और साधना से प्रभुप्राप्ति सम्बन्ध नहीं। प्रभुप्राप्ति में समर्थ आत्मा दूसरे आत्मा को जाग्रत् कर सकता है और ज्योतित करने में समर्थ है (रामदास)। किन्तु प्रभुकृपा के बिना कोई गुरु आत्मज्ञान का गोपनीय गुरु नहीं दे सकता। वेदों की उक्ति है— जो मार्ग जानता है वह दूसरे पथिक का—जो मार्ग नहीं जानता, पर पूछता है—मार्ग निर्देश करता है (ऋ.वे. ६.७०.०६)। सत्यबोध मूलतः व्यक्तिगत प्रक्रिया है (कृष्णमूर्ति)। अपने ही प्रयासों से लोग सत्य की खोज करते हैं। इस भौतिक संसार के तृफानी जल में व्यक्ति को अपनी नौका स्वयं ही खेनी पड़ती है।

वेदों में प्रभु के किसी भी प्रकार का विक्रय का निषेध है। वेद का कथन है— हे अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी, मैं किसी भी मूल्य पर तुम्हें नहीं बेचूंगा (ऋ.वे. ८.०९.०५)। गुरु का काम एक मार्गदर्शक और दाता का है, लेनेवाले का नहीं। किसी मानव को गुरु बनाने से पूर्व व्यक्ति की गुरु में पूर्ण आस्था होनी चाहिए, या आस्था पैदा करनी चाहिए। अपने मन में गुरु के मानवगत अवगुणों को नहीं लाना चाहिए। गुरु के ज्ञान के मोतियों को ग्रहण कर सीपियों को फैक देना चाहिए। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो स्मरण रहे कि गुरु शब्द का यह भी अर्थ है— ज्ञान की ज्योति, जो अज्ञान और मोह का अंधकार दूर करती है। और जब व्यक्ति का मन सच्ची साधना, सेवा और समर्पण से शुद्ध हो जाता है, तब ज्ञान की ज्योति ब्रह्म से स्वतः आती है।

गुरुओं की चार कोटियाँ हैं— नकली गुरु, गुरु, सदगुरु और परमगुरु। इस युग में शिक्षा-दीक्षा देने के लिए या कुछ दाम लेकर मंत्र देनेवाले अनेक नकली गुरु पैदा हो गए हैं। ये नकली गुरु मंत्र के व्यापारी हैं। ब्रह्म का सच्चा ज्ञान न देकर ये लोग अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिष्यों का धन हरण करते हैं। सन्त तुलसीदास जी कहते हैं: गुरु, जो शिष्यों से धन लेता है, पर उनका अज्ञान दूर नहीं करता, नरक को जाता है (तु.ग. ७.६८.०४)। गुरु वही है, जो सत् और असत् का सच्चा ज्ञान और विवेक देता है। सदगुरु आत्मज्ञानी निष्णात पुरुष है, जो अपनी आध्यात्मिक शक्ति से शिष्य को प्रभु की सतत अनुभूति देता है।

मन और अन्तःकरण के पावन हो जाने पर परमगुरु, श्रीकृष्ण, शिष्य के वित्त में स्वयं को प्रभासित करते हैं और उसके लिए एक गुरु या सदगुरु भेजते हैं। एक सच्चा गुरु शिष्य से कभी भी अपने लिए या अपनी संस्था के लिए धन या शुल्क नहीं मांगता, वह पूर्णतः प्रभु पर निर्भर करता है। किन्तु गुरु के उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिष्य यथाशक्ति सहायता करने को बाध्य है। ऋषि याज्ञवल्क्य और उनके पिताश्री का भी मानना है कि परब्रह्म, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, पुरुष, माया, अव्यक्त, ईश्वर, प्रकृति, जीव आदि की पूर्ण शिक्षा और विवेकमय ज्ञान दिए बिना गुरु को शिष्य से कोई शुल्क ग्रहण नहीं करना चाहिए (बृ.ज. ४.०९.०२)।

हम सबमें अन्तर्भूत हमारी स्वयं की आत्मा ही परमगुरु है। ब्रह्म गुरु हमारी आध्यात्मिक यात्रा के आरम्भिक चरण में सहायता कर सकता है। निष्काम सेवा, प्रार्थना, ध्यान, पूजा, जप, कीर्तन, मनन, आध्यात्मिक पठन आदि से शुद्ध हुआ हमारा मन दिव्य ज्ञान का श्रेष्ठ साधन और पथ-प्रदर्शक बन जाता है। (गीता ४.३८ तथा ९३.२२ भी देखें)। हमारे भीतर का दैवी पुरुष ही सच्चा गुरु है और उससे सम्पर्क साधना हमें सीखना चाहिए। कहा गया है कि

अपने मन से बड़ा कोई गुरु नहीं है। शुद्ध मन अध्यात्मपथ-प्रदर्शक और भीतर का दिव्य गुरु बन जाता है, जो व्यक्ति को गुरु और आत्मज्ञान तक ले जाता है। यह बात इस लोकोक्ति में कही गई है कि व्यक्ति के पास, ठीक समय आने पर, गुरु स्वयं ही आ जाता है। गुरु शब्द का अर्थ विशाल भी है जिसका प्रयोग ब्रह्म, परमात्मा आदि के लिए भी किया जाता है।

आध्यात्मिक गुरु अपनी पूजा, सेवा आदि का, जो भारत में इतनी प्रचलित है, समर्थन नहीं करता। आत्मज्ञानी मनीषी कहेगा कि एक प्रभु ही सच्चा गुरु है और सब उसके शिष्य हैं। ऐसा कहा जाता है कि शिष्य को फूलों से शहद ढूँढ़नेवाले भौंरे की तरह होना चाहिए। यदि भौंरे को एक फूल से शहद नहीं मिलता, तो वह तुरन्त दूसरे फूल के पास चला जाता है और उस फूल के समीप तब तक रहता है, जब तक उसे वहाँ मधु मिलता है। यतीश्वरानन्द का कहना है कि मानव-गुरु की पूजा और अंधे गुरुओंकी आध्यात्मिक विकास-मार्ग का रोड़ बन सकती है, जो गुरु तथा शिष्य दोनों के लिए हानिकारक है।

यज् ज्ञात्वा न पुनर् मोहम्, एवं यास्यसि पाप्डव ।

येन भूतान्य् अशेषेण, द्रक्ष्यस्य आत्मन्य् अथो मयि ॥३५॥

जिसे जानकर तुम पुनः इस प्रकार भ्रम को नहीं प्राप्त होगे; तथा, हे अर्जुन, इस ज्ञान के द्वारा तुम संपूर्ण भूतों को आत्मा—अर्थात् मुझ परब्रह्म परमात्मा—में देखोगे। (६.२९, ६.३०, ११.०७, ११.१३ भी देखें।) (४.३५)

सभी प्राणियों में ब्रह्म की ही जीवनशक्ति की ज्योति प्रतिबिम्बित होकर उन्हें प्रेरित और क्रियाशील करती है। अतः हम सभी एक दूसरे से जुड़े हैं और एक दूसरे का अभिन्न अंग हैं। ज्ञान के प्रभात में जब व्यक्ति में सर्वत्र, सबमें, एक ही आत्मा के प्रसार को देखने की क्षमता आ जाती है, तब वह परमात्मा में प्रवेश कर आत्मस्वरूप बन जाता है (गीता १८.५५)।

अपि चेद् असि पापेभ्यः, सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवनैव, वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सब पापियों से अधिक पाप करनेवाला मनुष्य भी सम्पूर्ण पापरूपी समुद्र को ब्रह्मज्ञानरूपी नौका द्वारा निस्सन्देह पार कर जायगा। (४.३६)

यथैधांसि समिदधोडन्निर्, भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

क्योंकि हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को जला देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्म (के सारे बध्नों) को भस्म कर देती है। (४.३७)

ब्रह्म के सच्चे ज्ञान की अग्नि पूर्वजन्मों के सभी संचित कर्मों को, जो आवागमन का मूल है, जला देती है। वर्तमान कर्म किसी नये क्रियमाण कर्म को जन्म नहीं देता, क्योंकि ज्ञानी जानता है कि समस्त कार्य प्रकृति की शक्तियों द्वारा किए जाते हैं और वह उनका कर्ता नहीं है। अतः आत्मज्ञान के उदय होने के पश्चात् ज्ञानी को युक्ति प्राप्त करने से पहले केवल अपने प्रारब्ध कर्मों का, जो वर्तमान जन्म के लिए उत्तरदायी हैं, निश्चेष करना ही रह जाता है। नया कर्म भौतिक शरीर और मन से प्रसूत होता है, सूक्ष्म शरीर भाग्य का वाहक है और नैमित्तिक शरीर (Causal body) पूर्व कर्मों का कोषागार है। कर्म शरीर को जन्म देता है और शरीर से कर्म पैदा होते हैं। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र अनन्तकाल तक चलता रहता है। सेवा या निष्कामकर्म ही इस वृत्त को झंग कर सकता है और निष्कामकर्म ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।

हानिलाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश सब कर्म के अधीन हैं। प्रारब्ध सर्वशक्ति-सम्पन्न है। ऐसा होने से व्यक्ति को न तो क्रुद्ध होना चाहिए, न किसी को दोष देना (तु.रा. २.७७.०७). लोगों को गुण-दोषों का ज्ञान रहता है; पर व्यक्ति की रुचि-अरुचि का चयन प्रारब्ध और संस्कार से नियमित है, क्योंकि मन और बुद्धिं प्रारब्ध और संस्कार के नियंत्रण में हैं। यदि समस्त प्रयत्नों के बाद भी सफलता नहीं मिलती, तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उद्यम से पुर्व ही प्रारब्ध विद्यमान है।

कर्मयोगी को स्वयं ही ज्ञान की प्राप्ति

न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रम् इह विघ्नेते ।

तत् स्वयं योगसंसिद्धः, कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस संसार में तत्त्वज्ञान के समान (अन्तःकरण को) शुद्ध करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस तत्त्वज्ञान को, ठीक समय आने पर, कर्मयोगी अपने-आप प्राप्त कर लेता है। (४.३१, ५.०६ भी देखें.) (४.३८)

प्रभुशक्ति की गहन अग्नि सब कर्म जला देती है और मन तथा बुद्धि को पवित्र कर शुतिमान कर देती है, वैसे ही जैसे सूर्य का प्रकाश पृथ्वी को ज्योतित करता है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है (भा.पु. ९९.०३.४०)। मन की शुद्धि होने तक व्यक्ति को यथाशक्ति निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिए (देवी.भा. ७.३४.९५)। सच्चा आत्मज्ञान शुद्ध मन में स्वतः ही प्रभासित हो जाता है। मुक्ति की ओर ले जाने के लिए कर्मयोग (सेवा) और आत्मज्ञान दो पंख हैं।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान्, साधन-परायण और जितेन्द्रिय मनुष्य तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त करता है। (४.३९)

मानसिक शोक और वेदना की अग्नि को, जो मोह से पैदा होती है, आत्मज्ञान के जल से ही पूर्णतः बुझाया जा सकता है (म.भा. ३.०२.२६)। ब्रह्मज्ञान के बिना सत्कर्म और सदविचार सम्मर नहीं हैं।

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च, संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन, श्रद्धाहीन तथा संशय करनेवाले (नास्तिक) मनुष्य का पतन होता है। संशय करनेवाले के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है। (४.४०)

ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के लिए अनिवार्य

योगसन्यस्तकर्माणं, ज्ञानसंचिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि, निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

हे धनंजय अर्जुन, जिसने कर्मयोग के द्वारा समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है तथा ज्ञान और विवेक द्वारा जिसके (परमात्मा के बारे में) समस्त संशयों का विनाश हो चुका है, ऐसे आत्मज्ञानी मनुष्य को कर्म नहीं बांधते हैं (४.४१)

तस्माद् अज्ञानसंभूतं, हृत्यं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वैनं संशयं योगम्, आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तुम अपने मन में स्थित इस अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काटकर समत्वरूपी कर्मयोग में स्थित होकर अपना कर्म (अर्थात् युद्ध) करो। (४.४२)

इस प्रकार ज्ञानमयकर्मयोग नामक चौथा अध्याय पूर्ण होता है।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

संन्यासयोगः

५. संन्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण, पुनर् योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोर् एकं, तन् मे ब्रह्म सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, आप कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में एक, जो निश्चितरूप से कल्याणकारी हो, मेरे लिए कहिए। (५.०५ भी देखें।) (५.०१)

कर्मसंन्यास से तात्पर्य है कर्तभाव, अधिकारभाव और कर्म में निहित स्वार्थभाव का परित्याग। यह कर्म या सांसारिक पदार्थों का त्याग नहीं है। कर्मसंन्यास का उदय ज्ञान-प्राप्ति के बाद ही होता है। अतः गीता में ज्ञान, सांख्य, संन्यास और कर्मसंन्यास शब्दों का प्रयोग समानार्थ में होता है। संन्यास जीवन का ध्येय है, कर्म और ज्ञान उसकी प्राप्ति के अनिवार्य साधन हैं। सच्चा संन्यास अपने तन, मन और विचार सहित समस्त कार्यों और सम्पत्ति को प्रभु की सेवा में अर्पित कर देना है।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च, निःश्रेयसकरात् उभौ ।

तयोस् तु कर्मसंन्यासात्, कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान बोले— कर्मसंन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही परम कल्याणकारक हैं, परन्तु दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। (५.०२)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी, यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो, सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है, वैसे मनुष्य को सदा संन्यासी ही समझना चाहिए; क्योंकि, हे महाबाहो, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित मनुष्य सहज ही बन्धन-मुक्त हो जाता है। (५.०३)

दोनों मार्ग परमात्मा की ओर ले जाते हैं

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः, प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकम् अप्य् आस्थितः सम्यग्, उभयोर् विन्दते फलम् ॥४॥

अज्ञानी लोग ही, न कि पण्डितजन, कर्मसंन्यास और कर्मयोग को एक दूसरे से भिन्न समझते हैं, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक में भी अच्छी तरह से स्थित मनुष्य दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है। (५.०४)

**यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद् योगैर् अपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च, यः पश्यति स पश्यति ॥५॥**

ज्ञानयोगियों द्वारा जो धार्म प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य कर्मसंन्यास और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही वास्तव में देखता (अर्थात् समझता) है। (६.०१, ६.०२ भी देखें.) (५.०५)

**संन्यासस् तु महाबाहो, दुःखम् आप्तुम् अयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर् ब्रह्म, नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥**

हे अर्जुन, कर्मयोग की निःस्वार्थ सेवा के बिना शुद्ध संन्यास-भाव (अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों में कर्त्तापन के भाव का त्याग) का प्राप्त होना कठिन है। सच्चा कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त करता है। (४.३१, ४.३८ भी देखें.) (५.०६)

**योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥७॥**

निर्मल अन्तःकरणवाला कर्मयोगी, जिसका मन और इन्द्रियां अपने वश में हैं और जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता। (५.०७)

कर्मयोगी प्रभु के लिए काम करता है

नैव किंचित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यत् शृण्वन् स्पृशत् जिघन्, अश्नन् गच्छन् स्वप्न् श्वसन् ॥८॥

प्रलपन् विसृजन् गृहणन्, उभ्मिषन् निमिषन् अपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्वज्ञान को जाननेवाला कर्मयोगी ऐसा समझता है कि मैं तो कुछ भी नहीं करता हूं। देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूचता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, देता, लेता, बोलता तथा आंखों को खोलता और बन्द करता हुआ भी वह ऐसा जानता है कि समस्त इन्द्रियां ही अपने-अपने विषयों में विचरण कर रही हैं। (३.२७, १३.२९, १४.१९ भी देखें) (५.०८-०९)

यदि इस आभास के सतत प्रयत्न से इन्द्रियों की क्रियाओं का शुद्धीकरण करलिया गया है कि “सभी (अच्छे-बुरे) कर्म प्रभु की सत्ता से ही किए जाते हैं”, तो इन्द्रियों के दमन की आवश्यकता ही नहीं रहती है।

ब्रह्मण्यु आधाय कर्मणि, सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन, पश्यपत्रम् इवाभ्यसा ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का त्यागकर, सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पण करता है, वह कमल के पत्ते की तरह पापरूपी जल से कभी लिप्त नहीं होता। (५.१०)

कर्मयोगी स्वार्थभाव से कुछ भी नहीं करता, अतः वह पाप का भागी नहीं होता। निःस्वार्थ सेवा सदा निष्पाप होती है। स्वार्थ ही पाप की जड़ है।

कायेन मनसा बुद्ध्या, केवलैर् इन्द्रियैर् अपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति, सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कर्मयोगीजन शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा आसक्ति को त्यागकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं। (५.११)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा, शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण, फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

कर्मयोगी कर्मफल को त्यागकर (अर्थात् परमेश्वर को अर्पणकर) परम शान्ति को प्राप्त होता है और सकाम मनुष्य कर्मफल में आसक्ति के कारण बंध जाता है. (५.१२)

आत्मज्ञान का मार्ग

सर्वकर्माणि मनसा, संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही, नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

कर्मयोगी सभी कर्मों (के फल) को सर्वथा त्यागकर न कोई कर्म करता हुआ और न करवाता हुआ नौ द्वार्याले शरीरस्थी घर में सुख से रहता है. (५.१३)

मानव-शरीर को नौ द्वारों का नगर कहा गया है (कठ.उ. ५.०७ तथा श्व.उ. ३.१८). ये नौ प्रवेश द्वार हैं— दो आँखों के, दो कानों के, दो नासिका के, एक मुख द्वार, एक मल द्वार तथा मृत्र मार्ग. वह प्रभु जो जीव रूप में इस पुरी में रहता है, पुरुष कहलाता है. पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों और विश्व का स्वामी भी है.

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस् तु प्रवर्तते ॥१४॥

ईश्वर प्राणियों में कर्तापन, कर्म तथा कर्मफल के संयोग को वास्तव में नहीं रचता है. प्रकृति मां ही (अपने गुणों से) सब कुछ करवाती है. (५.१४)

नादते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर किसी के पाप और पुण्य कर्म का भागी नहीं होता. अज्ञान के द्वारा ज्ञान के ढक दिए जाने के कारण ही सब जीव भ्रमित होते हैं (तथा पाप कर्म करते हैं). (५.१५)

ईश्वर न किसी को दण्ड देता है, न पुरस्कार. हमीं अपने विवेक और इच्छा-शक्ति के सदुपयोग या दुरुपयोग से स्वयं को पुरस्कृत या दण्डित करते हैं.

ज्ञानेन तु तद् अज्ञानं, येषां नाशितम् आत्मनः ।

तेषाम् आदित्यवज् ज्ञानं, प्रकाशयति तत् परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है, उनका तत्त्वज्ञान सूर्य की तरह सच्चिदानन्द परमात्मा को प्रकाशित कर देता है. (५.१६)

तद्बुद्धयस् तदात्मानस्, तत्रिष्ठास् तत्परायणाः ।

गच्छन्त्य् अपुनरावृत्तिं, ज्ञानिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जिनका मन और जिनकी बुद्धि परमात्मा में स्थित है, परमात्मा में जिनकी निष्ठा है, ब्रह्म ही जिनका परम लक्ष्य है, ऐसे मनुष्य ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर परमगति को प्राप्त होते हैं (अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (५.१७)

आत्मज्ञानी के अन्य लक्षण

विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

ज्ञानीजन (सबमें परमात्मा को ही देखने के कारण) विद्या और विनय से सम्पन्न ब्रह्मण तथा गाय, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि सब को समभाव से देखते हैं। (६.२९ भी देखें.)
(५.१८)

जिस प्रकार कोई मनुष्य भुजा या टांग आदि शरीर के अवयवों को शरीर से शिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार आत्मज्ञ व्यक्ति किसी प्राणी को ब्रह्म से शिन्न नहीं देखता (आ.पु. ४.०७.५३)। इस तात्त्विक ज्ञान के बाद व्यक्ति हर वस्तु को श्रद्धधा, करुणा और दया की दृष्टिसे देखता है, क्योंकि हर वस्तु ब्रह्म के ब्रह्माण्ड-स्वरूप का अभिन्न अंग है।

इहैव तैर जितः सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

ऐसे समदर्शी मनुष्यों ने इसी जीवन में संसार के सम्पूर्ण कार्यों को सम्पन्न कर लिया है, वे ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। (१८.५५ तथा छा.उ. २.२३.०१ भी देखें.) (५.१९)

मनमें सबके प्रति समता का भाव लाना ही भगवान की सबसे बड़ी पूजा है (आ.पु. ७.०८.१०). जिनमें समता का भाव नहीं है, वे भ्रेदभाव करते हैं। इसलिए अन्याय और भ्रेदभाव के शिकार व्यक्तियों को भ्रेदभाव करनेवालों को दयनीय मानना चाहिए, और उत्तेजित होने, कुद्धध होने या बदला लेने के स्थान पर प्रशु से उनके हृदय-परिवर्तन की प्रार्थना करनी चाहिए।

न प्रहृष्टेत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिर् असंभृदो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो मनुष्य प्रिय को प्राप्तकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्तकर उद्घिन न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि, संशयरहित और ब्रह्म को जाननेवाला मनुष्य परब्रह्म परमात्मा में नित्य स्थित रहता है। (५.२०)

ब्रह्मस्पर्शोच्च असक्तात्मा, विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सुखम् अक्षयम् अश्नुते ॥२१॥

ऐसा ब्रह्मयुक्त व्यक्ति अपने अन्तःकरण में ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर इन्द्रियों के विषयों से अनासक्त हो जाता है और अविनाशी परम सुख का अनुभव करता है। (५.२१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा, दुःखयोनय एव ते ।

आधन्तवन्तः कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले सुखों का आदि और अन्त होता है तथा वे (अन्त में) दुःख के कारण होते हैं। इसलिए, हे कौन्तेय, बुद्धिमान् मनुष्य उनमें आसक्त नहीं होते। (१८.३८ भी देखें.) (५.२२)

सुधीजन ऐन्द्रिय सुखों की निस्सारता पर सतत विचार करते हैं, इसीलिए वे ऐन्द्रिय कामनाओं के शिकार नहीं होते।

शक्वनोतीहैव यः सोऽुं, प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्व्रवं वेगं, स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य मृत्यु से पहले काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वही योगी है और वही सुखी है। (५.२३)

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्, तथान्तरं ज्योतिर् एव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं, ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो योगी आत्मा में ही सुख पाता है, आत्मा में ही रमण करता है तथा आत्मज्ञानी है, वह ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है। (५.२४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्, क्रषयः क्षीणकल्पषः ।

छिन्नद्रौद्धा यतात्मानः, सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सभी संशय ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके हैं, जिनका मन वश में है और जो सभी प्राणियों के हित में रत रहते हैं, ऐसे ब्रह्मवेत्ता मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (५.२५)

तीसरा मार्ग— भक्तिमय ध्यानयोग

कामक्रोधवियुक्तानां, यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं, वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम और क्रोध से रहित, जीते हुए चिन्तवाले तथा आत्मज्ञानी यतियों को आसानी से ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है। (५.२६)

स्पर्शान् कृत्वा बहिर् बाह्यांश्, चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ सपौ कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्, मुनिर् मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो, यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

विषयों का चिन्तन न करता हुआ, नेत्रों की दृष्टि को भौंहों के बीच में स्थित करके, नासिका में विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियां, मन और बुद्धि वश में हैं, मोक्ष जिनका परम ध्येय है तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है। (५.२७-२८)

सूक्ष्म नाड़ियों मनुष्य के शरीर में ब्रह्म की शक्ति प्रवाहित होने के सूक्ष्म मार्ग हैं। जब मेरुरज्जु (Astral spinal chord) में इडा और पिङ्गला नाड़ियों के माध्यम से प्रवाहित ब्रह्माण्ड-संचरण धाराएँ—महामुद्रा क्रिया या ऐसी अन्य योगिक प्रक्रियाओं के अस्यास से—सुषुम्ना नाड़ी के खुलने पर अलग हो जाती हैं, तब श्वास नासिका के दोनों नथुनों से समान भार से निकलते हैं, मन प्रशान्त हो जाता है और समाधि की ओर ले जानेवाले गहन ध्यान की श्रूति तैयार हो जाती है।

भोक्तारं यज्ञातपसां, सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां, ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति ॥२९॥

मेरा भक्त मुद्दिको सब यज्ञ और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और सप्तस्त प्राणियों का मित्र जानकर शान्ति को प्राप्त करता है। (५.२९)

इस प्रकार सन्न्यासयोग नामक पांचवा अध्याय पूर्ण होता है।

अथ षष्ठोऽध्यायः

आत्मचिन्तनयोग

६. ब्रह्मविचारयोग

कर्मयोगी भी संन्यासी है

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं, कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर् न चाक्रियः ॥१॥

श्रीभगवान बोले— जो मनुष्य केवल कर्मफल (के भोग) के लिए ही कर्म नहीं करता, वही सच्चा संन्यासी और योगी है, केवल अग्नि का त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं होता तथा क्रियाओं का त्यागनेवाला योगी नहीं होता. (६.०१)

यं संन्यासम् इति प्राहुर्, योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्य असंन्यस्तसंकल्पो, योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव, जिसे संन्यास कहते हैं, उसीको तुम कर्मयोग समझो, क्योंकि स्वार्थ के त्याग के बिना मनुष्य कर्मयोगी नहीं हो सकता. (५.०१, ५.०५, ६.०१, १८.०२ भी देखें.) (६.०२)

योग और योगी की परिभाषा

आरुक्षोर् मुनेर् योगं, कर्म कारणम् उच्यते ।

योगारुदस्य तस्यैव, शामः कारणम् उच्यते ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु, न कर्मस्य अनुषज्जते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगारुदस् तदोच्यते ॥४॥

निष्काम कर्मयोग को समत्वयोग की प्राप्ति का साधन कहा गया है और योगारुद साधक के लिए समत्व (अर्थात् मानसिक संतुलन, आत्मसंयम) ही ईश्वरप्राप्ति का साधन है. जब मनुष्य इन्द्रियों के भोगों में तथा कर्मफल में आसक्त नहीं रहता, तब सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करनेवाले (संतुलित) व्यक्ति को योगी कहते हैं. (६.०३-०४)

योगसिद्धि तभी पूर्णता को प्राप्त होती है, जब व्यक्ति अपने समस्त कर्म परमप्रभु श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए करता है निःस्वार्थ सेवा मन की शान्ति को जन्म देती है. जब व्यक्ति मात्र कर्तव्य-शाव से—किसी स्वार्थ के बिना—कर्म करता है, तब मन असफलता के भय से विचलित नहीं होता है, वरन् शान्त रहता है और व्यक्ति ध्यान के माध्यम से योगसिद्धि पा लेता है. मन की समवित्तता, जो आत्मज्ञान के लिए अनिवार्य है, संकल्प (अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों और कामनाओं) के परित्याग के बाद ही आती है. कामनाविहीन मन शान्त हो जाता है. अतः ध्यानयोग में सफलता पाने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए निष्काम कर्मयोग अनिवार्य है. ध्यान की परिपूर्णता का परिणाम होता है इन्द्रियों का वशीकरण, जिससे चित्त शान्त होता है और शान्त चित्त प्रभु प्राप्ति की ओर ले जाता है.

मन श्रेष्ठतम् मित्र, और सबसे बड़ा शत्रु भी

उद्धरेद् आत्मनात्मानं, नात्मानम् अवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुर्, आत्मैव रिपुर् आत्मनः ॥५॥

बन्धुर् आत्मात्मनस् तस्य, येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस् तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

मनुष्य अपने मन और बुद्धि द्वारा अपना उद्धार करे तथा अपना पतन न करे, क्योंकि मन ही मनुष्य का मित्र भी है और मन ही मनुष्य का शत्रु भी. जिसने अपने मन और

इन्द्रियों को बुद्धि द्वारा जीत लिया है, उसके लिए मन उसका मित्र होता है, परन्तु जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं होतीं, उसके लिए मन शत्रु के समान आचरण करता है। (६.०५-०६)

इस संसार में अनियंत्रित कुमारगामी मन को छोड़कर कोई दूसरा शत्रु नहीं है (आ.पु. ७.०८.१०). अतः व्यक्ति को चाहिए कि सबसे पहले दृढ़-प्रतिज्ञा होकर प्रयत्नपूर्वक ध्यान के सतत अभ्यास से इस शत्रु पर विजय प्राप्त करे, उस पर नियंत्रण करने का प्रयास करे. समस्त आध्यात्मिक साधनाओं का ध्येय मन पर विजय पाना ही है। गुरु नानकदेव का कहना है— मन को वश में करो, संसार तुम्हारे वश में होगा। पतंजलि ऋषि ने वित्त की विचार-तंत्रगांणों पर नियंत्रण को योग कहा है (प.यो.सू. १.०२). मन और इन्द्रियों पर दृढ़ नियंत्रण ही योग कहलाता है (कठ.ज. ६.९९). मन और इन्द्रियों के नियंत्रण को ही तप और योग कहते हैं (म.भा. ३.२०६.५३). योगी का मन उसके वश में रहता है, योगी मन के वश में नहीं होता। चंचल मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर प्रयासहीन नियंत्रण और मन को प्रभु की ओर ले जाना ही ध्यान है। योगी भजन कहते हैं कि एक लक्ष्य विश्रान्त मन सर्वशक्तिमान् और रचनात्मक मन है, वह सब कुछ कर सकता है।

जीव के लिए मन ही बन्धन और मुक्ति दोनों का कारण है। विषयों में आसक्त होने से मन बन्धन का हेतु होता है और वही मन परमप्रभु श्रीकृष्ण में अनुरक्त होने पर मोक्ष का कारण बन जाता है (आ.पु. ३.२५.१५). अकेला मन ही मानव की मुक्ति और बन्धन दोनों का कारण है। इन्द्रियों द्वारा नियंत्रित होकर मन बंधन का कारण बन जाता है और बुद्धि द्वारा नियंत्रित होकर मुक्ति का (वि.पु. ६.०७.२८). किसी भी साधना के लिए मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण पहली अनिवार्य शर्त है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का स्वामी नहीं बन सका है, वह आत्मज्ञान के लक्ष्य की ओर प्रगति नहीं कर सकता। अतः मन की क्रियाओं पर नियंत्रण करने के बाद व्यक्ति को ऐन्द्रिय सुखों से मन हटाकर भगवान् कृष्ण पर केन्द्रित करना चाहिए। जब मन ऐन्द्रिय सुखों से विरत होकर श्रीकृष्ण में लीन होता है, तब ऐन्द्रिय आवेग प्रभावशून्य हो जाते हैं, क्योंकि इन्द्रियों अपनी शक्ति मन से ही पाती हैं। मन अन्य पांचों इन्द्रियों का शासक है। जो मन का स्वामी है, वह सब इन्द्रियों का स्वामी हो जाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने मन को अपने वश में कर लिया है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में शान्त रहता है, ऐसे जितेन्द्रिय मनुष्य का मन सदा परमात्मा में स्थित रहता है। (६.०९)

मन के शान्त और सब कामनाओं से मुक्त होने पर ही व्यक्ति को प्रभु की अनुशूलि हो सकती है। जो मन के स्वामी हैं, वे ही ज्ञान और आनन्द की आध्यात्मिक निषि पाते हैं। मन-मानस के पूर्णतः प्रशान्त होने पर ही आत्मज्ञान सम्भव है, वैसे ही जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब झील में तभी दिखाई देता है, जब जल शान्त हो। (गीता २.७० भी देखें।)

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कृटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाच्चनः ॥८॥

ब्रह्मज्ञान और विवेक से परिपूर्ण, जितेन्द्रिय और समन्व बुद्धिवाला मनुष्य, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, परमात्मा से युक्त अर्थात् योगी कहलाता है। (६.०८)

सुहन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्व अपि च पापेषु, समबुद्धिर् विशिष्यते ॥९॥

जो मनुष्य सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, सम्बन्धियों, धर्मात्माओं और पापियों
में भी समान भाव रखता है, वह श्रेष्ठ समझा जाता है। (६.०९)

ध्यान के तरीके

योगी युञ्जीत सततप्, आत्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीर् अपरिग्रहः ॥१०॥

आशारहित और स्वामित्वरहित साधक अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके, एकान्त स्थान में अकेला बैठकर, मन को निरन्तर परमात्मा की महिमा, करुणा, दिव्य-शक्तियां, विस्तार, आदि के **विन्तन-मनन** में लगाए। (६.१०)

ध्यान-स्थली में हिमालय की गन्ध-शब्द-प्रकाश-हीन गुफा का गम्भीर, प्रशान्त, एकान्त और आध्यात्मिक वातावरण होना चाहिए। अलौकिक देव-प्रस्तर-प्रतिमाओं से भरे विशाल भवन ही काफी नहीं हैं। विशाल भवन आदि के लिए आध्यात्मिकता को बलिदान करना पड़ता है और वे केवल धार्मिक व्यापार में ही सहायक हैं।

पतंजलि के योगसूत्रों के अनुसार (प.यो.सू. २.२६) ध्यानयोग के आठ सोपान हैं— (१) यम. (२) नियम. (३) आसन. (४) प्राणायाम. (५) प्रत्याहार. (६) धारणा. (७) ध्यान. और (८) समाधि।

व्यक्ति को ध्यानयोग के विकास के लिए समुचित निरीक्षण में एक-एक करके इन आठ पा, यम और नियम (श्लोक १६.२३ देखिए) द्वारा परिष्कार के बिना प्राणायाम और ध्यान विधि का प्रयोग मस्तिष्क की घातक विक्षिप्त अवस्था को जन्म दे सकता है। महर्षि पतंजलि का कहना है— ध्यानयोग के लिए आसन स्थिर, सहज और व्यक्ति के भौतिक शरीर के लिए आरामदायक होना चाहिए (प.यो.सू. २.४६)।

प्राणायाम फेफड़ों में जबर्दस्ती—और प्रायः हानिकारक—श्वास का रोकना नहीं है, जैसा कि प्रायः गुलती से समझा जाता है तथा भूल से किया जाता है। पतंजलि ने प्राणायाम की परिभाषा की है— श्वास-प्रक्रिया-प्रेरक जीव-आवेगों अथवा सूक्ष्म जीवन-शक्तियों, अर्थात् प्राण पर नियंत्रण करना (प.यो.सू. २.४६)। यह हमारी श्वासों को नियंत्रित करनेवाले प्रेरक यंत्र और ऐन्ड्रिय नसों को सक्रिय बनानेवाले आवेगों को, जिनके ऊपर साधारणतः हमारा काई नियंत्रण नहीं है, हठयोग की मानक विधियों—आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं—का प्रयोग करके नियंत्रित करने अथवा मन्द करने की क्रमिक प्रक्रिया है। जब शरीर अन्तःकरण में प्रवाहित सर्वविद्यमान ऊर्जा-प्रवाह के विशाल भंडार द्वारा अत्यन्त ऊर्जशील हो जाता है, तब श्वास लेने की आवश्यकता समाप्त या कम हो जाती है और योगी आध्यात्मिक यात्रा के अन्तिम सोपान, समाधि अवस्था, को पा लेता है। उपनिषद् का कहना है— कोई भी प्राणी केवल श्वास-वायु पर ही जीवित नहीं रहता। प्राणी किसी और वस्तु पर निर्भर रहते हैं (कठ.उ. ५.०५)। श्वास-रज्जु जीव को शरीर और मन से ग्रंथित करता है। समाधि की श्वासहीन अवस्था में योगी जीव को इस ग्रंथि से मुक्त करके परमपिता परमात्मा से बांधता है।

प्रत्याहार अथवा इन्द्रिय-निग्रह योगी के ध्येय की प्राप्ति में प्रमुख बाधा है। जब इन्द्रिय-निग्रह कर लिया जाता है, तब धारणा (एकाग्रता), ध्यान और समाधि में निष्पात होना बहुत सुगम हो जाता है। मन को प्रशिक्षित बुद्धि का अनुसरण करने के लिये नियंत्रित किया जाना चाहिए; और श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद, ध्वनि आदि स्थूल ऐन्ड्रियक पदार्थों की ओर आकर्षित होने से रोकना चाहिए। मन स्वभावतः अस्थिर है, चंचल है। प्रकृत श्वास-प्रवाह के

अन्तर्बहिर्गमन का निरीक्षण करना तथा एकान्तर श्वास (एलतेन्अंते श्रेआत्हनि) लेना मन को स्थिर बनाने में सहायक होता है।

इन्द्रिय-निग्रह की दो सर्वसामान्य विधियां हैं— (१) अपनी भौहों के बीच के बिन्दु पर ध्यान पूर्णतः केन्द्रित करना और वहां एक कल्पित श्वेत आवर्तित प्रकाश के क्षेत्र का विस्तृत होते हुए निरीक्षण करना। (२) दीर्घकाल तक पूर्ण सम्मावित वेग से मन ही मन मंत्र जपना और उस मंत्र-ध्वनि में तब तक सम्पूर्णतः लीन हो जाना, जब तक कि पास में रखी घड़ी की टिकटिक ध्वनि का सुनना बन्द न हो जाये। मन की अस्थिरता के घटने और बढ़ने साथ ही मन ही मन जपे मंत्र का वेग और आवाज भी घटते और बढ़ते रहना चाहिए।

दैवी प्रतिमा के किसी विशेष भाग पर, मंत्र-ध्वनि पर, शरीर के विभिन्न ऊर्जा-वर्कों पर, भौहों के मध्य भाग पर, नासिका के कोण बिन्दु पर अथवा वक्षस्थल केन्द्र में स्थित एक कल्पित रोहित कमल पर ध्यान केन्द्रित करने से मन शान्त हो जाता है और श्रमित होने से रुक जाता है।

योगी को भगवान् कृष्ण के अल्लौकिक रूप पर तब तक ध्यानावस्थित रहना चाहिए, जब तक कि वह रूप मन में सतत विद्यमान नहीं हो जाता। पूर्णतः केन्द्रित अल्पकालीन ध्यान विकेन्द्रित दीर्घकालीन ध्यान से अच्छा है। किसी एक ध्यान-पात्र पर मन को १२ सैकिन्ड, ढाई मिनट तथा आधा घन्टा तक केन्द्रित रखना क्रमशः धारणा, ध्यान और समाधि माना जाता है। ध्यान और समाधि धारणा से उत्पन्न स्वतः फल है। जब मन का ध्यान ध्यान-वस्तु से इधर-उधर भटकना बन्द हो जाता है, तब ध्यानावस्था होती है।

समाधि की निम्न अवस्था—सविकल्प समाधि—में मन दैवी प्रतिमा के मुख, चरण आदि किसी एक विशेष भाग पर इतना केन्द्रित हो जाता है कि वह सब कुछ भूल जाता है। यह जाग्रत अवस्था के स्वप्न-जैसा है, जिसमें व्यक्ति अपने मन, विचार और वातावरण से अवगत रहता है। समाधि की उच्चतम अवस्था—निर्विकल्प समाधि—में शरीर शान्त और निःस्पन्द हो जाता है और मन को परम सत्य के विभिन्न पहलुओं की अनुभूति होती है। मन की व्यक्तिगत अस्मिता का लोप हो जाता है और वह ब्रह्म में लीन होकर एक हो जाता है।

निर्विकल्प समाधि मन की उच्चतम परम चैतन्य अवस्था है। मन की इस अवस्था में साधारण मानवीय चैतन्य ब्रह्म-चैतन्य से जुड़ जाता है या उसे आत्मसात् कर लेता है। मानव का विचार-संदेश श्वास-विहीन अवस्था में पहुंच जाता है तथा शान्ति और परमानन्द को छोड़कर कुछ भी अनुभव नहीं करता। निर्विकल्प अवस्था में सिर की चोटी पर सहस्रार-चक्र खुल जाता है तथा मन असीम में लीन हो जाता है। उस समय कोई मन या विचार नहीं रहता; केवल सत्, चित् और आनन्द की अनुभूति। इस अवस्था को प्राप्त हुए व्यक्ति को परमहंस की संज्ञा दी जाती है।

शुचौ देशो प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम् आसनम् आत्मनः ।

नात्युच्छितं नातिनीचं, चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युच्याद्, योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

साधक स्वच्छ भूमि के ऊपर क्रमशः कुश, मृगचाला और वस्त्र बिछे हुए अपने आसन पर जो न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा हो बैठकर मन को परमात्मा में एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ध्यानयोग का अभ्यास करे। (६.११-१२)

समं कायशिरोग्रीवं, धारयन् अचलं स्थिः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्चानवलोक्यन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीरु, ब्रह्मचर्यवते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अपने शरीर, गर्दन और सिर को अचल और सीधा रखकर, कहीं दूसरी ओर न देखते हुए, अपनी आँख और ध्यान को नासिका के अग्र-भाग पर जमाकर, ब्रह्मचर्यवत में स्थित, भयमुक्त तथा शान्त होकर, मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर, मुझमें ध्यान लगाए। (४.२९, ५.२७, ८.१०, ८.१२ भी देखें।) (६.१३-१४)

यरमहंस हरिहरानन्द गिरि जी का सुझाव है कि भौहों के बीच में चार इंच गहरे पैरते हुए पीयूष-ग्रन्थि (*Pituitary gland*) के निकट एकाग्रचित्त होकर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए ऋषिकेश के स्वामी शिवानन्द का सुझाव है क्रियायोग की एक मुद्रा—नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करना—अपनाने का। प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करने से आँखें अभ्यस्त और अभिमुख हो जाएंगी तथा नासिका के दोनों किनारे दिखने लगेंगे। नासिकाग्र पर दृष्टि गड़ाते हुए नथुनों से प्रवाहित होती श्वास की गति पर ध्यान केन्द्रित हो। दस मिनट के बाद आँखें बन्द करके भौहों के बीच में एक काले कल्पित बिन्दु को देखें। यदि कोई प्रकाश दिखे, तो उसपर ध्यान केन्द्रित करें, क्योंकि यह प्रकाश समस्त अनुभूति को आत्मसात् करके योग शास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार समाधि की ओर ले जा सकता है। “नासिकाग्रम्” का अर्थ नाक के छेद के सामने का भाग भी लिया जा सकता है। नौसिखिया को भौहों के मध्यस्थल पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जैसा कि श्लोक ५.२७ में कहा गया है, या श्लोक ८.१२ में इंगित वक्ष-कन्द्र पर। सद्गुरु की सहायता आवश्यक हो सकती है।

मन को प्रशान्त करने और प्रसुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। सूक्ष्म शरीर की शुद्धिके लिए ब्रह्मचर्य और कुछ प्राणायाम आवश्यक हैं। जैसे सूक्ष्म शरीर का पोषण शुक्रीय और अण्डाशारी ऊर्जा से होता है, शास्त्र मां ने अपने शिष्यों को विपरीत योनिवालों से घनिष्ठ न होने की चेतावनी दी है, भले ही उस रूप में स्वयं भगवान् भी क्यों न आएं। पश्चिम में आध्यात्मिक जीवन में ब्रह्मचर्य के महत्व की उपेक्षा की गई है, क्योंकि अधिकतर लोगों के लिए ब्रह्मचर्य सरल काम नहीं है। यदि ब्रह्मचर्य का आचरण सम्भव नहीं है, तो व्यक्ति को आध्यात्मिक यात्रा में सफलता पाने के लिए उपयुक्त जीवन-साथी चुन लेना चाहिए। शिष्यों पर जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य को थोपना बहुत घातक है। शास्त्र का कथन है—जिस प्रकार दुर्ग की प्राचीरों से सुरक्षित राजा अविजय शत्रु पर भी विजय पा लेता है, वैसे ही जो लोग मन और इन्द्रियों पर विजय पाना चाहते हैं, उन्हें गृहस्थ जीवन जीकर मन और इन्द्रियों को वश में करना चाहिए (भा.पु. ५.०७.९८)।

यौनसंवेग का शुद्धीकरण बोधि से पहले आता है (अथ.वे. ११.०५.०५)। अपने विषयभोग में सम्भाहित कोई एक ही इन्द्रिय बुद्धि को खोखला कर सकता है, जैसे कि जलपात्र में हुआ एक ही छेद उसे जल-शून्य कर सकता है (म.स्मृ. २.६६)। विषयों में इन्द्रियों को रत करने से व्यक्ति पाप का भागी होता है और इन्द्रियों को नियंत्रण में लाने से सिद्धियों पाता है (म.स्मृ. २.६३)। प्रजनक ऊर्जा की जीवनशक्ति का रूपान्तरण योग की ओर ले जाता है।

समस्त मानव-शरीरों में प्रभु को विद्यमान देखने और मन ही मन उन्हें नमन करने से व्यक्ति सम्मोग से ऊपर उठ सकता है।

युज्ज्ञन् एवं सदात्मानं, योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां, मत्संस्थाम् अधिगच्छति ॥१५॥

इस तरह **सदा मन को परमात्मा के चिन्तन-मनन में ध्यान लगाने का अभ्यास कराता हुआ** संयमित मनवाला योगी परम निर्वाणरूपी शान्ति (अर्थात् मुक्ति) प्राप्तकर मेरे पास आता है। (६.१५)

मन की समता ध्यान की ओर ले जाती है; यह ध्यान नहीं है। ध्यान स्वयं को जानने की एक प्रक्रिया है। उपनिषद् (TaU 3.2) में इसे स्वयं को जानने के लिए ब्रह्म पर गहन चिंतन-मनन के रूप में उचित रूप से परिभाषित किया गया है। उचित ध्यान के बिना स्वज्ञान संभव नहीं है।

नात्यश्नतस् तु योगोऽस्ति, न चैकान्तम् अनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

परन्तु हे अर्जुन, यह योग उस मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता, जो अधिक खानेवाला है या बिल्कुल न खानेवाला है तथा जो अधिक सोनेवाला है या सदा जागनेवाला है। (६.१६)

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

समस्त दुःखों का नाश करनेवाला यह योग नियमित आहार और विहार, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा तथा यथायोग्य सोने और जागनेवाले को ही सिद्ध होता है। (६.१७)

गीता की शिक्षा हर हालत में जीवन के सभी क्षेत्रों में अति का त्याग करने की है। गीता के इस संतुलित संयम की अर्थर्थना भगवान् बुद्ध ने भी की है, जिन्होंने इसको मण्डिग्राम निकाय, मध्यमार्ग, सत्यमार्ग और आर्षमार्ग कहा है। व्यक्ति को अनियंत्रित कामनाओं में लीन होने तथा उसके विपरीत शरीर और मन को यातना देनेवाले योगानुशासन दोनों ही पराकाष्ठाओं से बचना चाहिए।

यदा विनियतं चित्तम्, आत्मन्य एवावतिष्ठते ।

निःशृङ्: सर्वकामेभ्यो, युक्त इत्यु उच्यते तदा ॥१८॥

जब पूर्णरूप से वश में किया हुआ चिन्त समस्त कामनाओं से रहित होकर परमात्मा में ही भलीभांति स्थित हो जाता है, तब मनुष्य योगी कहलाता है। (६.१८)

यथा दीपो निवातस्थो, नेझगते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य, युज्ज्जतो योगम् आत्मनः ॥१९॥

जिस तरह वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता; परमात्मा में लगे हुए योगी के समाहित चित्त की वैसी ही उपमा दी गई है। (६.१९)

यत्रोपरमते चित्तं, निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं, पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥२०॥

जब ध्यानयोग के अभ्यास से चित्त शान्त हो जाता है, तब साधक परमात्मा को (ध्यान से शुद्ध हुए मन और) बुद्धिंद्वारा देखकर परमात्मा में ही संतुष्ट रहता है। (६.२०)

आत्मा सब प्राणियों में विद्यमान है, वैसे ही जैसे अग्नि सब लकड़ियों में संघर्षण लकड़ियों में विद्यमान अग्नि को आंखों से दर्शनीय बनाता है, वैसे ही ध्यानयोग के द्वारा शरीर में बसे आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है (भ.भा. १२.२९०.४२). ब्रह्मज्ञान के लिए मन की समाधिस्थ अवस्था आवश्यक है। यह समाधिस्थ मनोस्थिति, जो देश और काल से सीमित नहीं है, सबको लभ्य है।

असीम की अनुभूति तर्क से सम्भव नहीं। अनादि परम सत्ता की प्रकृति के ज्ञान में तर्क शक्तिहीन है। तर्कशीलता नहीं, अन्तरानुभूति सर्वोच्च आत्मशक्ति है। ज्ञान की सम्पूर्ण ग्राह्यता आत्मा से आती है, श्रमित इन्द्रियों या तर्क से नहीं। आत्मा का दर्शन निर्विकल्प समाधि की अन्तरानुभूति (अन्तज्ञान, *Intuition*) से ही सम्भव है, अन्य किसी साधन से नहीं। श्री योगानन्द जी कहते हैं: अनन्त ज्ञान के सागर को समाहित करने के लिए ध्यानयोग अन्तरानुभूति के पात्र को विस्तृत करता है।

सुखम् आत्मनिकं यत् तद्, बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं, स्थितश्च चलति तत्त्वतः ॥२१॥

योगी इन्द्रियों से परे, बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य, अनन्त सुख का अनुभव करता है; जिसे पाकर वह परमात्मा से कभी दूर नहीं होता। (कठ.उ. ३.१२ भी देखें.) (६.२१)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं, मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

परमात्मा की प्राप्ति के बाद साधक उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता। इस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता। (६.२२)

तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

दुःख के संयोग से वियोग ही योग कहलाता है, जिसे जानना चाहिए, तथा इस ध्यानयोग का अभ्यास उत्पाद और निश्चयपूर्वक करना चाहिए। (६.२३)

सुदृढ़ विश्वास के साथ दीर्घकाल तक किए गए ध्यान के अनवरत कष्टसाध्य अभ्यास के बाद ही योगसिद्धि होती है (प.यो.सू. १.१४)

संकल्पप्रभवान् कामांस्, त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं, विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरु उपरमेद्, बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किञ्चिद् अपि चिन्तयेत् ॥२५॥

सम्पूर्ण सकाम कर्मों का परित्यागकर, बुद्धि द्वारा सभी इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करके, अन्य कुछ भी चिन्तन न करता हुआ, धीरे-धीरे अभ्यस्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में लगाकर साधक शान्ति प्राप्त करता है। (६.२४-२५)

आध्यात्मिक साधना की सहायता से जब मन अहं और ममत्व के भ्राव से उत्पन्न काम और लोभ की अपावनता से मुक्त हो जाता है, तब वह भौतिक सुख और विषाद की स्थितियों में समान रहता है (आ.पु. ३.२५.१६).

यतो यतो निश्चरति, मनश्चञ्चलम् अस्थिरम् ।

ततस् ततो नियम्यैतद्, आत्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यह चंचल और अस्थिर मन जिन-जिन विषयों में विचरण करे, हम मन को वहां से हटाकर ब्रह्मविचार में लगाते रहें। (६.२६)

काम की दुनिया में विचरने और भटकने के लिए मन बहुत खेल खेलता है। ध्यानी व्यक्ति को—इस बात पर मनन करते हुए कि व्यक्ति शरीर नहीं, आत्मा है—अपना मन सदा ब्रह्म में लगाये रखना चाहिए। मन के विचरण को सहज भाव से देखकर, उसपर हँसते हुए, व्यक्ति को चाहिए कि वह मन का निरीक्षण करता रहे।

मन—ब्रह्मानुभूति के अभाव में—छलबल से इन्द्रिय-जनित भोगों के विश्व में विचरता है, श्रमित होता है, भटकता रहता है, क्योंकि यह उसका नियतिगत स्वभाव है। मननशील ध्यानस्थ व्यक्ति को यह सोचकर कि व्यक्ति आत्मा है, शरीर नहीं, मन को सदा आत्मा में लगाना चाहिए। मन के विचरण को देखो, और उस पर हँसो तथा सहजता से उसे वापिस आत्मा के निरीक्षण में लाओ।

हमें अपने व्यक्तिगत अनुभव से पता है कि मन को वश में करना अत्यन्त ही कठिन है। वायु पर नियंत्रण पाने के समान मन को वश में करना एक असाध्य कार्य है। मन को केवल निष्ठापूर्वक किए गए अभ्यास और अनासक्ति से ही नियंत्रित किया जा सकता है (गीता ६.३४-३५)। किन्तु अधिकतर आव्यकारों का कहना है कि जब ध्यान के समय मन विचरना शुरू करे तब उसे वापस आत्म-विचार में लगाना चाहिए।

आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से श्रेष्ठ माना गया है (गीता ३.४२)। इस प्रकार हम आत्मा की अनुभूति का उपयोग मन को नियंत्रित करने में कर सकते हैं। परम पूज्य गुरुदेव महामहिम स्वामी विश्वास जी ने ऊपर दिए गीता के श्लोक ६.२६ की अपनी व्याख्या के आधार पर ध्यानयोग की एक सरल प्रणाली विकसित की है। इस सिद्धान्त पर आधारित (कि मन को कभी भी निरीक्षणहीन विचरने न दें) ध्यान की ‘विश्वास-प्रणाली’ का वर्णन नीचे किया जा रहा है:

श्लोक ६.१३ में दी गई ध्यान-मुद्रा धारण करें। किसी भी काम को आरम्भ करने से पहले अपने इष्टदेव, जिसमें व्यक्ति का विश्वास है, का स्मरण करना तथा उसकी कृपा की कामना करना चाहिए। हिन्दुओं को भगवान गणेश का भी स्मरण करना चाहिए।

ध्यानयोग या किसी भी आध्यात्मिक अभ्यास का मूल उद्देश्य अपने को बाह्य जगत् और इसके कार्य-कलाप से बाहर निकाल कर अन्तर्यात्रा को आरम्भ करना और अन्तर्मुखी होना है। सदा याद रहे कि व्यक्ति शरीर या मन नहीं है, वरन् है आत्मा, जो शरीर-मन-समाज से पृथक् और श्रेष्ठ है। अपनेको शरीर-मन-समाज से अनासक्त करें और ध्यान के समय आत्मा को साक्षी बनाएं। बाहरी दुनिया से अपने को हटाकर अपनी दृष्टि अपनी रुचि के (पीयूष-ग्रन्थि, नाक के अग्रभाग, बष्ट-चक्र, हृदय-केन्द्र अथवा नाभि-केन्द्र आदि) किसी भी केन्द्र पर लगाएं, जहां आप सहज अनुभव करें। अपने मन में उठनेवाले विचारों के प्रति बिना अच्छे-बुरे के निर्णय की चिन्ता किए केवल मन की क्रियाओं के साक्षी बनें। सहज-शान्त भाव से मन-रथ के पिछले भाग में बैठकर आनन्दयात्रा करें तथा विचार-लोक में मन की गति को देखते रहें। मन विचरण करेगा ही, क्योंकि यह इसकी प्रकृति है। आरम्भ में मन शान्त नहीं रहेगा। मन की गति को कम करने, उसको दबाने या नियंत्रित करने का प्रयत्न न करें। उसे वापिस लाकर किसी वस्तु या विचार पर केन्द्रित करने का या किसी मंत्र का जाप आदि भी न करें।

अपनेको मन से पूर्णतः अनासक्त करके मनरूपी माया की लीला देखते रहें। शुल्षें नहीं कि आपका काम अपनी उच्चतर सत्ता, आत्मा, के द्वारा अपनी निम्न सत्ता, मन, को देखना

है। मन की वृत्ति के प्रति आसक्त न बनें, न उनके बहाव में बह जाएं, बस केवल उसके साक्षी हों या अनुगत। गम्भीर होकर, निष्ठा के साथ किए गए अभ्यास के बाद मन अपनी गति को कम करना शुरू कर देगा, जब उसे यह आभास हो जाएगा कि उसका सतत निरीक्षण और पीछा किया जा रहा है। चित्त-वृत्ति के अन्तर्लोक के साक्षी होने की प्रक्रिया में कुछ और न जोड़ें। धीरे-धीरे आपकी एकाग्रता-शक्ति में विकास होगा, मन अन्तर्यात्रा में मित्र के रूप में आपके साथ होगा (गीता ६.०५-०६) और आपके चारों ओर आनन्द की अवस्था प्रदीप्त हो उठेगी। आप विचारों से परे निर्विकल्प समाधि के विचारशून्य लोक में प्रवेश करेंगे।

सुबह-शाम या अपनी रुचि के अन्य सुविधाजनक काल में आधे घण्टे इसका अभ्यास करें। प्रगति हमारे वश से परे अन्य अनेक तत्त्वों पर निर्भर होगी, किन्तु आप बिना टाले अभ्यास जारी रखें। ध्यान-प्रक्रिया का समापन हमेशा ओम् की उद्देलन-ध्वनि के तीन बार उच्चार से करें, और प्रभु को धन्यवाद दें।

योगी कौन?

प्रशान्तमनसं ध्येन, योगिनं सुखम् उत्तमम् ।

उपैति शान्तरूजसं, ब्रह्मभूतम् अकल्पषम् ॥२७॥

जिसका मन शान्त है और जिसकी (काम, क्रोध, लोभ आदि) रजोगुणी प्रवृत्तियां नष्ट हो गई हैं, ऐसे पापरहित ब्रह्मस्वरूप योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है। (६.२७)

युञ्जन् एवं सदात्मानं, योगी विगतकल्पः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम्, अत्यन्तं सुखम् अश्नुते ॥२८॥

ऐसा पापरहित योगी अपने मन को सदा परमेश्वर के चिन्तन-मनन में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूपी परम आनन्द का अनुभव करता है। (६.२८)

योगानन्द जी कहते हैं: आन्तरिक सुख के अभाव में लोग कुकर्म की ओर अभिमुख होते हैं। प्रभु में ध्यानमन्न होना हमें अच्छाई की ओर प्रेरित करता है।

सर्वभूतस्थम् आत्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समर्दर्शनः ॥२९॥

योगयुक्त मनुष्य सब में सर्वव्यापी परमात्मा को तथा परमात्मा में सब को देखने के कारण समस्त प्राणियों को एकमात्र से देखता है। (४.३५, ५.१८ भी देखें।) (६.२९)

हर प्राणी में आत्मा की एकता का दर्शन करना श्रेष्ठतम् योगसिद्धि है। ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं— पत्नी अपने पति से अपने या पति के सन्तोष के लिए प्यार नहीं करती। वह अपने पति से इसलिए प्यार करती है कि वह अपनी आत्मा और पति की आत्मा के एक होने की अनुशूति करती है। वह अपने पति में समाहित हो जाती है और उसके साथ एक हो जाती है (बृ.उ. २.०४.०५)। वैदिक विवाह की नीव का आधार आत्म-संस्कृति की यही उदात्त और अटूट शिला है, जो भग्न नहीं हो सकती। समस्त सम्बन्धों के आध्यात्मिक आधार की सुदृढ़ समझ के बिना किसी भी सार्थक मानवीय सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयास वैसा ही है, जैसा कि किसी वृक्ष की जड़ को सींचने की जगह उसकी पत्तियों को पानी देना।

जब व्यक्ति सब प्राणियों में अपनी उसी आत्मा को देखता है और उसी आत्मा में सब प्राणियों को, तब वह किसी से घृणा नहीं करता, न किसी को हानि पहुंचाता है। (ईशा.उ. ०६)। शाश्वत शान्ति उन्हें ही प्राप्त होती है, जो हर किसी में आत्मा के रूप में प्रभु को निवास करते देखते हैं। (कठ.उ. ५.१३)। व्यक्ति को सभी-शत्रुओं सहित—से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि

सब अपनी ही आत्मा के रूप हैं। “अपने शत्रु से प्यार करो और प्रार्थना करो उनके लिए, जो तुम्हें यातना देते हैं” यह केवल बाइबिल की ही उदात्ततम शिक्षा नहीं है, वरन् प्रशु की ओर ले जानेवाले समस्त मार्गों का मूल विचार है। जब किसी को इस ज्ञान की अनुभूति हो जाती है कि उसकी अपनी ही आत्मा सब कुछ हो गई है, तब व्यक्ति किससे धृणा करेगा, किसको दण्ड देगा? जीभ को काटनेवाले अपने दांतों को कोई नहीं तोड़ता। जब व्यक्ति समस्त विश्व में निवास करते अपने प्रशु को छोड़कर किसी को नहीं देखता है, तब वह किससे लड़ेगा? हमें कांटों से भी प्यार करना सीखना चाहिए।

जब कोई सबमें प्रशु को ही देखता है और प्रशु में सबको, तब वह सब जगह, सब समय, प्रशु को देखता है। इस बात को पूर्णतः समझ लेना तथा ब्रह्म और जीव के एक ही होने की अनुभूति करना सर्वच्च प्राप्ति और मानवीय जन्म का एकमात्र लक्ष्य है (आ.पु. ६.१६.६३)। अपने आध्यात्मिक विकास की पूर्णता में व्यक्ति पाता है कि जो प्रशु उसके अपने हृदय में निवास करता है, वही अन्य सब—अमीर, गरीब, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, यातनाग्रस्त, आततायी, सन्त, पापी आदि—के हृदयों में भी रहता है। अतः किसी भी व्यक्ति से धृणा करना उसी प्रशु से धृणा करना है। इस बात का अनुभव कर लेना व्यक्ति को पूर्णतः विनम्र सन्त बनाता है। जिस व्यक्ति को यह अनुभूति हो जाती है कि परमात्मा सब जगह विद्यमान है और वह प्रशु उसके अनेक जन्मों में संगृहीत अपावनताओं से शून्य उसकी अपनी आत्मा को छोड़कर कोई और नहीं है, वह व्यक्ति अमरता और ब्रह्मानन्द पा लेता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो मनुष्य सब जगह तथा सबमें मुझ सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा (श्रीकृष्ण) को ही देखता है और सबको मुझमें ही देखता है, मैं उससे अलग नहीं रहता तथा वह भी मुझ से दूर नहीं होता। (६.३०)

आत्मज्ञ व्यक्ति समस्त लोक में और अपने में भी, मुझे देखता है तथा मुझमें समस्त लोक और अपने को। जब कोई मुझे सब चीजों में उसी प्रकार विद्यमान देखता है, जिस प्रकार लकड़ी में आग को, तब वह तुरन्त मायावी श्रम से मुक्त हो जाता है। व्यक्ति मोक्ष तभी पाता है, जब वह अपने को तन, मन और प्रकृति के गुणों से शिन्न तथा मुझसे अभिन्न देखता है (आ.पु. ३.०६.३७-३३)। ज्ञानी समस्त लोक में अपनी ही आत्मा को और अपनी ही आत्मा में समस्त लोक को विद्यमान देखता है। सच्चे भक्त जीवन की किसी भी अवस्था, जैसे पुनर्जन्म, स्वर्ग या नरक में वास आदि से भयभीत नहीं होते, क्योंकि वे सर्वत्र अपने प्रशु को ही देखते हैं (आ.पु. ६.७९.२८)। यदि तुम हर समय प्रशु को देखना, स्मरण करना और उनके साथ रहना चाहते हो, तब तुम्हें सर्वत्र, सब वस्तुओं में, प्रशु को देखने का आश्यास करना सीखना चाहिए।

सर्वभूतस्थितं यो मां, भजत्य् एकत्वम् आस्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो मनुष्य अद्वैतभाव से सम्पूर्ण भूतों में मुझ परमात्मा को ही स्थित समझकर मेरी उपासना करता है, वैसा योगी, किसी भी हालत में क्यों न रहे, मुझमें ही स्थित रहता है। (६.३१)

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है, जो सबको अपने जैसा समझे और दूसरों के दुःख और पीड़ा का अनुभव कर सके. (६.३२)

मानव को सब जीवों को अपने बच्चों जैसा समझना चाहिए (भा.पु. ७.१४.०६). सच्चे भक्त का यह एक गुण है। सन्त पुरुष सब स्त्रियों में माँ का रूप देखते हैं, दूसरों के धन को द्वृण समान और सब प्राणियों को आत्मवत् बिरला ही है वह व्यक्ति जिसका हृदय दूसरों की पीड़ा की आग में पिघलता है और जो दूसरों की प्रशंसा सुनकर हर्षित होता है।

चंचल मन को नियंत्रित करने के दो उपाय

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस् त्वया प्रोक्तः, साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि, चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाणि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं निश्च्रहं मन्ये, वायोर् इव सुदुष्करम् ॥३४॥

अर्जुन बोले— हे मधुसूदन, आपके द्वारा कहे गए ध्यानयोग की यह समत्व अवस्था मन के चंचल होने के कारण स्थायी नहीं हो सकती है; क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा ही चंचल, दुष्ट, बलवान् और दृढ़ है। अतः इसे वश में करना वायु को वश में करने की तरह कठिन है। (६.३३-३४)

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निश्च्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान बोले— हे महाबाहो, निस्सन्देह यह मन बड़ा ही चंचल और आसानी से वश में न होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र, मन को (ध्यान आदि का) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जाता है। (६.३५)

वैराग्य व्यक्ति की जगत् और इसके पदार्थों की निराधारता के ज्ञान के अनुपात में होता है (भा.भा. १२.१७४.०४). वैराग्यहीन चिन्तन और मनन वैसा ही है, जैसा वस्त्रविहीन शरीर पर अलंकार (त्रु.रा. २.१७७.०२).

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुम् उपायतः ॥३६॥

जिसका मन वश में नहीं है, उसके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कठिन है, परन्तु वश में किए हुए मनवाले प्रयत्नशील व्यक्ति को साधना करने से योग प्राप्त होना सहज है, ऐसा मेरा मत है। (६.३६)

असफल योगी की गति

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो, योगाच् चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं, कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, श्रद्धालु, परन्तु असंयमी व्यक्ति, जो योग-मार्ग से विचलित हो जाता है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को न प्राप्तकर किस गति को प्राप्त होता है? (६.३७)

कच्चिन् नोभयविभृष्टश् , छिन्नाभ्रम् इव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमुदो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो कृष्ण, क्या भगवत्प्राप्ति के मार्ग से गिरकर आश्रय-रहित व्यक्ति (भोग और योग) दोनों से वंचित रहकर, छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? (६.३८)

एतन् मे संशयं कृष्ण, छेत्तुम् अर्हस्य अशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य, छेत्ता न ह्य उपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण, मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से दूर करने में आप ही समर्थ हैं, क्योंकि आपके सिवा काई दूसरा इस संशय को दूर करनेवाला मिलना संभव नहीं है। (१५.१५ भी देखें.) (६.३९)

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस् तस्य विघ्नते ।

न हि कल्प्याणकृत् कश्चिद्, दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, योगी का न तो इस लोक में न परलोक में ही नाश होता है. हे तात, शुभ काम करनेवाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता. (६.४०)

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् , उषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अथवा योगिनाम् एव, कुले भवति धीमताम् ।

एतदिधि दुर्लभतरं, लोके जन्म यद् ईद्वशाम् ॥४२॥

असफल योगी पुण्य कर्म करनेवालों के लोकों को प्राप्तकर, वहां बहुत समय तक रहकर फिर अच्छे आचरणवाले धनवान् मनुष्यों अथवा ज्ञानवान् योगियों के घर में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जन्म संसार में बहुत ही दुर्लभ है. (६.४१-४२)

तत्र तं बुद्धिसंयोगं, लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन अर्जुन, वहां उसे पूर्वजन्म में संग्रह किया हुआ ज्ञान अपनेआप ही प्राप्त हो जाता है तथा वह योगसिद्धि के लिए फिर प्रयत्न करता है. (६.४३)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्य अवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुर अपि योगस्य, शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

वह बेबस की तरह अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के द्वारा परमात्मा की ओर सहज ही आकर्षित हो जाता है. भगवत्प्राप्ति के जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मफल की प्राप्ति से आगे का फल प्राप्तकर लेता है.

प्रयत्नाद् यतमानस् तु, योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धयस् , ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी पिछले अनेक जन्मों से धीरे-धीरे शुद्ध होता हुआ सारे पापों से रहित होकर परमगति (अर्थात् मुक्ति) को प्राप्त होता है. (६.४५)

आध्यात्मिक यात्रा लम्बी और धीमी है, किन्तु कोई भी निष्ठा-युक्त प्रयास व्यर्थ नहीं जाता. सभी जीव अन्त में विकास की चरम सीमा पर पहुंच कर मुक्त हो जाते हैं.

श्रेष्ठतम् योगी कौन?

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्च चाधिको योगी, तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी सकाम भाववाले तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करनेवालों से भी श्रेष्ठ है. अतः, हे अर्जुन, तुम योगी बनो. (६.४६)

योगिनाम् अपि सर्वेषां, मदगतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां, स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

समस्त योगियों में भी जो योगी-भक्त मुझमें तल्लीन होकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, वही मेरे मत से सर्वश्रेष्ठ है. (१२.०२, १८.६६ भी देखें.) (६.४७)

ध्यान या अन्य कोई भी कार्य अधिक सशक्त और प्रभावपूर्ण हो जाता है, यदि वह ज्ञान, विश्वास और श्रीकृष्ण-भक्ति के साथ किया जाता है. आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान अनिवार्य है, पर पर्याप्त नहीं. मन को सदा भगवान् कृष्ण की याद में लीन रखा जाना चाहिए. शास्त्रों के अध्ययन, आत्म-विश्लेषण और सेवा के माध्यम से मन सदा ध्यानमुद्रा में रह सकता है. कहा जाता है कि कोई भी योग अन्य योगों के अभाव में अकेले पूर्ण नहीं है. जैसे अच्छा भोजन बनाने में सब उपादानों का उचित मात्रा में सम्मिश्रित होना अनिवार्य है, उसी प्रकार सेवा, जप, पूजा, ध्यान, शास्त्राध्ययन, चिन्तन, मनन, भक्ति आदि परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं.

अपने अन्तःकरण को मंत्र-ध्यान से शुद्ध करने के पूर्व व्यक्ति को उस स्तर तक पहुंचना अनिवार्य है, जहाँ उसकी चेतना-पद्धति मंत्र के प्रति संवेदनशील हो सके. इसका अर्थ यह है कि पहले व्यक्ति की सामान्य कामनाओं की पूर्ति, या वैराग्य द्वारा सन्तुष्टि, हो जानी चाहिए; तथा व्यक्ति को पतंजलि के योगसूत्र के पहले चार चरणों का अभ्यास कर लेना चाहिए. यह वैसा ही है, जैसा सोने का घोल लगाने से पहले अलंकार को साफ करना आवश्यक है.

इस प्रकार ध्यानयोग नामक छठा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ सप्तमोऽध्यायः

ज्ञानविज्ञानयोगः

७. ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच

मम् आसक्तमनाः पार्थ, योगं युज्जन् मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां, यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ, अनन्य प्रेमसे मुझमें आसक्त मनवाले, मेरे आश्रित होकर अनन्य प्रेमभाव से योग का अभ्यास करते हुए तुम मुझे पूर्ण रूपसे निःसन्देह कैसे जान सकोगे, उसे सुनो. (७.०१)

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्, इदं वक्ष्याम्य् अशेषतः ।

यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्, ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ॥२॥

मैं तुम्हें ब्रह्म-अनुभूति (विज्ञान) सहित ब्रह्मविद्या (ज्ञान) प्रदान करूँगा, जिसे जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है. (मु.उ. १.०१.०३ भी देखें.)
(७.०२)

वे, जो परब्रह्म को जान लेते हैं, पूर्णता पा लेते हैं (ऋ.वे. १.१६४.३६). जब परब्रह्म का श्रवण, मनन, दर्शन, चिन्तन और ज्ञान हो जाता है, तब सब कुछ जान लिया जाता है. व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है (बृह.ज. ४.०५.०६). ब्रह्मविद्या की उषा के आगमन के साथ अन्य सब चीजों के ज्ञान की आवश्यकता अप्रासारिक हो जाती है. जैसे स्वर्ण के ज्ञान के बाद स्वर्ण से निर्मित सब पदार्थ जान लिए जाते हैं, उसी प्रकार परब्रह्म को जानने से परब्रह्म की सब अभिव्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है. परब्रह्म और क्षर पुरुष दोनों को पूर्णतः समझने के लिए ब्रह्म का समझना अनिवार्य है. जो भगवान् कृष्ण को परब्रह्म के रूप में जानता है, वह सर्वज्ञ समझा जाता है, पर जो सब कुछ जानता है, पर श्रीकृष्ण को नहीं जानता, वह कुछ भी नहीं जानता.

मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धध्ये ।

यतताम् आपि सिद्धानां, कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले सिद्ध योगियों में भी कोई एक मुझे पूर्ण रूप से जान पाता है. (७.०३)

परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण का ज्ञान और भक्ति पा लेनेवाले भाग्यवान् थोड़े-से ही हैं.

प्रकृति, पुरुष, और आत्मा की परिभाषा

भूमिर् आपोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धिर् एव च ।

अहंकार इतीयं मे, भिन्ना प्रकृतिर् अष्टधा ॥४॥

मेरी प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार तत्त्व आठ प्रकार से विभाजित है. (१३.०५ भी देखें.) (७.०४)

‘प्रकृति’ शब्द से अभिप्राय है भौतिक मूल कारण, वह पदार्थ जिससे सब चीजों का निर्माण होता है. प्रकृति भौतिक विश्व का मूल स्रोत है, जो सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार उन तीन गुणों और आठ मूल तत्त्वों से बनी है, जिनसे विश्व की सब वस्तुओं का विकास हुआ है. समस्त विश्व के निर्माण का भौतिक मूल कारण वेदान्त के अनुसार माया है और सांख्य के अनुसार प्रकृति. प्रकृति को असत्, क्षर, तत्त्व, नियति, भौतिक प्रकृति, महत्ब्रह्म, क्षेत्र, कृति, व्यक्ति आदि भी कहा गया है. वह, जो विविधता का निर्माण करती है और स्वयं विविध रूपों में अवतरित होती है तथा वह सब जो देखा या जाना जा सकता है, प्रकृति कहलाती है.

अपरेयम् इत्यत् अन्यां, प्रकृतिं विदिधि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो, ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहो, उपरोक्त प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है. इससे भिन्न मेरी एक दूसरी परा चेतन शक्ति (अर्थात् ‘पुरुष’) है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है. (७.०५)

श्लोक ७.०४ और ७.०५ में प्रकृति के दो प्रकारों का वर्णन है. श्लोक ७.०४ में वर्णित अष्टांग प्रकृति को अपरा शक्ति या जड़ प्रकृति कहा गया है. यही सामान्यतः प्रकृति जानी जाती है. भौतिक विश्व का यही निर्माण करती है. श्लोक ७.०५ में वर्णित दूसरी प्रकृति को

परा शक्ति, चेतन प्रकृति, चेतना, बोध, आत्मा, अक्षर पुरुष आदि भी कहा गया है। यही सामान्यतः पुरुष कहा जाता है। पुरुष अपरिवर्तनीय, अविकारी है। जबकि पुरुष से उत्पन्न प्रकृति परिवर्तनशील है, विकारी है। पुरुष प्रकृति का निरीक्षण करता है, साक्षी है और निर्देशक भी।

पुरुष विश्व की सृष्टि का निमित्त-कारण है। प्रकृति और पुरुष की दो स्वतंत्र सत्ताएं नहीं हैं, वरन् एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। ब्रह्म, पुरुष तथा प्रकृति एक ही हैं और भिन्न भी हैं, जिस प्रकार सूर्य, उसका प्रकाश तथा ऊषा एक होते हुए भी भिन्न हैं।

जल और जल से उत्पन्न तथा जल से पोषित मछली एक ही नहीं हैं, वैसे ही पुरुष और पुरुष से उत्पन्न प्रकृति भी एक नहीं हैं (म.भा. १२.३७५.१४)। जब पुरुष प्रकृति के गुणों का आनन्द इन्द्रियों के संयोग से भोगता है, तब वह जीव कहलाता है। आत्मा और जीव भी भिन्न हैं, क्योंकि आत्मा जीव का पोषण करती है, लेकिन ज्ञानी लोग उन दोनों में कोई अन्तर नहीं देखते (भा.पु. ४.२८.६२)।

परब्रह्म, ब्रह्म, आत्मा, पुरुष, प्रकृति आदि कुछ शब्दों की परिभाषा विभिन्न सिद्धान्त-शास्त्रों में भिन्न-भिन्न की गई है और संदर्भों के अनुसार उनके अर्थ भी भिन्न होते हैं। प्रस्तुत विवरण में सम्प्रदाय-निरपेक्ष ‘भगवान् (God)’ शब्द से अभिग्राय है विश्व का एकमात्र प्रभु, जिसे हम व्यक्तिगत नाम ‘श्रीकृष्ण’ से पुकारना पसन्द करते हैं। आध्यात्मिक यात्रा के पथ पर अग्रसर पाठक के लिए विभिन्न पारिभाषिक शब्द श्रम पैदा कर सकते हैं, अतः इन विभिन्न अभिव्यक्तियों का सम्पूर्ण अर्थ, प्रयोग और क्रमिक सम्बन्ध किसी की सहायता से जानना चाहिए।

परिशिष्टः प्राण या चेतना पुरुष (या भगवान्) की ऊर्जा है जिससे सब पदार्थ आया। माया पुरुष की रचनात्मक शक्ति है जो प्राण को पदार्थ या प्रकृति में बदल देती है। पदार्थ या प्रकट ब्रह्माण्ड और कुछ नहीं बल्कि प्राण का दृश्य या संघनित (*condensed*) रूप है। परमात्मा पुरुष और प्रकृति दोनों का स्रोत है।

एतद्योनीनि भूतानि, सर्वाणीत्य् उपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः प्रलयस् तथा ॥६॥

तुम ऐसा समझो कि इन दोनों शक्तियों—प्रकृति और पुरुष—के संयोग से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं; तथा मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्रोत हूँ: (१३.२६ भी देखें.) (७.०६)

परमात्मा सब वस्तुओं का आधार

मत्तः परतरं नान्यत्, किंचिद् अस्ति धनंजय ।

मयि सर्वम् इदं प्रोतं, सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय, मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् मुझ परब्रह्म परमात्मारूपी सूत में (हार की) मणियों की तरह पिरोया हुआ है। (७.०७)

गौ, अश्व, मानव, पक्षी तथा अन्य समस्त प्राणियों में वही एक आत्मा या प्राण विद्यमान है, वैसे ही जैसे रत्न, हीरे, सोने, मोती या काठ से निर्मित माला में वही सूत (म.भा. १२.२०६.०२-०३)। यह समस्त सृष्टि प्रभु से व्याप्त है (यजु.वे. ३२.०८)।

स्तोऽहम् अप्यु कौन्तेय, प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववदेषु, शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च, तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु, तपश् चास्मि तपस्विषु ॥९॥

हे अर्जुन, मैं जल में रस हूं, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूं, सब वेदों का श्रोत, प्रणव हूं. आकाश में शब्द और मनुष्यों में मनुष्यत्व हूं. मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूं. सम्पूर्ण भूतों का जीवन और तपस्वियों में तप हूं. (७.०८-०९)

बीजं मां सर्वभूतानां, विद्यिधि पार्थं सनातनम् ।

बुद्धिधर् बुद्धिमताम् अस्मि, तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं, कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे पार्थ, सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझे ही जानो. मैं बुद्धिमानों की बुद्धिधृति और तेजस्वियों का तेज हूं. (९.१८, १०.३९ भी देखें.) हे भरतश्रेष्ठ, मैं आसक्ति और कामना से रहित बलवानों का बल हूं और मनुष्यों में धर्म के अनुकूल (सन्तान की उत्पत्ति मात्र के लिए) किए जानेवाला सम्भोग हूं. (७.१०-११)

ये चैव सात्त्विका भावा, राजसास् तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान् विद्यिधि, न त्वं अहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक गुण हैं, उन सबको तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो. (अतः) वे (गुण) मुझपर निर्भर करते हैं, परन्तु मैं उनके आश्रित या उनसे प्रभावित नहीं होता हूं. (९.०४, ९.०५ भी देखें.) (७.१२)

त्रिभिरुणमयैर् भावैर्, एषः सर्वम् इदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति, माम् एष्यः परम् अव्ययम् ॥१३॥

प्रकृति के इन तीनों गुणों के कार्यों से यह सारा संसार भ्रमित रहता है, अतः मनुष्य इन गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता है. (७.१३)

प्रभु की खोज किसको ?

दैवी ह्य एषा गुणमयी, मम माया दुरत्यया ।

माम् एव ये प्रपद्यन्ते, मायाम् एतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी इस अलौकिक त्रिगुणमयी माया को पार करना बड़ा ही कठिन है; परन्तु जो मनुष्य मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को (आसानी से) पार कर जाते हैं. (१४.२६, १५.१९, १८.६६ भी देखें.) (७.१४)

न मां दुष्कृतिनो मृढाः, प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहृतज्ञाना, आसुरं भावम् आश्रिताः ॥१५॥

पाप कर्म करनेवाले, मूर्ख, आसुरी स्वभाववाले नीच मनुष्य तथा माया के द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले मेरी शरण में नहीं आते हैं. (७.१५)

चतुर्विधा भजन्ते मां, जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुर् अर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम मनुष्य—दुःख से पीडित, परमात्मा को जानने की इच्छावाले जिजासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छावाले तथा ज्ञानी—मुझे भजते हैं। (तु.रा. १.२१.०३
भी देखें.) (७.१६)

स्लोक ७.१६-१६ में प्रयुक्त ज्ञानी शब्द का अभिप्राय उस प्रबुद्ध व्यक्ति से है, जिसे परब्रह्म परमात्मा का सच्चा ज्ञान हो गया है।

व्यक्ति जो भी काम करता है, वह कामना की उपज है। फल की कामना के बिना कोई भी व्यक्ति कभी भी कुछ भी नहीं कर सकता (म.स्मृ. २.०४)। कामनाओं का सम्पूर्ण विनाश नहीं किया जा सकता, परन्तु निम्न कोटि की स्वार्थपूर्ण कामनाओं का परिवर्तन कर सकते हैं। मुक्ति की कामना कामना का श्रेष्ठ उदात्त रूप है। समस्त मानवीय कामनाओं में श्रीकृष्ण की भक्ति की कामना उच्चतम और पावनतम मानी जाती है। ऐसा कहा गया है कि प्रबुद्ध भक्त मुक्ति की भी कामना नहीं करते। वे जन्म-जन्मान्तर तक श्रीकृष्ण की प्रेम-भरी सेवा की ही गहन कामना करते हैं।

जो भक्त परिषुर्णता के लिए प्रभु की ओर प्रेरित होते हैं, उनकी निम्न कोटि की कामनाएं भुने हुए बीज के दानों की तरह हो जाती हैं, जो अंकुरित होकर कामना के बड़े वृक्ष नहीं बन सकते। वास्तविक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भक्ति, मुक्ति, प्रेम, धृणा, भय या भौतिक लाभ के लिए भी भगवान् कृष्ण में मन को पूर्णतः ध्यान-मन्न होकर लगाएं (आ.पु. १०.२२.२६)।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त, एकभक्तिर् विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्, अहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उन चार भक्तों में भी मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्ति-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मुझ परमात्मा को तत्त्व से जाननेवाले ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त ही प्रिय हूँ और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है। (७.१७)

उदारः सर्व एवैते, ज्ञानी त्व आत्मैव मे पतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा, माम् एवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

उपरोक्त सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, परन्तु मेरी समझसे तत्त्वज्ञ तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि युक्तात्मा उत्तम गति को प्राप्त कर मेरे परमधारम में निवास करता है। (९.२९ भी देखें) (७.१८)

बहूनां जन्मनाम् अन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वम् इति, स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर कि "यह सब कुछ कृष्णमय है", मनुष्य मेरी शरण में आता है (या मुझे प्राप्त करता है); ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है। (७.१९)

सब कुछ वस्तुतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न होता है, उसी में निवास करता है और उसी में विलीन हो जाता है (छ.ज. ३.१४.०१). सब कुछ ब्रह्म ही है, वही सर्वत्र है। यह सारा जगत् ब्रह्म ही है (मु.ज. २.०२.११). वेदों और उपनिषदों की उक्ति है— चेतना ब्रह्म है (पञ्चानं ब्रह्म, ऋग्वेद, ऐत.ज. ३.०३), मैं ही ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि, यजुर्वेद, बृह.ज. १.०४.१०). तुम भी ब्रह्म हो (तत्त्वमसि, सामवेद, छ.ज. ६.०८.०७). जीवात्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म, अथर्ववेद, मा.ज. ०२). वह, जो एक है, इन सब वस्तुओं का रूप लेता है (ऋ.वे. ८.५८.०२). समस्त सुष्ठि और सत्ता का समस्त क्रम ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूप को छोड़कर कुछ भी नहीं है।

कस्तुरी मृग कस्तुरी की सुगम्यि के स्रोत की निर्खल खोज के बाद अन्त में अपने में ही कस्तुरी को पाने के लिए बाध्य होगा। प्रभुबोध के बाद व्यक्ति समस्त विश्व और प्राणियों के अस्तित्व में प्रभु की ही अलौकिक सत्ता को देखता है। सब कुछ चेतना ही है। सृष्टि माया की वायु से चेतना के सागर में उत्पन्न होती हुई असंख्य तरंगों की तरह है। सब कुछ, माया सहित, उसी परम सत्ता के अभिन्न अंग को छोड़कर कुछ नहीं है।

कामैसू तैस्तैर् हृतज्ञानाः, प्रपञ्चन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियमम् आस्थाय, प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे मनुष्य अपने स्वभाव से प्रेरित होकर नियमपूर्वक देवताओं की पूजा करते हैं। (७.२०)

भविति के किसी भी वांछनीय रूप की मूर्ति में प्रभु का दर्शन सम्भव

यो यो यां यां तनुं भक्तः, श्रद्धयार्चितुम् इच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां, ताम् एव विदधाम्य अहम् ॥२१॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्, तस्याराधनम् ईहते ।

लभते च ततः कामान्, मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

जो कोई सकाम भक्त जिस किसी भी देवता को श्रद्धापूर्वक पूजना चाहता है, मैं उस भक्त की श्रद्धा को उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूँ। उस स्थिर श्रद्धा से युक्त वह मनुष्य अपने इष्टदेव की पूजा करता है और उस देवता के द्वारा इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त करता है। वास्तव में वे इष्टफल मेरे द्वारा ही दिए जाते हैं। (७.२१-२२)

देवगणों की शक्ति भी परम प्रभु से ही आती है, जिस प्रकार सुरशि फूल से (आ.पु. ६.०४.३४), प्रभु ही कर्मफल का दाता है (ब्र.सू. ३.०२.३८), प्रभु ही अपने उपासकों की सब कामनाएं पूरी करता है (आ.पु. ४.९३.३४)। श्रद्धा और प्रेम से उपासना किए जाने पर प्रभु भक्त की सब निष्ठाएं और लाभकारी कामनाएं पूरी करता है। ज्ञानी को अनुभूति होती है कि सब नाम और रूप उसी के हैं, जबकि अज्ञानी अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए धर्म के नाम से धर्मयुद्ध करते हैं।

कहा जाता है कि व्यक्ति जिस किसी भी देवी-देवता की पूजा करता है, उनको दिया हर अर्घ्य, उनकी की गई हर उपासना, परब्रह्म परमात्मा को ही पहुंचती है; वैसे ही, जैसे वर्ष का सारा जल सागर में ही पहुंचता है। प्रभु के जिस नाम और रूप की भी भक्त आराधना करता है, वह सब उसी परब्रह्म की पूजा है और व्यक्ति श्रद्धा सहित की गई उस पूजा का पुरस्कार पाता है।

अन्तवत् तु फलं तेषां, तद् भवत्य् अल्पमेधसाम् ।

देवान् देवयजो यान्ति, मद्वक्ता यान्ति माम् अपि ॥२३॥

परन्तु उन अल्पबुद्धिवाले मनुष्यों को (नाशवान्) देवताओं का दिया हुआ फल नाशवान् होता है। देवताओं को पूजनेवाले देवलोक को प्राप्त करते हैं तथा मेरे भक्त (परमधाम में आकर) मुझे ही प्राप्त करते हैं। (७.२३)

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपनं, मन्यन्ते माम् अबुद्धयः ।

परं भावम् अजानन्तो, ममाव्ययम् अनुत्तमम् ॥२४॥

अज्ञानी मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के मन, बुद्धिं तथा वाणी से परे, परम अविनाशी दिव्य रूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूपवाला निराकार हूं तथा रूप धारण करता हूं। (७.२४)

श्लोक २.२५, २.२८, ७.२४, ८.१८, ८.२०, ८.२१, ६.०४, १२.०१, १२.०३, १२.०५ और १३.०५ में 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। संदर्भ के अनुसार इस शब्द के भी शिन्न-शिन्न अर्थ होते हैं। यह आदि प्रकृति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और ब्रह्म के अर्थ में भी परब्रह्म आदि प्रकृति और ब्रह्म दोनों से ऊपर है। 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ आकारहीन नहीं है। इसका अर्थ अप्रकट या लोकोत्तर अनुभवातीत रूप (Transcendental form) है, जो शारीरिक चक्षुओं के लिए अदृश्य, मन की समझ से परे और शब्दों के लिए अवर्णनीय है। सभी वस्तुओं के रूप हैं। सृष्टि में कुछ भी, परब्रह्म-सहित, रूपहीन नहीं है। सभी रूप उसके ही रूप हैं। परब्रह्म का रूप और व्यक्तित्व दिव्य हैं। वह शाश्वत, अनादि और अनन्त है। अदृश्य परम सत्ता ही दृश्य जगत् का आधार है।

इस श्लोक का अर्थ सर्वमान्य विश्वास का खंडन करता-सा प्रतीत होता है कि प्रभु जैसा कि श्लोक ४.०६-०८ और ६.११ में कहा गया है, अवतार लेते हैं। श्लोक ७.२४ में यह कहा गया है कि परब्रह्म सदा अव्यक्त हैं और इसलिए कभी प्रकटरूप नहीं होते। सही अर्थों में परब्रह्म अवतरित नहीं होते। वे कभी भी परमधार के बाहर नहीं जाते। यह तो ब्रह्म की मानस शक्ति है, जो सृष्टि, पोषण, विनाश और अवतरण का काम अपनी असंख्य शक्तियों द्वारा करती रहती है।

प्रभु का शास्वत दिव्य रूप मनुष्य के मन और बुद्धिं द्वारा ज्ञेय आकृति या अनाकृति से परे है। सन्त-मुनियों द्वारा अदृश्य, सार्वभौमिक और अवर्णनीय प्रभु का वर्णन सामान्य भक्तों के मनों में प्रभु का प्यार पैदा करने के लिए किया गया है, जो अर्चन-पूजन के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रभु भक्त के सामने किसी साकार रूप में उसकी आस्था को सुदृढ़ करने के लिए प्रकट होते हैं। अतः व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रभु के सब रूपों का आदर करे, पर किसी एक रूप के साथ सम्बन्ध स्थापित करके केवल उसी की पूजा करे।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य, योगमायासमावृतः।

मृदोऽयं नाभिजानाति, लोको माम् अजम् अव्ययम् ॥२५॥

जो मृद मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के जन्मरहित, अविनाशी, दिव्य रूप को अच्छी तरह नहीं जान तथा समझ पाते हैं, उन सबके सामने अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं कभी प्रकट नहीं होता हूं। (७.२५)

वेदाहं समतीतानि, वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि, मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सब प्राणियों को जानता हूं, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता। (७.२६)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्रन्द्मोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं, सर्गं यान्ति परंतप ॥२७॥

येषां त्वं अन्तगतं पापं, जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्रन्द्मोहनिर्मुक्ता, भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

हे अर्जुन, राग और द्वेष से उत्पन्न (सुख-दुःखादि) द्वन्द्व द्वारा भ्रमित सभी प्राणी अत्यन्त अज्ञाता को प्राप्त होते हैं; परन्तु निष्काम भाव से अच्छे कर्म करनेवाले जिन मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो गए हैं, वे राग-द्वेष-जनित भ्रम से मुक्त होकर दृढ़निश्चय कर मेरी भक्ति करते हैं। (७.२७-२८)

जरामरणमोक्षाय, माम् आश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम्, अध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरे शरणागत होकर जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस परब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सारे कर्मों को पूर्ण रूप से जान जाते हैं। (७.२९)

साधिभूताधिदैवं मां, साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां, ते विदुर् युक्तचेततः ॥३०॥

जो युक्तचित्तवाले मनुष्य अन्त समय में भी मुझे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप से जानते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। (८.०४ भी देखें.) (७.३०)

परिशिष्ठ — कोई भी मनुष्य ईश्वर अथवा ब्रह्म को नहीं जान सकता, किन्तु जो उस तत्त्व को जानते हैं कि ईश्वर ही समस्त रचना को बलाने वाला मूलभूत है, वे वास्तव में धन्य हैं। सृष्टि ब्रह्म में नहीं है और न ही ब्रह्म द्वारा रची गई है, अपितु ब्रह्म ही सृष्टि रूप में स्थित है। सृष्टि निराकार ब्रह्म का साकार रूप है। जीव, जगत और जगदीश— ये तीनों भिन्न अस्तित्व नहीं किन्तु एक ही सत्ता है। दूसरे शब्दों में ‘आत्मा’ अथवा ‘ईश्वर’ के सिवा जगत में और कुछ नहीं है। आत्मा अदृश्य है और सृष्टि दृश्य, अतः मानवीय नेत्रों से आत्मा और सृष्टि का परस्पर अदृश्य सम्बन्ध नहीं देखा जा सकता, इसलिए मन हमें विश्वास दिला देता है कि रचयिता और रचना दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं।

रचना का रचयिता से पृथक भासित होना एकमात्र भ्रम है, जैसे मन द्वारा रचा गया स्वप्न। वास्तव में जीव और जगत की कोई सत्ता नहीं, केवल ब्रह्म ही विद्यमान है। हमें अपने मन को समझना है कि आत्मा और शरीर तथा सृष्टि एक ही है और इन सब भिन्न-भिन्न रूपों में केवल ब्रह्म का ही वास है (ईशा.उ. ०१). सृष्टि, शरीर, मन और अहंकार — ये सब चेतना का ही दूसरा रूप हैं और ईश्वर के ही अभिन्न अंग हैं। ये सब ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सब में ब्रह्म को ही देखने का अभ्यास करना चाहिये (गीता ६.३०) और इस विश्वास को दृढ़ करना चाहिये कि सब कुछ ब्रह्म ही है। इसे ही ईश्वर का निरन्तर स्मरण कहा जाता है और यह जप, ध्यान तथा अन्य आध्यात्मिक साधनों से सरल है। किसी भी आध्यात्मिक अभ्यास का लक्ष्य मन की ऐसी अवस्था की प्राप्ति है जिसमें द्वैतभाव न हो। यह अभ्यास व्यक्ति को शारीरिक चेतना से ईश्वरीय चेतना की ओर ले जाता है, जिससे मनुष्य की समस्त दुर्वलताएं जैसे रुचि, अरुचि, आसक्ति आदि समाप्त हो जाते हैं और निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

द्वैतभाव मन का भ्रम या माया है। स्वप्न की तरह यह संसार भी मन का सुजन ही है। यहीं द्वैतभाव हम में अज्ञानता और अहंकार उत्पन्न करता है, जिससे हम अपने को आत्मा से अलग मान आवागमन के चक्र में फंस जाते हैं। आत्मज्ञान ही इस चक्र को तोड़ सकता है। आत्मानुभूति का एक सरल उपाय निम्न है—

हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि मैं मन, बुद्धि और शरीर नहीं हूं ; ये मन, बुद्धि एवं शरीर मेरे हैं। मैं वही ब्रह्म हूं जो सर्वत्र विराजमान है, क्योंकि इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के सिवा

और कुछ भी नहीं है। मैं शरीर नहीं, अविनाशी आत्मा हूँ और जन्म-मरण से परे तथा मुक्त हूँ। आत्मा के आवास (शरीर) का ही जन्म और मरण होता है। वेद-वेदान्त की शिक्षाओं और आत्मानुभूति का यही सार है।

इस प्रकार ज्ञानविज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय पूर्ण होता है।

अथ अष्टमोऽध्यायः

अक्षरब्रह्मयोगः

८. अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किम् अध्यात्मं, किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तम्, अधिदैवं किम् उच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र, देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं, झेयोऽसि नियतात्मपि ॥२॥

अर्जुन बोले— हे पुरुषोत्तम, ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं? अधियज्ञ कौन है तथा वह इस देह में कैसे रहता है? हे मधुसूदन, संयत चित्तवाले मनुष्य द्वारा अन्त समय में आप किस तरह जाने जाते हैं? (८.०१-०२)

ब्रह्म शाश्वत है। उसे ब्रह्मन्, अक्षर ब्रह्म, अक्षर पुरुष और अपरब्रह्म भी कहा गया है। इस संस्करण में हमने शाश्वत सत्ता के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया है।

ब्रह्म, आत्मा, जीवात्मा और कर्म की परिभाषा

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं, स्वभावोऽध्यात्मम् उच्यते ।

भूतभावोद्घवकरो, विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्रीभगवान बोले— अविनाशी परमात्मा (का एक अंश) को ही अक्षरब्रह्म या आत्मा कहते हैं। अक्षरब्रह्म का स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है। प्राणियों को उत्पन्न करनेवाली ब्रह्म की क्रिया-शक्ति को कर्म कहते हैं। (८.०३)

सूक्ष्म शरीर छः इन्द्रियों, बुद्धिः अहम् और पांच प्राणों से बना है। जीवात्मा या जीव का अर्थ है आत्मा द्वारा पोषित सूक्ष्म शरीर। व्यक्तिगत आत्मा (जीव, जीवात्मा) भौतिक शरीर में प्रतिष्ठापित रहता है। सूक्ष्म शरीर कर्म तथा अनुभूति के अवयवों को संचालित करते हुए भौतिक शरीर को सक्रिय और जीवित रखता है।

अधिभूतं क्षरो भावः, पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहम् एवात्र, देहे देहभूतां वर ॥४॥

हे श्रेष्ठ अर्जुन, नश्वर वस्तु को अधिभूत और अक्षरब्रह्म के विस्तार (नारायण आदि) को अधिदैव कहते हैं। इस शरीर में ईश्वररूप मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही अधियज्ञ हूँ। (८.०४)

पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म

अन्तकाले च माम् एव, स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्वावं, याति नास्त्य् अत्र संशयः ॥५॥

जो मनुष्य अन्तकाल में भी मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं है। (प्र.उ. ३.१० भी देखें.) (८.०५)

यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजत्य् अन्ते कलेवरम् ।

तं तं एवैति कौन्तेय, सदा तद्वावभावितः ॥६॥

हे अर्जुन, मनुष्य मरते समय जिस किसी भी भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह सदा उस भाव के चिन्तन करने के कारण उसी भाव को प्राप्त होता है। (छ.उ. ३.१४.०१ भी देखें.) (८.०६)

ऐसा हो सकता है कि—अपने जीवन-काल में भक्ति और प्रभु की अनुभूति का सतत अभ्यास करते हुए भी—व्यक्ति को मृत्यु के समय प्रभु का स्मरण न आए। अतः मृत्युपर्यन्त प्रभु की अनुभूति रहनी चाहिए (ब्र.सू. १.०१.१२)। सन्त अपने उत्तरोत्तर जन्मों में अपना प्रयास जारी रखते हैं, फिर भी सम्भव है मृत्यु के समय वे प्रभु का स्मरण करना भूल जाएँ। जीवन-यापन का आदर्श ऐसा होना चाहिए कि मनुष्य मृत्यु के समय परमपिता भगवान् कृष्ण का स्मरण कर सके। इसलिए मनुष्य को बचपन से ही खाने, सोने, किसी काम का आरम्भ करने तथा स्वाध्याय आदि से पहले प्रभु-स्मरण की आदत डालकर दैनिक जीवन में प्रभु-अनुभूति का अभ्यास करना चाहिए।

प्रभु-प्राप्ति का एक सहज मार्ग

तस्मात् सर्वेषु कालेषु, माम् अनुस्मर युध्य च ।

मम् अर्पितमनोबुद्धिर्, माम् एवैष्यस्य असंशयम् ॥७॥

इसलिए हे अर्जुन, तुम सदा मेरा स्मरण करो और अपना कर्तव्य करो। इस तरह मुझमें अर्पण किए मन और बुद्धि से युक्त होकर निःसन्देह तुम मुझको ही प्राप्त होगे। (१२.०८ भी देखें.) (८.०७)

मृत्यु के समय का प्रधान विचार ही व्यक्ति के अगले जन्म को निश्चित करता है। अतः जीवन का परम लक्ष्य सदा प्रभु-स्मरण होना चाहिए, जिससे व्यक्ति को मृत्यु के समय भगवान् की याद आ सके।

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं, याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ, परमात्मा के ध्यान के अभ्यास रूपी योग से युक्त, एकाग्र चिन्त से परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। (८.०८)

आध्यात्मिक जागृति और प्रभु-चेतना ध्यान, जप, चिन्तन, मनन आदि द्वारा सतत प्रभु के बारे में सोचने से होती है। समस्त जीवन की साधना हमारी नियति निर्धारित करती है। आध्यात्मिक अनुष्ठान हमारे मन को प्रभु-चिन्तन में लीन और उसके कमल-चरणों में केन्द्रित रखने के लिए हैं। श्री रामकृष्ण ने कहा है: जब तम्हें किसी वस्तु की कामना हो, तब तुम एकान्त में आंखों में निष्ठा के आंसू भरकर मां काली से प्रार्थना करो, तुम्हारी मनोकामनाएँ पूरी होंगी। उन्होंने यह भी कहा है कि आत्मज्ञान तीन दिनों में प्राप्त किया जा सकता है। जितनी गहनता से मनुष्य आध्यात्मिक साधना करता है, उतनी ही शीघ्रता से वह पूर्णता को प्राप्त करता है।

गहन लालसा, आतुरता और दृढ़ता के साथ किए गए सतत प्रयास के साथ विश्वास और आस्था की प्रबलता ही आध्यात्मिक विकास की गति निर्धारित करती है। हठयोग की

सच्ची साधना आधुनिक योगकेन्द्रों में सिखाये जानेवाले योगाभ्यास नहीं है, वरन् है परम सत्य श्रीकृष्ण की खोज में किया गया व्यक्ति का सतत, सुदृढ़ और साग्रह कर्म।

आत्मज्ञान कोई सहज काम नहीं है। यह दृढ़ निश्चय के साथ शुरू किए गए क्रमिक आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया है, जो धीरे-धीरे ब्रत-प्रतिज्ञा, प्रशुद्धपा और आस्था की ओर अग्रसर होते हुए अन्त में परम सत की प्राप्ति तक पहुंच जाती है (यजु.वे. १६.३०)। परब्रह्म की प्राप्ति परिसंवादों, बुद्धि या शिक्षा से सम्भव नहीं है। यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति भीषण प्रयास के साथ निष्ठापूर्वक उसकी गहन कामना करे। निष्ठापूर्वक गहन कामना प्रभु की कृपा लाती है, जिससे परब्रह्म प्रकट होते हैं (मु.उ. ३.०२.०३)। ब्रह्म परब्रह्म के सत स्वरूप का विस्तार है, परब्रह्म की आत्मा है। इसीलिए ब्रह्म को सत अथवा आत्मा भी कहा गया है। यदि परब्रह्म बीज है, तो ब्रह्म उसका अंकुर है, जगत् उसका वृक्ष है।

कविं पुराणम् अनुशासितारम्
अणोर् अणीयांसम् अनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भुवोर् मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो भक्त सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सबका पालन-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान प्रकाशित तथा अविद्या से परे परमात्मा का सदा स्मरण करता है, वह अचल मन से योगबल के द्वारा प्राणको भृकुटी के बीच में अच्छी तरह से स्थापित करके शरीर छोड़ने पर परमात्मा को प्राप्त करता है। (कठ.उ. २.२०, यजु.वे. ३१.१८ तथा गीता ४.२९, ५.२७, ६.१३ भी देखें।) (८.०९-१०)

यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद् यतयो वीतरागः ।
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेद के जाननेवाले विद्वान् जिसे अविनाशी कहते हैं, आस्मितरहित यत्नशील महात्मा जिसे प्राप्त करते हैं और जिस परमपद की प्राप्ति के लिए साधक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उसे मैं तुझे संक्षेप में कहूँगा। (कठ.उ. २.१५ भी देखें।) (८.११)

मृत्युकाल में प्रभु के ध्यान से मोक्ष-प्राप्ति

सर्वद्वाराणि संयम्य, मनो हृदि निरुद्ध च ।
मृद्ध्य आध्यायात्मनः प्राणम्, आस्थितो योगधारणाम् ॥१२॥।
ओम् इत्य् एकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् माम् अनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम् ॥१३॥।

जो साधक सब इन्द्रियों को वश में करके, मन को परमात्मा में और प्राण को मस्तक में स्थापित कर तथा योगधारणा में स्थित होकर अक्षरब्रह्म की ध्वनि-शक्ति, ओंकार, का उच्चारण करके मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। (८.१२-१३)

पुस्तकीय ज्ञान का अपना स्थान है, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभूति ही के द्वारा बाह्य सीधी को तिलंजलि देकर आन्तरिक मूल तक पहुंचा जा सकता है। ध्यानयोग आन्तरिक अनुभूति का मार्ग है, जिसे व्यक्तिगत रूप से सुयोग्य गुरु द्वारा सीखा जाना चाहिए। मन के सही स्वभाव का बोध ध्यान की ओर ले जाता है।

ध्यान की एक सहज विधि

(१) अपने मुख, हाथ और पैर धोएं तथा सिर, गर्दन और रीढ़ की हड्डी को सीधे ऊपर की ओर रखते हुए आरामदेह मुद्रा में किसी शान्त, स्वच्छ और अंधेरे स्थान में बैठें। ध्यानकाल में संगीत या धूपबत्ती आदि की सलाह नहीं है। ध्यान का काल और स्थान निश्चित होना चाहिए। वचन, विचार और कर्म से यम-नियम का पालन करें। कुछ योगासन भी आवश्यक हैं। प्रतिदिन ५५-२० मिनट संध्या, मध्य-रात्रि और प्रातःकाल का समय ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय है। (२) जिस इष्टदेव में आस्था है, उनके नाम या रूप का स्मरण करें, उनका आशीर्वद मांगे। (३) अपने नयन मुँद लें और ५-१० अत्यन्त धीमे और गहरे श्वास लें। (४) वक्ष-केन्द्र के अभ्यन्तर पर अपनी दृष्टि, मन और भाव केन्द्रित कर धीरे-धीरे सांस लें। भीतर की ओर सांस लेते समय मन ही मन 'रा' का जाप करें और बाहर की ओर सांस लेते समय 'म' का। ऐसा सोचें जैसे कि स्वयं श्वास ही ये 'रा' और 'म' ध्वनि उच्चारित कर रहा है। मानसिक दृष्टि से नथुनों द्वारा सांस को भीतर जाते और फिर बाहर आते हुए देखते रहें। श्वास को नियंत्रित करने का प्रयास न करें, स्वाभाविक श्वास लें। (५) श्वास ली जाती हुई वायु के अनन्त देश में अपने-आप को लीन करने का प्रयत्न करें। यदि मन श्वास-पथ का अनुसरण करने से विचलित हो, तो पुनः चरण (३) से शुरू करें। नियपूर्वक, टालमटोल न करके, दृढ़ता से अपनी साधना जारी रखें।

ओम् की ध्वनि तीन मूल ध्वनियों—अ, उ, म—का समुच्चय है। यह समस्त उच्चारित की जा सकने वाली उपयुक्त ध्वनि का प्रतीक है। यह आदिम संवेग भी है, जो हमारे पांच स्नायु-केन्द्रों (nerve centers) को संचालित करता है, जो हमारी शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। योगानन्द ओम् को जगत् रूपी यंत्र के कम्पन की ध्वनि कहते हैं। यह अनाहत ध्वनि योगियों द्वारा विभिन्न प्रकार के शब्द या मिश्रित शब्द के रूप में सुनी जाती है।

ओम्-गत ध्यान, जिसका उल्लेख प्रश्न ने यहां किया है, सब धर्मों के सन्तों और ऋषियों द्वारा प्रयुक्त अत्यन्त सशक्त और पवित्र ध्यान-विधि है, प्रक्रिया है। यह पतंजलि के अन्तिम छ: चरणों को तीन सरल चरणों में जोड़ती है। ऊपर दी गई ध्यान-विधि के तीन मास के अन्यास के बाद निष्ठावान् विद्यार्थि ओम्-गत ध्यान-विधि (Omnic meditation):

<https://gita-society.com/advance-omnic-meditation-method/>

से कृपया निःशुल्क Download करें। संक्षेप में, ओम्-गत ध्यान-विधि, ओम्-ध्वनि के सतत गुंजन से मस्तिष्क को व्याप्त करना है।

जिनका मन ध्यान में न लग पाए, उनके लिए भगवान ने नित्य-स्मरण की एक सरल विधि अगले श्लोक में बताई है।

अनन्यचेतः सततं, यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ, नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे अर्जुन, जो मुझमें ध्यान लगाकर नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त होता हूँ: (८.१४)

माम् उपेत्य पुनर्जन्म, दुखालयम् अशाश्वतम् ।

नापुवन्ति महात्मानः, संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

महात्मा लोग परम सिद्धिधूपी मुझे प्राप्त करने के बाद फिर इस नश्वर, दुःख-भरे सन्सार में पुनर्जन्म नहीं लेते. (८.१५)

मानवीय जन्म यातनापूर्ण है। सन्त, ऋषि, मुनि और मानवरूप में अवतरित प्रभु भी मानव-शरीर के शारीरिक और मानसिक यातनाओं से बच नहीं सकते। व्यक्ति को यातनाओं का सहन करना सीखना तथा मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

आब्रह्मपुनराल् लोकाः, पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

माम् उपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन, ब्रह्मलोक (या अक्षरलोक) के नीचे के सभी क्षरलोकों के प्राणियों का पुनर्जन्म होता है; परन्तु हे कुन्ती-पुत्र, मेरा लोक अर्थात् परमधाम प्राप्त होने पर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। (८.१६ भी देखें.) (८.१६)

सृष्टि में सब कुछ आवर्ती है

सहस्रयुगपर्यन्तम्, अहर यद् ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां, तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

जो लोग यह जानते हैं कि ब्रह्माजी के एक दिन की अवधि एक हजार युग (एक कल्प अर्थात् ४.३२ अरब वर्ष) है तथा उनकी एक रात की अवधि भी एक हजार युग है, वे दिन और रात को जाननेवाले हैं। (८.१७)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः, प्रभवन्त्य् अहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते, तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

ब्रह्माजी के दिन के आरम्भ में ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से सारा जगत् उत्पन्न होता है, तथा ब्रह्माजी की रात्रि के आने पर जगत् उसमें ही लिलीन हो जाता है। (८.१८)

ब्रह्म के विश्व व्यापक मन (हिरण्यगर्भ, Cosmic Womb) की संकल्प-शक्ति ही ब्रह्मा कहलाती है जो सृष्टि की रचना करती है (यो.वा. ११.२-३). समस्त सृष्टि इसी मानसिक शक्ति के द्वारा निर्मित होती है। ब्रह्म का एक अंश ही ब्रह्मा के रूपमें निहित है जो गीता के श्लोक ८.१६ में वर्णित है। इसी को मन, संसार, माया, प्रकृति आदि भी कहा गया है।

भूतग्रामः स एवायं, भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ, प्रभवन्त्य् अहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ, वही प्राणिसमुदाय अवश-जैसा हुआ बार-बार ब्रह्माजी के दिन में उत्पन्न तथा ब्रह्माजी की रात्रि में लिलीन होता रहता है। (८.१९)

वेदों के अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त वृत्त है तथा प्रथम सृष्टि-जैसा कुछ नहीं है।

परस् तस्मात् तु भावोऽन्यो, ऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु, नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्यु उक्तस् , तम् आहुं परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते , तद् धाम परमं मम ॥२१॥

परन्तु इस क्षर प्रकृति से परे एक दूसरी अविनाशी आदि प्रकृति है, जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। उसीको अव्यक्त अक्षरब्रह्म अर्थात् परमगति कहा गया है, वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। (८.२०-२१)

पुरुषः स परः पार्थ, भक्त्या लभ्यस् त्व् अनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि, येन सर्वम् इदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ, सभी प्राणी जिस परमात्मा के अन्दर हैं तथा जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा अनन्यभक्ति से ही प्राप्त होता है। (९.०४, ११.५५ भी देखें।) (८.२२)

संसार से जाने के दो प्रमुख मार्ग

यत्र काले त्व् अनावृत्तिम् , आवृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं, वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतकुल-श्रेष्ठ, जिस मार्ग द्वारा शरीर त्यागकर गए हुए योगीजन वापस न लौटनेवाली गति को और वापस लौटनेवाली गति को प्राप्त होते हैं, उन दोनों मार्गों को मैं तुम्हें बताऊंगा। (८.२३)

अग्निर् ज्योतिर् अहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति, ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

जो ब्रह्मविद् साधकजन अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मासवाले (ज्ञान का प्रकाश) मार्ग द्वारा जाते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (तथा पुनः संसार में वापस नहीं आते हैं)। (छा.उ. ४.१५.०५, ५.१०.०१, बृह.उ. ६.२.१५, प्र.उ.१.१० तथा ईशा.उ. १८ भी देखें।) (८.२४)

जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त कर मनुष्य संसार में वापस नहीं आते उस मार्ग का वर्णन ऊपर किया गया है। उसे देवताओं का मार्ग (देवयान) कहा जाता है। इस मार्ग को आत्मज्ञान का प्रकाश, उत्तरायण मार्ग (*Northern Path*), ज्योतिर्मय अग्निदेव का मार्ग, क्रमिक विकाश मार्ग (क्रम मुक्ति) अर्थात् उन्नति की ओर ले जाने वाला मार्ग भी कहा जाता है। अज्ञानी जन, जिन में ज्ञान, विश्वास, पवित्रता आदि आवश्यक गुण नहीं होते, उनके लिये यह मार्ग अवरुद्ध रहता है। जिन में ये गुण होते हैं केवल वे ही मनुष्य इस मार्ग से जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि सूर्य की छः मास की दक्षिणायन गति होने पर यह मार्ग बन्द हो जाता है।

धरती पर आध्यात्मिक उन्नति और ज्ञान के मार्ग पर चलने वाली व्यक्तिगत आत्मा (*जीव, individual soul*) उच्च से उच्च आत्मसत्ता (*soul plane*) की ओर अग्रसर होते हुए अन्त में ब्रह्मा जी के लोक में निवास प्राप्त करता है।

अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष, छः मास की उत्तरायण गति—सूर्य की अन्य देवताओं पर अध्यक्षता की ओर संकेत करती है। उपनिषद् (छा.उ. ४.१५.०५, बृह.उ. ६.२.१५) में ऐसा कहा गया है कि जो मृत्यु के उपरान्त उत्तरायण मार्ग को प्राप्त करते हैं, ऐसे ब्रह्मवेता योगी जन उपर्युक्त अग्नि आदि देवताओं द्वारा क्रम से उनके लोकों में ले जाये जाकर अन्त में

ब्रह्मालोक में निवास करते हैं और सृष्टि के अन्त (महाप्रलय) होने पर ब्रह्मा जी के साथ ही ब्रह्म में प्रवेश करते हैं।

उत्तरायण का यह मार्ग, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, केवल उन्हें ही प्राप्त होता है जो ब्रह्म को तो जानते हैं, परन्तु पूर्णरूप से आत्मानुभूति की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। ऐसे मनुष्यों में वासनाएं पूर्ण रूप से समाप्त नहीं होतीं, कुछ शेष रह जाती हैं। जब आत्मज्ञान द्वारा, अहंकार जनित सारी इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं; तब मनुष्य इसी जन्म में मृत्यु के उपरान्त स्वतः ब्रह्म में विलीन हो जाता है (गीता ५.२६, १८.५५, बृ.४.८.०७, मु.३.२.०६, यो.वा. ३६.१२२) इसे ही जीवन-मुक्ति कहा जाता है। यही ब्रह्म निर्वाण है। मृत्यु का समय ऐसी आत्माओं के लिए कोई महत्व नहीं रखता।

योगानन्द के अनुसार उपनिषद् की यह उक्ति गीता में सबसे रहस्यमय और गलत समझी गई श्लोक है। मानव-शरीर में हजारों सूक्ष्म और स्थूल नाड़ियां हैं। उनमें से केवल एक सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मरन्ध्र—सप्तम चक्र में स्थित प्रमसितिष्कीय द्वारा—की ओर जाती है। यदि मृत्यु के समय पंचानियों के ऊर्जा केन्द्र चक्रों पर ध्यानावस्थित होने के फलस्वरूप प्राण सुषुम्ना नाड़ी से होकर शरीर से बाहर निकलते हैं, तो जीव मुक्ति पा लेता है (छ.३.८.०६, कठ.३.६.१६, ब्र.सू. ४.२.१७)।

जो भी पंच ऊर्जा-चक्रों पर ध्यानावस्थित होना जानता है, वह पावन, सदाचारी और शुचितम हो जाता है तथा कमल-पत्र की भाँति पाप-पंकित नहीं होता (छ.३.५.१०.१०)। यह स्थिति देवयान माध्यम से शरीर में स्थित निम्न केन्द्रों से जीवात्मा की क्रम-मुक्ति मानी जाती है, जो देवों की ओर ले जानेवाला मार्ग है। इस श्लोक में जीव के निष्क्रमण के शुभ काल का जो उल्लेख है, वह शरीर के नक्षत्रीय धरातल में विभिन्न ऊर्जा-केन्द्रों के स्वामी देवों की ओर ही इंगित करता है। स्वर्ग का राज्य हम सबके भीतर है। सूक्ष्म ब्रह्माण्ड सप्त चक्रों के रूप में हमारे शरीर में सारे लोकों का प्रतिनिधित्व करता है। प्रकृति की शक्तियों पर शासन करनेवाले देव भी शरीर के इन्हीं चक्रों में निवास करते हैं और शरीर को प्रभावित करनेवाली शक्तियों को नियंत्रित करते हैं।

उपनिषद् (छ.३.५.१०.०९) में भी अतिमानवीय देव का उल्लेख है। क्रियायोग में निष्पात गुरुओं के अनुसार यह अतिमानवीय देवशक्ति कुण्डलिनी शक्ति ही है। श्रुति द्वारा इस विश्लेषण का समर्थन किया गया है। श्री रामकृष्ण का भी कहना है कि कुण्डलिनी को जाग्रत किए बिना आध्यात्मिक अनुभूति सम्भव नहीं है। जब ऊर्जा कुण्डलिनी की जाग्रत शक्ति द्वारा ऊपर की ओर उठती है और सातवें चक्र में पहुँचती है, तब आठवें धरातल में जाकर वह ब्रह्म में लीन हो जाती है। योगशास्त्रों का कहना है—जब तक कुण्डलिनी शक्ति निम्न चक्र में प्रसुप्त रहती है, तब तक जप, ध्यान, पूजा आदि द्वारा सफलता मिलना सम्भव नहीं है।

धूमो रात्रिस् तथा कृष्णः, षष्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्, योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मासवाले (अज्ञान) मार्ग से जानेवाला सकाम योगी स्वर्ग जाकर पुनः वापस आता है। (छा.३.५.१०.०३-०५, ब्र.सू. ३.०१.०८ तथा गीता ९.२१ भी देखें।) (८.२५)

जिन धार्मिक व्यक्तिओं का लक्ष्य केवल अपने शुभ कर्मों—दान, यज्ञ, सेवा, उपासना आदि—के फल का भोग करना होता है, वे मृत्यु के उपरान्त दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त कर

स्वर्ग में निवास करते हैं। जिन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है, वे अपने पुण्यों के फल की समाप्ति पर पुनर्जन्म लेते हैं (पु.ज. १०२.०६)। यदि आत्मा का निष्क्रमण सुषुम्ना नाड़ी को छोड़कर किसी और मार्ग से होता है, तो व्यक्ति को मुक्ति नहीं मिलती और वह आवर्तित जन्म-मरण का भागी होता है।

आत्मज्ञान से मुक्ति

शुक्लकृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वते मते ।

एक्या यात्य् अनावृतिम् , अन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

जगत् में ये दो शुक्ल और कृष्ण (अर्थात् ज्ञान और अज्ञान) सनातन मार्ग माने गए हैं। इनमें ज्ञानमार्ग के द्वारा जानेवालों को लौटना नहीं पड़ता और अज्ञान मार्गवालों को लौटना पड़ता है। (८.२६)

उपनिषद् में एक तीसरे मार्ग का भी वर्णन है— पशु, कृमि आदि निम्न जीवों का पथ पुण्यहीन लोग, जो किसी भी पथ के उपयुक्त नहीं हैं, पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि निम्न योनियों में पुनर्जन्म लेते हैं (बृह.ज. ६.०२.७५-७६)। अमर्त्य जीवत्मा अनन्त काल तक इस धरा पर चौरासी लाख विशिष्ट जीव-योनियों से बने आवागमन के इस महासागर में भटकता रहता है। दयालु प्रभु अपनी इच्छा या कृपा से, बिना किसी कारण, मानव-जीवन की अमूल्य भैंट प्रदान करता है, जो आवागमन के महासागर को पार करने के लिए नौका के समान है (त्रु.ज. ७.४३.०२-०४)। यह भी कहा गया है कि मानव-जन्म, प्रभु में आस्था और गुरुकृपा, प्रभु की कृपा से ही मिलता है। हमारा वर्तमान जीवन हमारे भावी जीवन की तैयारी के लिए अवसर प्रदान करता है। इस जन्म में किए गए कर्मों के अनुसार व्यक्ति अगले जन्म में उन्नति या मुक्ति पाता है, अथवा अवनति या निम्न योनि में पुनर्जन्म, या उसे पुनः मानव-शरीर में जन्म देकर मुक्ति पाने का अवसर दिया जाता है।

नैते सृती पार्थ जानन् , योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु, योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ, इन दो मार्गों को तत्त्व से जाननेवाला कोई भी योगी भ्रमित नहीं होता। इसलिए, हे अर्जुन, तुम सदा योगयुक्त रहो। (८.२७)

वेदेषु यज्ञेषु तपस्यु चैव

दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत् सर्वम् इदं विदित्वा

योगी परं स्थानम् उपैति चाधम् ॥२८॥

योगी इस अध्याय को समझकर वेदों में, यज्ञों में, तपों में तथा दान में जो पुण्यफल कहे गए हैं, उन सबको लाभ जाता है और परब्रह्म परमात्मा के परमधाम को प्राप्त करता है। (८.२८)

इस प्रकार अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवां अध्याय पूर्ण होता है।

**अथ नवमोऽध्यायः
राजविद्याराजगुह्ययोगः**

९. राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवानुवाच

दं तु ते गुह्यतमं, प्रवक्ष्याम्य् अनस्ययवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं, यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान बोले— दोषदृष्टि-रहित तुमको मैं इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या (ज्ञान) को ब्रह्म अनुभूति (विज्ञान) सहित बताता हूं, जिसे जानकर तुम जन्म-मरण के दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जाओगे. (९.०१)

ब्रह्म का तत्त्वज्ञान एक परम रहस्य है

राजविद्या राजगुह्यं, पवित्रम् इदम् उत्तमम् ।

प्रत्यक्षाक्षरगमं धर्म्य, सुसुखं कर्तुम् अव्ययम् ॥२॥

यह तत्त्वज्ञान सब विद्याओं का राजा, रहस्यमय, अत्यन्त पवित्र, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन में सुगम तथा अविनाशी है. (९.०२)

अश्रद्धानाः पुरुषा, धर्मस्यात्य परंतप ।

अप्राप्य मां निर्वर्तन्ते, मृत्युसंसारवत्सनि ॥३॥

हे परन्तप अर्जुन, इस धर्म में श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझे न प्राप्तकर मृत्युरूपी संसार में बारम्बार जन्म लेते हैं. (९.०३)

जिस व्यक्ति की प्रश्न में आस्था है, उसके लिए सब कुछ सम्भव है. मुक्ति का द्वार खोलने के लिए प्रश्न की शक्ति में विश्वास कुंजी है.

मया तत्तम् इदं सर्वं, जगद् अव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्व् अवस्थितः ॥४॥

यह सारा संसार मुझ परब्रह्म परमात्मा की आदि प्रकृति अर्थात् अव्यक्त अक्षरब्रह्म का विस्तार है. सभी मुझपर आश्रित या स्थित रहते हैं, मैं उनपर आश्रित नहीं रहता. (७.१२ भी देखें.) (९.०४)

द्वैत सिद्धान्त के दृष्टिकोण से लहरें सागर पर निर्भर करती हैं, सागर लहरों पर नहीं. किन्तु अद्वैतवाद के दृष्टिकोण से, जिसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है, लहरों के सागर पर या सागर का लहरों पर निर्भर करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि न लहरें हैं, न सागर, मात्र जल ही है. इसी प्रकार सब कुछ ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है (गीता ७.१६).

न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ।

भूतभून् न च भूतस्थो, ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देखो कि वास्तव में मैं सभी भूतों को उत्पन्न तथा पोषण करनेवाला उनपर आश्रित नहीं रहता तथा वे सब भी मुझपर आश्रित नहीं रहते. (भा.पु. २.०९.३४-३६ भी देखें.) (९.०५)

लहर पानी है, पर पानी लहर नहीं है. पानी वाष्प, मेघ, वर्ष, हिम आदि बन गया है; और बुलबुला, झील, नदी, लहर तथा सागर भी. ये सब पानी के विभिन्न रूपों, रूपान्तरों को छोड़कर कुछ भी नहीं है. अद्वैत के दृष्टिकोण से न सागर है, न लहर, न झील, बस मात्र जल ही है. किन्तु लहर तब तक लहर है, जब तक उसे अपनी सही प्रकृति का बोध नहीं होता कि वह लहर नहीं जल है. जब लहर को यह बोध हो जाता है कि वह जल है, तब

लहर लहर नहीं रहती, जल हो जाती है। इसी प्रकार जब व्यक्ति को यह बोध हो जाता है कि वह यह भौतिक शरीर नहीं है, वरन् भौतिक शरीर में निवास करती हुई आत्मा के रूप में ब्रह्म है, तब वह भौतिक शरीर से ऊपर उठ जाता है और तुरन्त बिना किसी भौतिक परिवर्तन के ब्रह्म के साथ एक हो जाता है (गीता १८.५५)। भौतिक शरीर के रूप में व्यक्ति मर्त्य है; आकार के रूप में सीमित है; उसका रंग, योनि और अपना स्वभाव है; किन्तु आत्मा के रूप में वह मुक्त है, अमर है और असीम ब्रह्म है। यह बोध ही मुक्ति है।

यथाकाशस्थितो नित्यं, वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि, मत्स्थानीत्यु उपधारय ॥६॥

जैसे सर्वत्र विचरण करनेवाली महान् वायु सदा आकाश में (बिना कोई सहारा लिए) स्थित रहती है, वैसे ही सभी मुझमें स्थित रहते हैं, ऐसा समझो। (९.०६)

स्थूल पदार्थ—जैसे नक्षत्र और तारे—सूक्ष्म अन्तरिक्ष में बिना किसी भी सहारा के टिके रहते हैं, इसी प्रकार अन्तरिक्ष सहित समस्त लोक ब्रह्म के संयुक्त क्षेत्र (Unified field or Consciousness) में विद्यमान रहता है। समय की पहुंच अन्तरिक्ष में नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्म भी शाश्वत, अभेद्य और अपने क्षेत्र में घटित सब वस्तुओं से अप्रभावित है, वैसे ही जैसे बादलों से आकाश नहीं भीगता है।

सृष्टि-रचना और प्रलय का सिद्धान्त

सर्वभूतानि कौन्तेय, प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस् तानि, कल्पादौ विसुजाम्य अहम् ॥७॥

हे अर्जुन, एक महाकल्प (अर्थात् 311×10^{12} वर्ष या 311 Trillion solar years) के अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि का मेरी आदि प्रकृति में लय हो जाता है और दूसरे महाकल्प के प्रारम्भ में मैं फिर उसकी रचना करता हूँ। (९.०७)

जैसे मकड़ी अपने भीतर से जाला बुनती है, उसमें क्रीड़ा करती है और फिर जाले को अपने ही भीतर खींच लेती है, वैसे ही ब्रह्म अपने ही भीतर से भौतिक जगत् की रचना करता है, जीव-रूप में उसमें क्रीड़ारत रहता है और प्रलयकाल में उसे अपने भीतर समेट लेता है (आ.पु. ७७.०६.२७)। समस्त अभिव्यक्तियां ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर पोषित होती हुई अन्त में उसी ब्रह्म में समा जाती हैं, जैसे बुलबुले पानी से पैदा होते हैं, पोषित होते हैं और पानी में ही समा जाते हैं। बिना किसी बाह्य कर्ता के अपनी ही आन्तरिक शक्ति से ब्रह्म स्वयं की अभिव्यक्ति लोक में करता है। विभिन्न शक्तियों का स्वामी होने से यह सम्भव है कि बिना किसी बाहरी सहायता के एक ब्रह्म अपने को अनेक में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि का कर्ता भी है और मूल भौतिक कारण भी।

प्रकृतिं स्वाम् अवस्थ्य, विसुजामि पुनः पुनः ।

भृतग्रामम् इमं कृत्स्नम् , अवशं प्रकृतेर् वशात् ॥८॥

मैं अपनी मायारूपी प्रकृति के द्वारा इन समस्त प्राणि-समुदाय को जो प्रकृति (के गुणों) के वश में रहते हैं बार-बार रचता हूँ। (९.०८)

न च मां तानि कर्माणि, निबध्नति धनंजय ।

उदासीनवद् आसीनम् , असक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे अर्जुन, सृष्टि की रचना आदि कर्मों में अनासक्त और उदासीन रहने के कारण वे कर्म मुझ (परमात्मा) को नहीं बांधते। (९.०९)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः, सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय, जगद् विपरिवर्तते ॥१०॥

हे अर्जुन, मेरी अध्यक्षता में माया देवी (अपनी प्रकृति के द्वारा) चराचर जगत् को उत्पन्न करती है. इस तरह सृष्टि-चक्र चलता रहता है. (१४.०३ भी देखें.) (९.१०)

ज्ञानी और अज्ञानी के मार्ग

अवजानन्ति मां मृदा, मानुषीं तनुम् आश्रितम् ।

परं भावम् अजानन्तो, मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मोघाशा मोघकर्मणो, मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीम् आसुरीं चैव, प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मुझ परमेश्वर के परम भाव को नहीं जानने के कारण जब मैं मनुष्य का शरीर धारण करता हूं मृद लोग (मुझे साधारण मनुष्य समझकर) मेरा अनादर करते हैं, क्योंकि वे राक्षसी और आसुरी स्वभाव से मोहित, वृथा आशा, वृथा कर्म तथा वृथा ज्ञानवाले अविचारी मनुष्य (मुझे नहीं पहचान पाते) हैं. (९.११-१२)

जब भगवान् कृष्ण इस धरती पर थे, तब अनेक अलौकिक और दिव्य कर्म करने के बावजूद, मात्र कुछ ही व्यक्ति उन्हें परमात्मा के रूप में जान पाए थे. स्वयं धर्मराज यथिचिर को नारद मुनि से यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ था कि धर्मराज का ममेरा भाई श्रीकृष्ण ही मानवरूप में स्वयं परब्रह्म हैं (भा.पु. ७.७५-७६). निष्कर्ष यह है कि परब्रह्म का बोध व्यक्ति के अपने सत्कर्म और प्रशु की कृपा के बिना नहीं हो सकता.

महात्मानस् तु मां पार्थ, दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः ।

भजन्त्य् अनन्यमनसो, ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम् ॥१३॥

परन्तु हे अर्जुन, दैवी स्वभाववाले महात्मा लोग मुझे अविनाशी तथा सम्पूर्ण प्राणियों का दोनों—उपादान और निमित्त—कारण समझकर अनन्य मन से मेरी भक्ति करते हैं. (९.१३)

सततं कीर्तयन्तो मां, यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या, नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

मेरा सतत कीर्तन करते हुए, प्रयत्नशील, दृढव्रती साधक मुझे नमस्कार करके भक्तिपूर्वक निरन्तर मेरी उपासना करते हैं. (९.१४)

ज्ञानयज्ञेन चाप्य अन्ये, यजन्तो माम् उपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन, बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

कोई साधक ज्ञानयज्ञ के द्वारा, कोई अद्वैतभाव से, दूसरे द्वैतभाव से तथा कोई अनेक प्रकार से पूजा करके मुझे विराटस्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं. (९.१५)

सब कुछ परमात्मा का ही विस्तार है

अहं क्रतुर् अहं यज्ञः, स्वधाहम् अहम् औषधम् ।

मन्त्रोऽहम् अहम् एवाज्यम्, अहम् अग्निर् अहं हुतम् ॥१६॥

पिताहम् अस्य जगतो, माता धाता पितामहः ।

वेदं पवित्रम् ओंकार, ऋक् साम यजुर् एव च ॥१७॥

गतिर् भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं, निधानं बीजम् अव्ययम् ॥१८॥

धार्मिक संस्कार मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, स्वधा मैं हूं, औषध मैं हूं, मंत्र मैं हूं, धी मैं हूं, अग्नि मैं हूं तथा हवन-कर्म भी मैं ही हूं. (४.२४ भी देखें.) मैं ही इस जगत् का पिता, माता, धारण करनेवाला और पितामह हूं. मैं ही जाननेयोग्य वस्तु हूं; पवित्र आँकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं. प्राप्त करने योग्य परमधाम, भरण करनेवाला, सबका स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरण लेने योग्य, मित्र, उत्पत्ति, प्रलय, आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूं. (१०.३०, १०.३१ भी देखें.) (९.१६-१८)

तपाप्य् अहम् अहं वर्ष, निगृहणाप्य् उत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च, सद् असच् चाहम् अर्जुन ॥१९॥

हे अर्जुन, मैं ही (संसार के हित के लिए) सूर्यरूप से तपाता हूं, मैं वर्षा का निश्रह और उत्सर्जन करता हूं, अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूं. (१३.१२ भी देखें.) (९.१९)

अनन्य प्रेमभक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैर् इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करनेवाले, (भक्तिरूपी) सोमरस पान करनेवाले, पापरहित मनुष्य मुझे यज्ञ के द्वारा पूजकर स्वर्ग प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं, वे अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्तकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं (९.२०)

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपत्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे लोग उस विशाल स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर, पुण्य समाप्त होने पर फिर मृत्युलोक में आते हैं. इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करनेवाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं. (८.२५ भी देखें.) (९.२१)

अनन्याश चिन्तयन्तो मां, ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां, योगक्षेमं वहाप्य् अहम् ॥२२॥

जो भक्तजन अनन्यभावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं: (९.२२)

सदाचारी पुरुष के पास धन और सुख स्वयं ही बिना मांगे चले आते हैं, वैसे ही जैसे नदी स्वतः ही सागर की ओर जाती है (त्रु.रा. ९.२६३.०२). भौतिक सम्पदा स्वतः सदाचारी व्यक्ति के पास आती है, जैसे नदी का जल स्वभावतः ही नीचे की ओर बहता है (वि.पु. ९.९९.२४). भगवान् राम कहते हैं: जो अविचल भक्तिभाव से मेरी पूजा करते हैं, मैं उनका

कैसा ही ध्यान रखता हूं जैसा मां अपने बच्चे का (तु.रा. ३.४२.०३). अतः मनुष्य को अन्य वस्तु का चिन्तन न करके केवल परमात्मा का ही चिन्तन करना चाहिए. किसी भी उद्यम में काली, लक्ष्मी और सरस्वती—इन तीन माताओं की कृपा के बिना सफलता सम्भव नहीं है. अतः स्वास्थ्य, सम्पदा और ज्ञान के जिज्ञासुओं को प्रभु के मातृस्वरूप की पूजा करने को प्रोत्साहित किया जाता है.

कुछ भी पाना कठिन नहीं है जब मैं प्रसन्न होता हूं: किन्तु विशुद्ध भक्ति, जिसका मन अखंडरूप से मुझमें लगा है, मेरी सेवा के अवसर के सिवा और कुछ भी नहीं मांगता—मुक्ति भी नहीं (भा.पु. ६.०६.४८). यदि तुम समर्पित होकर, प्रभु को उसकी इच्छा के अनुरूप अपना पथप्रदर्शन करने दो, तो प्रभु तुम्हारे लिए श्रेष्ठतर वस्तुओं का चयन करेंगे.

येऽप्य अन्यदेवता भक्ता, यजन्ते शद्धयान्विताः ।

तेऽपि माम् एव कौन्तेय, यजन्त्य् अविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, जो भक्त श्रद्धापूर्वक दूसरे देवी-देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं—पर अज्ञानपूर्वक. (९.२३)

परमसत्य एक ही है, ज्ञानी लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं, पूजते हैं (ऋ.वे. १.१६४.४६). दिव्य प्रभु की मातृरूप में पूजा भी वेदों में है, जहां ऋषि की गहन लालसा है दिव्य मां का वत्स होने की (ऋ.वे. ७.८.१०४). सृष्टि को पालने-पोसने के लिए ब्रह्म की अभिव्यक्ति देवों के रूप में भी हुई है, जो अनेक नाम-रूपों में एक ही है (ऋ.वे. ३.५५.०१). परब्रह्म नारी है, नर है, बालक है, बालिका है, वृद्ध है. वह हर रूप में विद्यमान है (अथ.वे. १०.०८.२७). सब देवी-देवता एक ही दिव्य पुरुष के प्रतिनिधि हैं. वह अनेक में एक है और एक में अनेक. व्यक्ति को सृष्टि में भौतिक तत्त्वों, जैसे सम्पत्ति, परिवार, मित्र आदि की पूजा नहीं करनी चाहिए; पर भौतिक वस्तुओं में सृष्टिकर्ता की पूजा की जा सकती है, क्योंकि वह सब शिलाओं में है. वेदों में वर्णित देवों का सिद्धान्त एकता में विविधता पैदा नहीं करता, विविधता में एकता की प्रस्थापना करता है. देवी-देवता प्रकृति की शक्ति के ही विभिन्न नाम, रूप या प्रतीकात्मक प्रतिनिधि हैं.

देवी-देवता वह नली है जिसके माध्यम से अपरिमित चेतना के जलाशय में से पूजा और प्रार्थना के रूप में व्यक्त आस्था की शक्ति के द्वारा देवी कृपा के जल को प्रवाहित किया जा सकता है. किन्तु आस्था का अंकुर तभी दृढ़ धारणा का वृक्ष बनता है, जब वह आत्मज्ञान की धरा से बाहर निकलता है और तर्क के तुषार से बचा रहता है. देवी-देवता का मनन-चिन्तन करने से हम ब्रह्माण्ड की शक्तियों की अन्तर्निहित ऊर्जा (Potential Energy) का आवाहन करते हैं. जोसेफ कैम्पबेल का कहना है— “मिथक प्रतिमाएं हमसे से हर एक की आध्यात्मिक क्षमताओं का प्रतिबिम्ब हैं और देवी-देवता दिव्य प्रेम उद्दीप्त करते हैं.” सब विभिन्न प्रकारों की पूजा उसी एक भगवान तक पहुंचती है, जैसे सब विभिन्न सरिताओं का जल उसी सागर को जाता है. नौसिखियाओं के लिए प्रतिमा या प्रभु की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की सहायता से की गई पूजा आवश्यक है. अगला चरण ऋचाओं का गान और देवी नामों का जाप है. ब्रह्म-चेतना का दर्शन, अर्थात् हर व्यक्ति में ब्रह्म की अभिव्यक्ति को देखना उच्चतम आध्यात्मिक विकास है.

अहं हि सर्वज्ञानां, भोक्ता च प्रभुर् एव च ।

न तु माम् अभिजानन्ति, तत्त्वेनातश् च्यवन्ति ते ॥२४॥

क्योंकि, सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूं; परन्तु वे मुझ (परमेश्वर के अधियज्ञ स्वरूप) को तच्च से नहीं जानते, इसीसे उनका पतन अर्थात् आवागमन होता है। (९.२४)

यान्ति देवव्रता देवान्, पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मध्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं को पूजनेवाले देवलोक जाते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितुलोक जाते हैं, भूत-प्रेतों को पूजनेवाले भूत-प्रेतों के लोक को जाते हैं तथा मेरी पूजा करनेवाले भक्त मेरे परमधाम को जाते हैं (और उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (८.१६ भी देखें.) (९.२५)

पत्रं पुष्टं फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तद् अहं भक्त्युपहृतम्, अश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो मनुष्य प्रेमभक्ति से पत्र, फूल, फल, जल आदि कोई भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, मैं उस शुद्धचित्तवाले भक्त का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसका भोग भी करता हूं: (भा.पु. १०.८१.०४ भी देखें.) (९.२६)

प्रभु प्रेम और भक्ति-भाव के भूखे हैं। प्रभु को प्रसन्न करने और उनकी कृपा पाने के लिए समर्पित हृदय की आवश्यकता है, जटिल कर्मकाण्डों की नहीं। भगवान् को अर्पित करके ही व्यक्ति को श्रोजन करना चाहिए। भक्तों को प्रसन्न करने के लिए वे अर्पित किया श्रोजन ग्रहण करते हैं। एहले प्रभु को अर्पित करके श्रोजन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है।

यत् करोषि यद् अश्नासि, यज् जुहोषि ददासि यत् ।

यत् तपस्यसि कौन्तेय, तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे अर्जुन, तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो दान देते हो, जो तप करते हो, वह सब मुझे ही अर्पण करो। (१२.१०, १८.४६ भी देखें.) (९.२७)

प्रसिद्धि का प्रेम समस्त योग और तप को विनष्ट करने-वाली अग्नि है। माया की श्रामक शक्ति भयावह है, दुर्जय है। यदि व्यक्ति सब-कुछ भगवान् के लिए ही नहीं करता है तो माया सबको धोखा देती है—योगियों को भी।

शुभाशुभफलैर् एवं, मोक्षसे कर्मबन्धनैः ।

सन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो माम् उपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार सन्यासयोगयुक्त होकर कार्य करने से तुम कर्मफल के शुभ और अशुभ दोनों बन्धनों से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करोगे। (९.२८)

कोई अक्षम्य पापी नहीं

समोऽहं सर्वभूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या, मयि ते तेषु चाप्य् अहम् ॥२९॥

सभी प्राणी मेरे लिए बराबर हैं। न मेरा कोई अप्रिय है और न प्रिय; परन्तु जो श्रद्धा और प्रेम से मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे समीप रहते हैं और मैं भी उनके निकट रहता हूं: (७.१८ भी देखें.) (९.२९)

प्रभु की कृपा पाने में मांगने-भर की देर है। भक्ति के द्वार सबके लिए खुले हैं, किन्तु आस्थावान् और समर्पित व्यक्ति, जो अपने मन-मन्दिर में भक्ति की धूपबत्ती जलाते हैं, वे प्रभु

के साथ एक हो जाते हैं। पिता युं तो अपने सब बच्चों को समान रूप से प्रेम करता है; किन्तु जो बच्चा पिता के प्रति समर्पित है, पिता को अधिक प्रिय होता है, वह बहुत धनी, बौद्धिमान् या शक्तिशाली न हो। इसी प्रकार भक्त भगवान् को बहुत ही प्रिय होता है। आध्यात्मिक अनुशासन के अभ्यास द्वारा प्रभु की कृपा से व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त करता है। आत्मप्रयास और प्रभुकृपा दोनों ही आवश्यक हैं। वेदों के अनुसार प्रभु उन्हीं की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं (ऋ.वे. ४.३३.११)। योगानन्द का कथन है— प्रभु उन्हीं का चयन करते हैं, जो प्रभु का चयन करते हैं।

सूर्य की किरणों की भाँति प्रभुकृपा सबको समान रूप से उपलब्ध है। किन्तु मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति होने से यह जरूरी है कि वह इस प्रभुकृपा रूपी सूर्य के प्रकाश को भीतर आने देने के लिए हृदय की खिड़की को खोले। कहा गया है कि दिव्यता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, किन्तु हमारे अपने पूर्वजन्मों के कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई बाधाओं के निराकरण के लिए सही दिशा में किया गया प्रयास भी आवश्यक है। हमारे अपने प्रयासों से प्रभुकृपा भी द्रुतगति से आती है। यह भी माना जाता है कि प्रभुकृपा और प्रयास एक ही वस्तु है। प्रयास ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया का उसी प्रकार प्रवर्तन करता है, जिस प्रकार खाद पौधों की अभिवृद्धि में।

अपि चेत् सुदुराचारो, भजते माम् अनन्यभाक् ।

साधुर् एव स मन्तव्यः, सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥३०॥

यदि कोई बड़े-बड़े दुराचारी भी अनन्य भक्ति-भाव से मुझे भजता है, तो उसे भी साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने सही निश्चय किया है। (९.३०)

कोई भी पाप या पापी अक्षम्य नहीं है। सच्चे प्रायश्चित्त की अग्नि सब पापों को जला देती है। हर सन्त का एक पंकिल अतीत होता है और हर पापी का उज्ज्वल भविष्य। योगानन्दजी कहा करते थे, सन्त वह पापी है, जिसने कभी हार नहीं मानी। स्वार्थहीन उद्देश्य से किए गए जप, तप, सेवा और दान, पाप कर्म के प्रायश्चित्त हैं; पाप धो देते हैं, वैसे ही, जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार दूर हो जाता है। निष्काम भाव से कल्याणकारी शुभ कर्म का अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य सब पापों से छुटकारा पा जाता है (भ.भा. ३.२०७.५७)।

भक्तिमार्ग अन्य मार्गों से सहज

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

और वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तुम यह निश्चयपूर्वक सत्य मानो कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश अर्थात् पतन नहीं होता है। (९.३१)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्थियो वैश्यास्तथा शद्रास्, तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र, पापी आदि जो कोई भी मेरी शरण में आते हैं, वे सभी परमधाम को प्राप्त करते हैं। (१८.६६ भी देखें।) (९.३२)

आध्यात्मिक साधना व्यक्ति की आस्था, अभिरुचि और अपनी क्षमता के अनुरूप होनी चाहिए। हो सकता है कुछ लोग परम सत्य के ज्ञान की प्राप्ति के लिए अभी तैयार न हों, पर भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला है। भक्ति पाने के लिए जाति, धर्म, लिंग या बौद्धिक क्षमता

के कारण कोई भी अयोग्य नहीं होता। अधिकतर ऋषि-मुनियों ने भक्तिमार्ग को सब मार्गों से सहजतम और श्रेष्ठतम माना है।

किं पुनर ब्राह्मणाः पुण्या, भक्ता राजर्षयस् तथा ।

अनित्यम् असुखं लोकम्, इमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर पुण्यशील ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तजनों का तो कहना ही क्या? इसलिए यह क्षणभंगुर और सुखरहित मनुष्य-शरीर पाकर तुम निरन्तर मेरा ही भजन करो। (९.३३)

जीव माया की ऐन्ड्रजालिक शक्ति के प्रभाव से पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्रों से गुजरता है। प्रभु अपनी कृपासे जीवको अत्यन्त दुर्लभ मानव-शरीर देते हैं। मानव-शरीर प्रभु की अपनी प्रतिमा के रूप में सृष्टि का वह रन्न है, जिसमें जीवात्मा को आवागमन के जाल से मुक्त कर अस्तित्व के उच्चतर धरातल पर ले जाने की शक्ति है। मानव-जीवन को छोड़कर धरती पर अन्य सब जीवनरूप उच्चतर बुद्धि और नीर-क्षीर-विवेक में अक्षम हैं।

जिस प्रकार बाघ अचानक जंगल से आता है और रेवड़ में से धास चरते हुए मेमने को उठा ले जाता है, वैसे ही मृत्यु सहसा आ जाती है और व्यक्ति को ले जाती है। अतः आध्यात्मिक साधना और सत्कर्म उचित समय के आगमन की प्रतीक्षा किए बिना करने चाहिए (म.भा. १२.१७५.१३)। मानव-जीवन का ध्येय और परम कर्तव्य प्रभु की खोज है। प्रभु की खोज में विलम्ब नहीं होना चाहिए। जीवन के अन्य कर्तव्यों के साथ ही साथ व्यक्ति को सतत प्रभु की खोज में रत रहना चाहिए, नहीं तो बहुत देर हो सकती है।

मम्ना भव मद्वक्तो, मध्याजी मां नमस्कुरु ।

माम् एवैष्यसि युक्त्वैवम्, आत्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे प्रणाम करो। इस प्रकार मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर अपने-आपको मुझसे युक्त करके तुम मुझे ही प्राप्त होगे।
(९.३४)

इस प्रकार राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ दशमोऽध्यायः

विभूतियोगः

१०. विभूतियोग

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो, शृणु मे परम वचः ।

यत् तेऽहं प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, मेरे परम वचन को तुम फिर सुनो, जिसे मैं तुम-जैसे अतिशय प्रेम रखनेवाले के हित के लिए कहूँगा। (१०.०१)

परमात्मा सब वस्तुओं का मूल है

न मे विदुः सुरणाः, प्रभवं न महर्षयः ।

अहम् आदिर् हि देवानां, महर्षणां च सर्वशः ॥२॥

मेरी उत्पत्ति को देवता, महर्षि आदि कोई भी नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं सभी देवताओं और महर्षियों का भी आदिकारण हूं. (१०.०२)

यो माम् अजम् अनादिं च, वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असंमृद्धं स मर्त्येषु, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझे अजन्मा, अनादि और समस्त लोकों के महान् ईश्वर के रूप में जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है और सब पापों से मुक्त हो जाता है. (१०.०३)

बुद्धिर् ज्ञानम् असंमोहः, क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो, भयं चाभयम् एव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्, तपो दानं यशोऽयशः ।

भवत्ति भावा भूतानां, मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, भ्रम का अभाव, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-संयम, मन का संयम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश आदि प्राणियों के अनेक प्रकार के भाव मुझसे ही प्रकट होते हैं. (१०.०४-०५)

यदि दुष्कर्मी क्षमा-याचना न करे, तो क्षमादान देनेवाले के नियंत्रण में रखा क्रोध दुष्कर्मी को बड़ी हानि पहुंचाता है और उनका पुण्य हर लेता है (भ. भा. ५.३६.०५). दुष्कर्म करनेवाला अपने दुष्कर्म से विनष्ट हो जाता है, यदि वह क्षमा-याचना नहीं करता (भ.स्मृ. २.१६३). जो सचमुच अतिचार को क्षमा कर देता है, वह सही रूप में सुखी है, क्योंकि क्षमादानी का क्रोध नष्ट हो जाता है. यदि पारस्परिक व्यक्तिगत सम्बन्धों में एक भी व्यक्ति के प्रति नकारात्मक भाव या पीड़ा-भरी अनुभूति है, तो आध्यात्मिक साधना में बाधा आती है.

सदगुण का भी अपना दोष है. क्षमादान को प्रायः निर्बलता का प्रतीक समझा जा सकता है, अतः क्षमाशीलता सशक्त की शक्ति है और अशक्त का गुण. व्यक्ति को तभी क्षमा किया जाना चाहिए, जब वह सच्चे दिल से क्षमा-याचना करे, यदि यह उसका पहला अपराध हो, अपराध जानबूझकर न हुआ हो और यदि अपराधी अतीत में सहायक रहा हो. जानबूझकर बार-बार अपराध करनेवाले अपराधी को सही मार्ग पर लाने और शिक्षा देने के लिए बिना किसी बदले की भावना से दण्ड के उपकरण का उपयोग किया जा सकता है.

महर्षयः सप्त पूर्वे, चत्वारो मनवस् तथा ।

मद्भावा मानसा जाता, येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सात महर्षि, उनसे पहले चार सनकादि तथा चौदह मनु— ये सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में ये सारी प्रजा हैं. (१०.०६)

एतां विभूतिं योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकल्प्येन योगेन, युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

जो मनुष्य मेरी इस विभूति और योगमाया को तत्त्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है. (१०.०७)

अहं सर्वस्य प्रभवो, मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां, बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही जगत् का विकास होता है. ऐसा जानकर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धापूर्वक मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं. (१०.०८)

वह जो एक है, यह सब हो गया है (ऋ. वे. द. ५८.०२).

मच्चित्ता मदगतप्राणा, बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं, तुष्णिं च रमन्ति च ॥९॥

मुझमें ही चित्त को स्थिर रखनेवाले और मेरी शरण में आनेवाले भक्तजन आपस में मेरे गुण, प्रभाव आदि का कथन करते हुए निरन्तर संतुष्ट रहकर रमते हैं. (१०.०९)

प्रभु भक्तों को ज्ञान देता है

तेषां सततयुक्तानां, भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं, येन माम् उपयान्ति ते ॥१०॥

निरन्तर मेरे ध्यान में लगे प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तों को मैं ब्रह्मज्ञान और विवेक देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं. (१०.१०)

तेषाम् एवानुकम्पार्थम् , अहम् अज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्य् आत्मभावस्थो, ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनपर कृपा करके उनके अन्तःकरण में रहनेवाला, मैं, उनके अज्ञानजनित अन्धकार को तत्त्वज्ञानरूपी दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ. (१०.११)

श्रीकृष्ण के अन्य रूपों को विभिन्न साधनों से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु स्वयं श्रीकृष्ण को पाने का भक्ति और अनन्यप्रेम ही एकमात्र साधन है (योगी चिमनभाइ). आध्यात्मिक ज्ञान और प्रभु प्राप्ति का दीप भक्ति की ज्वलन्त चिनगारी से सरलतापूर्वक ज्योतित किया जा सकता है, बुद्धि और तर्क से कभी नहीं.

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम, पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् , आदिदेवम् अजं विभुम् ॥१२॥

आहस् त्वाम् ऋषयः सर्वे, देवर्षिर् नारदस् तथा ।

असितो देवलो व्यासः, स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोले— आप परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं, आप शाश्वत दिव्य पुरुष आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं; ऐसा देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि समस्त ऋषिजन तथा स्वयं आप भी मुझसे कहते हैं. (१०.१२-१३)

ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप कोई नहीं जान सकता

सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये, यन् मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन् व्यक्तिं, विदुर् देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव, मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं उस सबको मैं सत्य मानता हूँ. हे भगवन्, आपके वास्तविक स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव. (४.०६ भी देखें.) (१०.१४)

स्वयम् एवात्मनात्मानं, वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश, देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले, हे भूतेश, हे देवों के देव, जगत् के स्वामी, पुरुषोत्तम, केवल आप स्वयं ही अपनेआप को जानते हैं।

चरम सत्ता के अन्तिम स्रोत के प्रश्न पर वेद निरुत्तर ही रहे, यह घोषित करके कि कोई नहीं जानता कि सृष्टि के ग्रादुर्भाव का अन्तिम स्रोत क्या है। ऋषियों ने तो यहां तक कहा कि शायद वह (सृष्टि) स्वयं भी नहीं जानता (ऋ.वे. १०.१२६.०६-०७). वह, जो यह कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ नहीं जानता है, और जो जानता है, वह कहता है कि मैं नहीं जानता। ब्रह्म शुद्ध ज्ञानवाले व्यक्ति के लिए अज्ञात है, केवल अबोध व्यक्ति को ही वह ज्ञात है (किन.ज. २.०९-०३). ब्रह्माण्ड की शक्ति का अन्तिम स्रोत महान् रहस्य है और रहस्य ही रहेगा।

वक्तुम् अर्हस्य अशेषेण, दिव्या ह्य आत्मविभूतयः ।

याभिर् विभूतिभिर् लोकान्, इमांस् त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

अतः अपनी उन दिव्य विभूतियों को जिनसे आप इन सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त होकर स्थित रहते हैं पूर्णरूपसे वर्णन करने में केवल आप ही समर्थ हैं। (१०.१६)

कथं विद्याम् अहं योगिंस्, त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

केषु केषु च भावेषु, चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

हे योगेश्वर, मैं आपको निरन्तर चिन्तन करता हुआ कैसे जानूँ और हे भगवन्, किन-किन भावों द्वारा मैं आपका चिन्तन करूँ? (१०.१७)

विस्तरेणात्मनो योगं, विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तृप्तिर् हि, शृण्वतो नास्ति मेऽपृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन, आप अपनी योगशक्ति एवं विभूतियों को विस्तारपूर्वक फिर से कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है। (१०.१८)

सम्पूर्ण सृष्टि परब्रह्म का विस्तार है

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि, दिव्या ह्य आत्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ, नास्त्य अन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान बोले— हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं अपनी प्रमुख दिव्य विभूतियों को तेरे लिए संक्षेप में कहूँगा, क्योंकि मेरे विस्तार का तो अन्त ही नहीं है। (१०.१९)

अहम् आत्मा गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थितः ।

अहम् आदिश्च मध्यं च, भूतानाम् अन्त एव च ॥२०॥

हे अर्जुन, मैं समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। (१०.२०)

आत्मा स्रोतहीन तथा अनादि है और परब्रह्म की सम्पदा है, जैसे धूप सूर्य की सम्पदा है (ब्र.सू. २.०३.७७). परब्रह्म और आत्मा (अर्थात् ब्रह्म) सूर्य और धूप की भाति हैं, त्रिन् और अभिन्न (ब्र.सू. ३.०२.२८). जीवों में अवस्थित आत्मा चेतना या परम नियन्ता ईश्वर कहलाती है। विश्व में निहित वही आत्मा ब्रह्म है। आत्मा तन से भिन्न है, जैसे अग्नि लकड़ी से।

विश्व चेतना या आत्मा इन्द्रियों, मन या बुद्धि से नहीं जानी जा सकती, क्योंकि इन्द्रियों, मन और बुद्धि अपनी क्रियाशक्ति स्वयं आत्मा से पाते हैं (किन.ज. १.०६). आत्मा इन्द्रियों को चेतना प्रदान करती है, सहारा देती है, जैसे वायु अग्नि में प्रविष्ट होकर अग्नि

को उद्दीप्त करती है (भ.भा. १२.२०३.०३). आत्मा इस विश्व में हर प्रकार की शक्ति, गति, बुद्धि और जीवन का आधार और सहारा है। यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति देखता है, सुनता है, सूचता है, सोचता है, प्रेम करता है, घृणा करता है और पदार्थों की कामना करता है।

आदित्यानाम् अहं विष्णुर्, ज्योतिषां रविर् अंशुमान्।

मरीचिर् मस्ताम् अस्मि, नक्षत्राणाम् अहं शशी ॥२१॥

मैं अदिति के (बाहर) पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में प्रकाशमान् सूर्य हूं, वायु-देवताओं में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूं। (१०.२१)

इसी प्रकार के भाव वेदों में भी व्यक्त किए गए हैं (ऋ.वे. ४.२६.०९ और ६.६६.०६.)

वेदानां सामवेदोऽस्मि, देवानाम् अस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि, भूतानाम् अस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदों में सामवेद हूं, देवों में इन्द्र हूं, इन्द्रियों में मन हूं और प्राणियों की चेतना हूं। (१०.२२)

रुद्राणां शंकरश्च चास्मि, वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्च चास्मि, मेरुः शिखरिणाम् अहम् ॥२३॥

मैं रुद्रों में शंकर हूं और यक्षों तथा राक्षसों में धनपति कुबेर हूं, वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूं। (१०.२३)

पुरोधसां च मुख्यं मां, विद्यिपार्थं बृहस्पतिम् ।

सेनानीनाम् अहं स्कन्दः, सरसाम् अस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ, मुझे पुरोहितों में उनका मुखिया बृहस्पति जानो। मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूं। (१०.२४)

महर्षीणां भूगृह अहं, गिराम् अस्म्य एकम् अक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि, स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियों में भूगृह और शब्दों में ओंकार हूं। मैं यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालों में हिमालय पर्वत हूं। (१०.२५)

तुलसीदास, नानक, चैतन्य, प्रभुपाद आदि सभी आधुनिक सन्त-मुनि भी जप को आत्मज्ञान की सबसे शक्तिशाली और सहजतम विधि मानते हैं। तारक मंत्र—श्री राम, जय राम, जय जय राम—या किसी भी मंत्र को आस्था के साथ जपने से मंत्र का ध्वनि-संवेग मन की गहनतम परतों में जाकर नकारात्मक विचारों और चिन्तन को मन्द करने का काम करता है और उपयुक्त समय में आन्तरिक चेतना के मार्ग पर ले जाएगा। ध्यान जप का विकसित और उच्चतर सोपान है। अनुभवातीत ध्यान (*Transcendental Meditation*) में जाने से पूर्व व्यक्ति को जप का अभ्यास करना चाहिए। स्वामी हरिहर जी कहते हैं: दिव्य नाम के जप के बदले में किसी भी भौतिक पदार्थ को पाने की कामना नहीं होनी चाहिए। प्रभु के दिव्य नाम की आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग पाप का विनाश करने के लिए भी नहीं करना चाहिए। इसका उपयोग केवल प्रभुबोध के लिए ही किया जाना चाहिए।

नाम के बिना मानव बुद्धि के लिए प्रभु का रूप जानना या समझना सम्भव नहीं है। रूप को देखे बिना भी यदि व्यक्ति प्रभु के नाम का जप या ध्यान करता है, तो मानस-पट पर प्रेम के पात्र के रूप में प्रभु का रूप झलकता है। सन्त तुलसीदास का कहना है— यदि तुम भीतर और बाहर प्रकाश चाहते हो, तो अपनी जीभ के द्वार पर प्रभु के नाम का दीप जलाओ।

ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों स्वरूपों से नाम बड़ा है, क्योंकि नाम की शक्ति का नियंत्रण ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों पर है (तु.स. १.२७-२६). गुरु नानक का कथन है— सारे प्रयासों में उत्तम है सदा प्रभु के नाम का स्मरण और जप.

दैवी विभूतियों का संक्षिप्त वर्णन

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां, देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं समस्त वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षीयों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूं. (१०.२६)

उच्चैःश्रवसम् अश्वानां, विदिधि माम् अमृतोद्भवम् ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां, नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

आयुधानाम् अहं वज्रं, धेनुनाम् अस्मि कामधुक् ।

प्रजनश चास्मि कन्दर्फः, सर्पणाम् अस्मि वासुकिः ॥२८॥

मैं अश्वों में अमृत के साथ समुद्र से प्रकट उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा, शस्त्रों में वज्र, गायों में कामधेनु, संतान की उत्पत्ति के लिए कामदेव और सर्पों में वासुकि हूं. (१०.२७-२८)

अनन्तश चास्मि नागानां, वरुणो यादसाम् अहम् ।

पितृणाम् अर्यमा चास्मि, यमः संयमताम् अहम् ॥२९॥

प्रह्लादश चास्मि दैत्यानां, कालः कलयताम् अहम् ।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं, वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मैं नागों में शेषनाग, जलदेवताओं में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासकों में यमराज; दिति के वंशजों में प्रह्लाद, गणना करनेवालों में समय, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड हूं. (१०.२९-३०)

पवनः पवताम् अस्मि, रामः शस्त्रभूताम् अहम् ।

झृषाणां मकरश चास्मि, स्रोतसाम् अस्मि जाहनवी ॥३१॥

मैं पवित्र करनेवालों में वायु हूं और शस्त्रधारियों में राम हूं, जलचरों में मगर और नदियों में पवित्र गंगा नदी हूं. (१०.३१)

सर्गणाम् आदिर अन्तर्श्च, मध्यं चैवाहम् अर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां, वाकः प्रवदताम् अहम् ॥३२॥

हे अर्जुन, सारी सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त भी मुझसे ही होता है. मैं विद्याओं में तारतम्य विद्या और विवाद करनेवालों का तर्क हूं. (१०.३२)

अक्षराणाम् अकारोऽस्मि, द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहम् एवाक्षयः कालो, धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मैं अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द्व-समास हूं. अक्षयकाल अर्थात् अकाल पुरुष तथा विराटस्वरूप से सबका पालन-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूं. (१०.३३)

अक्षयकाल को अकालपुरुष या कालनिरंजन भी कहा गया है. यह भगवान् कृष्ण का कालरूप है. काल का अर्थ समय या मृत्यु होता है.

मृत्युः सर्वहरश्चाहम् , उद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर् वाक् च नारीणां, स्मृतिर् मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मैं सबका नाश करनेवाली मृत्यु और भविष्य में होनेवालों की उत्पत्ति का कारण हैं. संसार की सात श्रेष्ठ देवियां, जो कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा की अधिष्ठात्रियां हैं, वे भी मैं ही हूं. (१०.३४)

बृहत्साम तथा सामानां, गायत्री छन्दसाम् अहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहम् , ऋतुनां कुसुमाकरः ॥३५॥

मैं सामवेद के गाए जानेवाले मंत्रों में बृहत्साम, वैदिक छन्दों में गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूं. (१०.३५)

द्यूतं छलयताम् अस्मि, तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि, सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम् ॥३६॥

मैं छलियों में जुआ, तेजस्वियों का तेज, तथा विजय, निश्चय और सात्त्विक मनुष्यों का सात्त्विक भाव हूं. (१०.३६)

शुभ और अशुभ दोनों ही दिव्य शक्ति माया की उपज हैं. माया अनेक गुणों और दोषों को जन्म देती है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है. ज्ञानी लोग इसको विशेष महत्त्व नहीं देते. व्यक्ति को अच्छे गुणों का विकास करना चाहिए और दुरुणों का परित्याग. बोधि-प्राप्ति पर ही व्यक्ति अच्छे-बुरे, गुण-अवगुण दोनों से परे पहुंच जाता है, जैसे सूर्योदय के बाद ही अंधेरा विलीन हो जाता है. गुण और अवगुण दो पृथक-पृथक वस्तुएं नहीं, एक ही हैं; अन्तर केवल अभिव्यक्ति की सीमा का है. यह सच है कि प्रश्न का वास पापियों में भी है, पर यह भी ठीक नहीं है कि हम उनके साथ सम्पर्क रखें या उनसे घृणा करें. गान्धी जी कहते हैं: पाप से घृणा करो, पापी से नहीं.

जीवन के विरोधी युग्मों से भरी दिव्य सांसारिक लीला को व्यक्ति को सदा आनन्द भरे हृदय से देखना चाहिए. न कुछ अच्छा है न बुरा, बस दिव्य अभिनेता के विभिन्न मुखोंटे हैं. वेदों ने जुआ, भेट, घूस आदि अनैतिक साधनों द्वारा धनी होने के विचार की निन्दा की है और ईमानदार श्रम, खून-पसीने से की गई कमाई, खेती आदि के काम का परामर्श दिया है, क्योंकि ऐसा करना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए श्रेयस्कर है (ऋ.वे. १०.३४.१३).

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि, पाण्डवानां धनंजयः ।

मुनीनाम् अप्य् अहं व्यासः, कवीनाम् उशना कविः ॥३७॥

मैं वृष्णिवंशियों में कृष्ण, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य हूं. (१०.३७)

दण्डो दमयताम् अस्मि, नीतिर् अस्मि जिगीषताम् ।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां, ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ॥३८॥

मैं दमन करनेवालों में दण्डनीति और विजय चाहनेवालों में नीति हूं. मैं गोपनीय भावों में मौन और ज्ञानियों का तत्त्वज्ञान हूं. (१०.३८)

यच् चापि सर्वभूतानां, बीजं तद् अहम् अर्जुन ।

न तद् अस्ति विना यत् स्यान्, मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन, समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का बीज मैं ही हूं, क्योंकि चर और अचर किसी का अस्तित्व मेरे बिना नहीं है (अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है). (७.१०, ९.१८ भी देखें.) (१०.३९)

एक विशाल वटवृक्ष अपनी अनेक शाखाओं, पत्तियों, फलों और बीजों के साथ अपने अप्रस्फुटित रूप में एक लघुतम बीज में समाहित रहता है और प्रस्फुटित रूप में बार-बार वृक्ष बनता है। पेड़ पुनः अव्यक्त रूप में बीज हो जाता है। इसी प्रकार सारा अभिव्यक्त जगत् अव्यक्त रूप से ब्रह्म में रहता है तथा सृष्टि-काल मैं व्यक्त और प्रलयकाल में अव्यक्त होता रहता है। फल बीज में विलुप्त रहता है और बीज फल में। इसी प्रकार प्रभु सृष्टि में है और सृष्टि प्रभु में।

सृष्टि परब्रह्म का लघुतम अंश मात्र है

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां, विभूतीनां परंतप ।

एष दुदेशतः प्रोक्तो, विभूतेर् विस्तरो मया ॥४०॥

हे अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का तो अन्त ही नहीं है। मैंने तुम्हें अपनी विभूतियों के विस्तार का वर्णन संक्षेप में किया है। (१०.४०)

विश्व में विविधता—उच्चतम देवशक्तियों से लेकर लघुतम कीट तक, यहां तक कि निष्ठिय धूल भी—उस एक ही असीम परब्रह्म की अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं, श्रीमद् ऊर्जितम् एव वा ।

तत् तद् एवावगच्छ त्वं, मम तेजोऽशासंभवम् ॥४१॥

जो भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उसे तुम मेरे तेज के एक अंश से ही उत्पन्न समझो। (१०.४१)

अपने ब्रह्मनाद संवेदन द्वारा, शब्द के माध्यम से, प्रभु ने सब चीजों को बनाया, एक भी वस्तु सृष्टि मैं नहीं, जो प्रभु की दिव्य शक्ति से न बनाई गई हो। जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, कैसे ही जैसे धूप सूर्य से (आ.पु. ४.३९.१६)। समस्त सृष्टि असीम की आंशिक अभिव्यक्ति और उसका अभिन्न अंग है। दिव्यशक्ति अपनी महिमा को सृष्टि द्वारा व्यक्त करती है। दृश्य लोक का सौंदर्य और भव्यता उसकी महिमा का मात्र एक लघु अंश है।

अथवा बहूनैतेन, किं ज्ञातेन तत्वार्जुन ।

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम्, एकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

हे अर्जुन, तुम्हें बहुत जानने की क्या आवश्यकता है? मैं अपने तेज अर्थात् योगमाया के एक अंशमात्र से ही सम्पूर्ण जगत् को धारण करके स्थित रहता हूं। (चा.उ. ३.१२.०६ भी देखें.) (१०.४२)

परिमाणात्मक दृष्टि से, समस्त व्यक्त सृष्टि परमात्मा का छोटासा अंशमात्र है (ऋ.वे. १०.६०.०३)। विश्व अद्वृश्य प्रभु का दर्शन कराने के लिए मानवों के सामने दिव्य भव्यता प्रतिबिम्बित करता है। व्यक्ति को प्रभु की कल्पना-दर्शन न केवल मानव रूप या भव्य दर्शन रूप में करना सीखना चाहिए, वरन् विश्वरूप में व्यक्त उसकी भव्यता के माध्यम से भी और प्रकृति तथा जीवन को संचालन तथा नियंत्रण करनेवाले उसके दैवी नियमों के माध्यम से भी उसका दर्शन करना सीखना चाहिए। वह सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् है।

इस प्रकार विभूतियोग नामक दसवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ एकादशोऽध्यायः
विराट्‌रूपदर्शनयोगः
११. विराट्‌रूपदर्शनयोग

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं, गुद्यम् अध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत् त्वयोक्तं वचस् तेन, मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले— आपने मुझपर कृपा करके जिस परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्व को कहा, उससे मेरा भ्रम नष्ट हो गया है। (११.०१)

भवाप्ययौ हि भूतानां, श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष, माहात्म्यम् अपि चाव्ययम् ॥२॥

हे कमलनयन कृष्ण, मैंने आपसे प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय तथा आपके अविनाशी माहात्म्य को विस्तारपूर्वक सुना। (११.०२)

प्रभुदर्शन भक्त का परम ध्येय

एवम् एतद् यथात्थ त्वम्, आत्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम्, ऐश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते हैं, वह ठीक है; परन्तु हे पुरुषोत्तम, मैं आपके ईश्वरीय रूप को अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ। (११.०३)

मन्यसे यदि तच् छक्यं, मया द्रष्टुम् इति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं, दर्शयात्मानम् अव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो, यदि आप समझों कि मेरे द्वारा आपका विराट्‌रूप देखा जाना संभव है; तो, हे योगेश्वर, आप अपने दिव्य विराट्‌रूप का दर्शन दें। (११.०४)

प्रभु के दिव्य दर्शन (*Psychic Vision*) के अभाव में प्रभु में हुई आस्था का आधार दृढ़ नहीं होता। हमारी समस्त आध्यात्मिक साधना उस दिव्य दर्शन के ध्येय से की जाती है। हमारी अन्तरिक अपावनता के अन्तिम शेष भाग के निवारण के लिए दिव्य दर्शन आवश्यक है, क्योंकि मानव-मन देखने के बाद ही विश्वास करता है। अन्य भक्तों की तरह अर्जुन भी भगवान के दिव्य दर्शन की गहन कामना करता है।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि, शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि, नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान बोले— हे पार्थ, अब तुम मेरे अनेक तरह के और अनेक रंग तथा आकृतिवाले सैकड़ों-हजारों दिव्यरूपों को देखो। (११.०५)

पश्यादित्यान् वस्यन् रुद्रान्, अश्विनौ मरुतस् तथा ।

बहन्य् अदृष्टपूर्वाणि, पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत, मुझमें आदित्यों, वसुओं, रुद्रों तथा अश्विनीकुमारों और मरुदग्निओं को देखो तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपों को भी देखो। (११.०६)

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं, पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश, यच् चान्यद् द्रष्टुम् इच्छसि ॥११॥

हे अर्जुन, अब मेरे शरीर में एक ही जगह पर स्थित हुए चर और अचर सहित सारे जगत् को तथा और जो कुछ देखना चाहते हो, उसे भी देख लो. (११.०७)

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्, अनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः, पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ॥१२॥

परन्तु तुम अपनी इन आंखों से मुझे नहीं देख सकते हो, इसलिए मेरी योगशक्ति को देखने के लिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ. (११.०८)

प्रभु को श्रौतिक नेत्रों से कोई नहीं देख सकता. उसका लोकातीत रूप हमारे दृष्टिक्षेत्र से बाहर है. जो अन्तःकरण में रहकर हमें नियंत्रित करता है, उनका रूप बुद्धि की अन्तर्दृष्टि की क्षमता से ही प्रकट होता है. जिन लोगों को उस प्रभु का दर्शन हो जाता है, वे अमर हो जाते हैं (कठ.उ. ६.०५). हम अपनी इन आंखों से दिव्यलोक के रंगों की सम्पूर्णता का पूरा दर्शन करने में वर्णन्य लोगों की तरह असमर्थ हैं. परमप्रभु भगवान् कृष्ण का सौन्दर्य और महिमा देखने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है.

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को विराट् विश्वरूप का दर्शन कराना

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा ततो राजन्, महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थय, परमं रूपम् ऐश्वरम् ॥१३॥

संजय बोले— हे राजन्, महायोगेश्वर हरि ने ऐसा कहकर अर्जुन को अपने ऐश्वर्ययुक्त परम दिव्यरूप का दर्शन कराया. (११.०९)

अनेकवक्त्रनयनम्, अनेकाद्वृतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं, दिव्यानेकोघतायुधम् ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवम्, अनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के अनेक मुख और नेत्रोंवाले, अनेक अद्वृत दृश्यवाले, अनेक दिव्य आभृषणों से युक्त, बहुत-सारे दिव्य शस्त्रों को हाथों में लिए हुए, दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किए हुए, दिव्य गन्ध का लेपन किए हुए, समस्त प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विराट् स्वरूप का दर्शन किया. (११.१०-११)

दिवि सूर्यसहस्रस्य, भवेद् युगपद् उत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्, भासस् तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में हजारों सूर्यों के एकसाथ उदय होने से उत्पन्न प्रकाश भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के जैसा शायद ही हो. (११.१२)

हे प्रभु, लाखों सूर्य भी तुम्हारी तुलना नहीं कर सकते (ऋ.व. ८.००.०५). सॉबॉट ऑफ़ेनहाइमर ने प्रथम अणुबम के विस्फोट को देखकर यह श्लोक उद्धृत किया था.

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं, प्रविभक्तम् अनेकथा ।

अपश्यद् देवदेवस्य, शरीरे पाण्डवस् तदा ॥१३॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान के दिव्य शरीर में अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त परन्तु एक ही जगह एकत्रित सम्पूर्ण जगत् को देखा। (१३.१६, १८.२० भी देखें.) (११.१३)

प्रभुदर्शन के सब योग्य नहीं, न सब दीक्षित

ततः स विस्मयाविष्टो, हृष्टरोमा धनंजयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं, कृताश्चलिर् अभाषत ॥१४॥

(भगवान के विराटस्वरूप को देखकर) अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्य के कारण उनका शरीर पुलकित हो गया। अर्जुन ने हाथ जाइकर विराटस्वरूप देव को (श्रद्धा और भक्ति सहित) सिर झुकाकर प्रणाम करके कहा। (११.१४)

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस् तव देव देहे

सर्वांस् तथा भूतविशेषसंचान् ।

ब्रह्माणम् ईशां कमलासनस्थम्

ऋषीश्च सर्वान् उत्तरांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले— हे देव, मैं आपके शरीर में समस्त देवताओं को, प्राणियों के अनेक समुदायों को, कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी, महादेवजी, समस्त ऋषिगण और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ। (११.१५)

अनेकबाह्दरवक्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस् तवादि

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

हे विश्वेश्वर, आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप, मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही। (११.१६)

ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सार्वभौमिक, अनादि और अनन्त है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्

दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् ॥१७॥

मैं आपके मुकुट, गदा और चक्र धारण किए सब ओर से प्रकाशमान् तेज के पुंज-जैसा, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान ज्योतिवाले तथा नेत्रों द्वारा देखने में अत्यन्त कठिन और अपरिमित रूप को देख रहा हूँ। (११.१७)

त्वम् अक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस् त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस विश्व के परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्म के रक्षक हैं, आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है। (११.१८)

**अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तम् ॥१९॥**

मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित तथा अनन्त प्रभावशाली और अनन्त भुजाओंवाले तथा चन्द्रमा और सूर्य की तरह नेत्रोंवाले और प्रज्वलित अग्निरूपी मुखोंवाले तथा अपने तेज से विश्व को तपाते हुए देख रहा हूँ। (११.१९)

**धावापृथिव्योर् इदम् अन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्बुद्धं रूपम् उग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥**

हे महात्मन, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का यह सम्पूर्ण आकाश तथा समस्त दिशाएं केवल आपसे ही व्याप्त हैं। आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं। (११.२०)

तीन प्रमुख लोक हैं— ब्रह्माण्डाकाश में विष्णुलोक या क्षरलोक; परमाकाश में अक्षरलोक और चिदाकाश में परमधार्म या कृष्णलोक, परमापिता का मुख्य निवास स्थान।

**अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राभूजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्य उक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुत्वन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥**

समस्त देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं; और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणों का कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समुदाय "कल्याण हो, कल्याण हो" कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं। (११.२१)

**रुद्रादित्या वस्वो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश् चोष्पाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश् चैव सर्वे ॥२२॥**

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण— ये सब चकित होकर आपको देख रहे हैं। (११.२२)

**रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहरूपादम् ।
बहदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास् तथाऽहम् ॥२३॥**

हे महावाहो, आपके बहुत मुखों तथा नेत्रोंवाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं तथा पैरोंवाले, बहुत पेटों तथा बहुत-सी भयंकर दाढ़ोंवाले महान् रूप को देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। (११.२३)

एक ही यह सब हो गया है। सब रूप, मुख, सिर, पाद, नेत्र आदि उसी के हैं।

विराट् विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को भय

नभस्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

हे विष्णु, आकाश को छूते हुए देवीप्यमान, अनेक रंगोंवाले, फैले हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर मैं भयभीत हो रहा हूँ तथा धीरज और शान्ति नहीं पा रहा हूँ। (११.२४)

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलस्त्रिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

आपके विकराल दाढ़ोंवाले, प्रलय की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिए हे देवेश, हे जगत् के पालन कर्ता, आप प्रसन्न हों। (११.२५)

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंधैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस् तथासौ
सहास्मदीयैर् अपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद् विलग्ना दशानान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैर् उत्तमाङ्गैः ॥२७॥

राजाओं के समुदाय, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के प्रधान योद्धागण-सहित धृतराष्ट्र के सभी पुत्र बड़ी तेजी से आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ तो चूर्णित शिरों सहित आपके दांतों के बीच में फंसे हुए दीख रहे हैं। (११.२६-२७)

यथा नदीनां बहवोऽमुवेगाः
समुद्रम् एवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्य् अभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियों के बहुत सारे जल के प्रवाह स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर जाते हैं, वैसे ही संसार के शूरवीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। (११.२८)

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतझगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकासु
तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगः ॥२९॥

जैसे पतंगे अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं। (११.२९)

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्
लोकान् समग्रान् वदनैर् ज्वलद्धिः ।
तेजोभिर् आपूर्य जगत् समग्रं
भासस् तवोग्रः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आप सब लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं; और हे विष्णु, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सर्पण्ण जगत् को परिपूर्ण करके तपा रहा है। (११.३०)

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुम् इच्छामि भवन्तम् आद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

(कृपया) मुझे यह बताएं कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ, आपको मेरा नमस्कार, आप मुझसे प्रसन्न हों। हे आदि पुरुष, मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूं, क्योंकि मैं आपका प्रयोजन नहीं समझ पा रहा हूं। (११.३१)

हम सब दैवी निमित्त मात्र

श्रीभगवानुवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान बोले— मैं सर्पण्ण लोकों का नाश करनेवाला महाकाल हूं और इस समय इन सब लोगों का संहार करने के लिए यहां आया हूं। तुम्हारे प्रतिपक्ष में जो योद्धा लोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किए बिना भी जिन्दा नहीं रहेंगे। (११.३२)

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुद्ध्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वम् एव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अतः तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ और यश को प्राप्त करो; शत्रुओं को जीतकर सम्पन्न राज्य भोगो. ये सब योद्धा पहले से ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं. हे अर्जुन, तुम केवल निमित्त ही हो. (११.३३)

हे अर्जुन, यह मेरा संग्राम है, तुम्हारा नहीं. मैं तुम्हारा उपयोग करता हूं. मात्र माध्यम की भाँति. तुम्हारे शरीर के माध्यम से मैं ही सब कुछ करता हूं. व्यक्ति को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हमारे जीवन के सभी संग्राम प्रभु के हैं, हमारे नहीं. सब कुछ प्रभु की इच्छा और शक्ति से होता है. कोई भी प्रभु की इच्छा और शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता. वह प्रभु ही है, जो व्यक्ति को भौतिक या आध्यात्मिक जीवन के लिए अधीर बनाता है. जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ है, वे प्रमवश अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा मानकर अपने गलत काम का समर्थन करते हैं.

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यान् अपि योधवीरान् ।
मया हतांसु त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्य जेतासि रणे सपलान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत-सारे मेरे द्वारा मारे हुए वीर योद्धाओं को तुम मारो. भय मत करो, निस्सन्देह तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे. इसलिए युद्ध करो. (११.३४)

अर्जुन द्वारा विश्वरूप की वन्दना

संजय उवाच
एतच् छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताभ्यजलिर् वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय बोले— भगवान कृष्ण के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी और अत्यन्त भयभीत अर्जुन ने हाथ जोड़कर कांपते हुए नमस्कार करके गद्गद वाणी से श्रीकृष्ण से कहा. (११.३५)

अर्जुन उवाच
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्टत्य् अनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोले— हे अन्तर्यामी भगवन्, यह सब उचित ही है कि आपके (नाम, गुण, लीला आदि के) कीर्तन से जगत् हर्षित होकर अनुराग को प्राप्त हो रहा है. भयभीत राक्षस लोग सभी ओर भाग रहे हैं तथा सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं. (११.३६)

कस्माच् च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्य् आदिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास

त्वम् अक्षरं सद् असत् तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मा, वे आपको—जो ब्रह्माजी से भी बड़े और आदिकर्ता हैं—कैसे नमस्कार न करें? क्योंकि हे अनन्त, हे देवेश, हे जगत् के पालनकर्ता; जो सत्, असत् और इन दोनों से परे परब्रह्म है, वह आप ही हैं। (१.१९, १३.१२ भी देखें.) (११.३७)

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणस्

त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम

त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूप ॥३८॥

आप ही आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप ही जगत् के आधार, सबको जाननेवाले, जानने योग्य तथा परमधाम हैं। हे अनन्तरूप, यह सारा संसार आपसे ही व्याप्त है। (११.३८)

वायुर् यमोऽग्निर् वरुणः शशाङ्कः

प्रजापतिस् त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नपस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति ब्रह्मा और ब्रह्मा के पिता भी हैं। आपको हमारा सहस्र बार नमस्कार, नमस्कार और फिर बारम्बार नमस्कार है। (११.३९)

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस् ते

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वं ।

अनन्तवीर्यामितिविक्रमस् त्वं

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले भगवन्, आपको आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार। हे सर्वात्मन्, आपको सब ओर से नमस्कार। आप अनन्त साहस्री और शक्तिशाली हैं। सबमें व्याप्त रहने के कारण सब कुछ तथा सब जगह आप ही हैं। (११.४०)

सखेति मत्वा प्रसर्भं यद् उक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता महिमानं तवेदं

मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥

हे भगवन्, आपकी महिमा को न जानने के कारण, आपको सखा मानकर, प्रेम से अथवा लापरवाही से मैंने "हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे," आदि कहा है। (११.४१)

यच् चावहासार्थम् असत्कृतोऽसि

विहारश्यायासनभोजनेषु ।

एकोऽथवाप्य अच्युत तत्समक्षं

तत् क्षामये त्वाम् अहम् अप्रमेयम् ॥४२॥

और, हे अच्युत, आप मेरे द्वारा हँसी में, खेलने, सोने, बैठने और भोजन के समय अकेले में अथवा दूसरों के सामने भी जो अपमानित किए गए हैं, उन सबके लिए, हे अपरिमित भगवन्, मैं आपसे क्षमा मांगता हूं। (११.४२)

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वम् अस्य पूज्यश्च गुरुर् गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्य अभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्य् अप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

आप इस चराचर जगत् के पिता और सर्वश्रेष्ठ पूजनीय गुरु हैं. हे अतिशय प्रभाववाले, तीनों लोकों में आपके जैसा दूसरा कोई भी नहीं है, फिर आपसे बड़ा कौन है? (११.४३)

तस्मात् प्रणाप्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वाम् अहम् ईशम् ईर्ज्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोदम् ॥४४॥

इसलिए हे भगवन्, मैं आपके चरणों में साष्टांग प्रणाम करके आपको प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूं. हे देव, जैसे पिता पुत्र के, पित्र अपने पित्र के और पति पत्नी के अपराध को क्षमा करता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए. (११.४४)

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तद् एव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं आपके पहले कभी नहीं देखे जानेवाले इस रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूं तथा भय से मेरा मन अत्यन्त व्याकुल भी हो रहा है. अतः हे देवेश, हे जगत् के आश्रय, आप प्रसन्न हों और मुझे अपना (चतुर्भुज) देवरूप दिखाइए. (११.४५)

प्रभु के साकार रूप का दर्शन सम्भव है

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
इच्छामि त्वां द्रष्टुम् अहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं आपको मुकुट धारण किए हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूं. इसलिए हे विराटरूप, हे सहस्रबाहो, आप अपने चतुर्भुजरूप में प्रकट हों. (११.४६)

श्रीभगवानुवाच
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं
यन् मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, तुमसे प्रसन्न होकर मैंने अपनी योगमाया के बलसे अपना यह परम, तेजोमय, विराट, अनन्त और मूलरूप तुम्हें दिखाया है, जिसे तुमसे पहले किसीने नहीं देखा है। (११.४७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर् न दानैर्
न च क्रियाभिर् न तपोभिर् उग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नूलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर, तुम्हारे सिवा इस मनुष्यलोक में किसी दूसरे के द्वारा न वेदों के पढ़ने से, न यज्ञ से, न दान से, न उग्र तप से और न वैदिक क्रियाओं द्वारा ही मैं इस रूप में देखा जा सका हूँ। (११.४८)

मा ते व्यथा मा च विष्णुभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरम् ईदृशमेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस् त्वं
तद् एव मे रूपम् इदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरे इय विकराल रूप को देखकर तुम्हें व्याकुल और विष्णु नहीं होना चाहिए. निर्भय और प्रसन्नचित होकर अब तुम मेरे (शांख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए) चतुर्भुजरूप को देखो। (११.४९)

संजय उवाच
इत्य् अर्जुनं वासुदेवस् तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतम् एनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर् महात्मा ॥५०॥

संजय बोले— भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ऐसा कहकर उसे अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर सुहावना मनुष्यरूप धारणकर महात्मा कृष्ण ने भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया। (११.५०)

अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं, तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीम् अस्मि संवृत्तः, सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, आपके इस सुन्दर मनुष्यरूप को देखकर अब मैं शान्तचित होकर अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ। (११.५१)

भक्ति द्वारा प्रभुदर्शन

श्रीभगवानुवाच
सुदुर्दर्शम् इदं रूपं, दृष्ट्वानसि यन् मम ।
देवा अप्य् अस्य रूपस्य, नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान बोले— मेरे जिस चतुर्भुजरूप को तुमने देखा है, उसका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ है। देवतागण भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं। (११.५२)

नाहं वेदैर् न तपसा, न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं, दृष्ट्वानसि मां यथा ॥५३॥

उस चतुर्भुजरूप में जैसा तुमने देखा है मैं न वेदों के पदने से, न तप से, न दान से और न यज्ञ करने से ही देखा जा सकता है: (कठ.उ. २.२३ भी देखें.) (११.५३)

केवल यज्ञ या सेवा द्वारा सर्वशक्तिमान् प्रभु को पाना सम्भव नहीं है (ऋ.वे. ८.७०.०३, अथ.वे. २०.६२.७८). प्रभु का सर्वविद्यमान रूप इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता, उसके लिए अन्तर्दृष्टि और विश्वास चाहिए. दिव्यदर्शन और योगशक्ति प्रभु की कृपा और विशिष्ट वरदान हैं, जो बिना मांगे भी दिए जा सकते हैं, जब प्रभु व्यक्ति को सेवा में उसका उपयोग करने के लिए उपयुक्त पाते हैं. सन्त रामदास के अनुसार परम सत्य, भगवान कृष्ण, की प्राप्ति से पूर्व व्यक्ति को प्रकाश और रूप के सब दिव्यदर्शनों से ऊपर जाना होता है. दिव्यदर्शन मात्र मार्गप्रस्तर हैं, ध्येय नहीं. उनसे चिपके न रहो. आध्यात्मिक यात्रा के मार्ग में योगसिद्धियां भी बाधा बन सकती हैं.

भक्त्या त्वं अनन्यया शक्य, अहम् एवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन, प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परन्तु हे परन्तप अर्जुन, केवल अनन्यभक्ति के द्वारा ही मैं उस चतुर्भुजरूप में देखा, तत्त्व से जाना तथा प्राप्त भी किया जा सकता है: (११.५४)

मत्कर्मकृन् मत्परमो, मद्रक्तः सङ्घावर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु, यः स माम् एति पाण्डव ॥५५॥

हे अर्जुन, जो मनुष्य केवल मेरे ही लिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करता है, मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानता है, मेरा भक्त है तथा जो आसक्तिरहित और निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त करता है. (८.२२ भी देखें.) (११.५५)

इस प्रकार विराटरूपदर्शनयोग नामक एकादशवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ द्वादशोऽध्यायः

भक्तियोगः

१२. भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये, भक्तास्य त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्य् अक्षरम् अव्यक्तं, तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले— जो भक्त सतत युक्त होकर पूर्वोक्त प्रकार से (आपके इस कृष्णस्वरूप संगुण साकार रूप की) उपासना करते हैं और जो भक्त मन और वाणी से परे (अव्यक्त) अक्षर ब्रह्म को निराकार मानकर उसकी उपासना करते हैं, उन दोनों में कौन उत्तम योगी है. (१२.०१)

साकार की उपासना करें या निराकार ब्रह्म की?

श्रीभगवानुवाच

मम्य आवेश्य मनो ये मां, नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्, ते मे युक्ततमा मताः ॥१२॥

श्रीभगवान बोले— जो भक्तजन मुझमें मन को एकाग्र करके नित्ययुक्त होकर परम श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर मुझ परब्रह्म परमेश्वर के (कृष्णस्वरूप) सगुण रूप की उपासना करते हैं, वे मेरे मत से श्रेष्ठ हैं। (६.४७ भी देखें.) (१२.०२)

भक्ति प्रभु के प्रति सर्वोच्च प्रेम है (शा.भ.सू. ०२). सच्ची भक्ति प्रभु को पाने के लिए प्रभु के प्रति गहनतम निष्पार्थ प्रेम है (ना.भ.सू. ०२). सच्ची भक्ति प्रभुकृपा की खोज और प्रभु को प्रसन्न करने के लिए की गई प्रेमभरी सेवा है। हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम रखते हुए अपने कर्तव्य का पालन, अथवा सेवा ही भक्ति है। यह भी कहा गया है कि भक्ति का वरदान भी भगवत्कृपा से मिलता है। प्रभु के साथ प्रेम-सम्बन्ध का विकास व्यक्तिगत देवता के माध्यम से सरलता से होता है। राम, कृष्ण, मोर्जे, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि मानव-स्वरूप में अवतरित व्यक्तिगत भगवान की भक्ति के मार्ग का निष्ठापूर्वक अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठतम समझे जाते हैं। भक्ति आत्मज्ञान से श्रेष्ठतर है (शा.भ.सू. ०५).

भक्ति, अर्थात् भगवान के प्रति गहन प्रेम, के अभाव में सभी योग—कर्म, ज्ञान, ध्यान आदि—व्यर्थ हैं। आत्मज्ञान की मोती आत्मा और भक्ति के सीपी के भीतर ही जन्म लेती है। रामानुज ने कहा है कि जो साकार की उपासना करते हैं, वे अपने गन्तव्य पर शीघ्र और सुगमता से पहुंचते हैं। सभी प्राणी तथा प्रभु से प्रेम करना सभी धर्मों में सिखाया गया है।

ये त्वं अक्षरम् अनिर्देश्यम्, अव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च, कृटस्थम् अचलं ध्रुवम् ॥३॥

सनियप्येन्द्रियग्रामं, सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति माम् एव, सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

परन्तु जो मनुष्य अक्षर, अनिर्वचनीय, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, अपरिवर्तनशील, अचल और सनातन ब्रह्म की उपासना इन्द्रियों को अच्छी तरह नियमित करके, सभी में समभाव होकर, भूतमात्र के हित में रत रहकर करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं। (१२.०३-०४)

साकार की उपासना के कारण

क्लेशोऽधिकतरस् तेषाम्, अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिरुद्घां, देहवद्विरु अवाप्यते ॥५॥

परन्तु उन अव्यक्त में आसक्त हुए चित्तवाले मनुष्यों को (साधना में) क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहधारियों द्वारा अव्यक्त की गति कठिनाई-पूर्वक प्राप्त होती है। (१२.०५)

परमप्रभु की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत भगवान की दिव्य प्रतिमा की पूजा और उसपर प्रेमभरा मनन और ध्यान पहला अनिवार्य पग है। यह भी कहा गया है कि प्रभु के व्यक्तिगत रूप की भक्ति व्यक्ति को प्रभु के इन्द्रियातीत रूप की ओर ले जाती है। प्रभु न केवल लोकातीत सर्वशक्तिमान् है, वरन् सब प्राणियों में उनका स्वत्व है, आत्मा है।

अपने इष्टदेव के रूप में प्रभु की व्यक्ति-रूप में की गई पूजा दिव्य प्रेम के लिए प्रेरित करती है, जो समुचित अवधि में आत्मानुभूति और एकता को जाग्रत् करती है। अन्तर्यामी

सर्वव्यापी प्रश्न में मन लगाने तथा मनन-ध्यान करने पर अनुभवातीत लोकोत्तर प्रश्न व्यक्ति की अन्तरात्मा पवित्र होने पर प्रकट होता है।

भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग—दोनों ही मार्गों की उच्चतम अवस्था में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। अनुभूति की उच्चतम अवस्था में वे दोनों एक दूसरे में विलीन होकर एक हो जाते हैं। दूसरे सन्त भी अधिकांश व्यक्तियाँ—विशेषकर नौसिखियाँ—के लिए भक्तिमार्ग को दोनों मार्गों में सुगमतर मानते हैं। तुलसीदास के अनुसार ज्ञानमार्ग पूर्णतः समझने, समझाने और अनुसरण करने में बहुत कठिन है। ज्ञानमार्ग से गिरते भी दर नहीं लगती (तु.रा. ७.११८.००)। अगले दो श्लोकों में प्रश्न कहते हैं कि भक्ति का मार्ग सुगमतर ही नहीं, ज्ञानमार्ग से अधिक द्रुतगामी भी है।

व्यक्तिगत या अैव्यक्तिक, औतिक या लोकोत्तर रूप—वास्तव में परम सत्य के (एक ही) सिक्के के दो पहलू हैं। श्री रामकृष्ण ने कहा है—“आरम्भ में प्रतिमा-पूजा अनिवार्य है, बाद में नहीं, वैसे ही जैसे किसी भवन के निर्माण में पहले पटड़े जरूरी हैं。” व्यक्ति को पहले अपना ध्यान और मन साकार निजी प्रश्न पर लगाना चाहिए और वैसा करने में सफल होने के बाद ही लोकोत्तर दिव्यरूप पर। सब प्राणियों में प्रश्न की अपनी ही सत्ता की अनुभूति से ही उच्चतम मुक्ति सम्भव है। और वह निजी इष्टदेव की भक्ति की प्रौढ़ता तथा प्रश्न की कृपा से ही मिलती है। यह अनुभूति दृसरा आध्यात्मिक जन्म है।

कोई भी आध्यात्मिक साधना जब ज्ञान, विश्वास और अपने इष्टदेव की प्रतिमा में ध्यान के साथ की जाती है, तब अधिक शक्तिशाली हो जाती है (छ.उ. १.०९.१०)। तपस्या, साधना, प्रार्थना, दान, प्रायशिक्ति, यज्ञ, व्रत तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान भगवान राम की करुणा को उस सीमा तक नहीं जगाते, जितना विशुद्ध भक्ति (तु.रा. ६.११७.००)। भक्ति के चुम्बक से प्रश्न को आकर्षित करना सरल हो जाता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि, मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन, मा ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषाम् अहं समुद्धर्ता, मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात् पार्थ, मय्य आवेशितचेतसाम् ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन, जो भक्त मुझको ही अपना परम लक्ष्य मानते हुए सभी कर्मों को मुझे अर्पण करके अनन्यभक्ति के द्वारा मेरे साकार रूप का ध्यान करते हैं, ऐसे भक्तों का जिनका चित्त मेरे संग्रह में स्थिर रहता है, मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-सागर से उद्धार कर देता हूं। (१२.०६-०७)

अविचल प्रेम और भक्ति की नौका की सहायता से व्यक्ति आवागमन का महासागर सरलता से पार कर लेता है (तु.रा. ७.१२२.००)।

ईश्वर-प्राप्ति के चार मार्ग

मय्येव मन आधत्त्व, मयि बुद्धिं निवेशाय ।

निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

तुम मुझमें ही अपना मन लगाओ और बुद्धिसे मेरा ही चिन्तन करो, इसके उपरान्त निस्सेवह तुम मुझमें ही निवास करोगे। (१२.०८)

अथ चित्तं समाधातुं, न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो, माम् इच्छातुं धनंजय ॥९॥

हे धनंजय, यदि तुम अपने मन को मुझमें स्थिर करने में असमर्थ हो, तो तुम (पूजा, पाठ आदि के) अभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा से प्रयत्न करो। (१२.०९)

अक्षिता को बढ़ाने के लिए प्रभु के प्रतीकों के उपयोग द्वारा व्यक्तिगत प्रभु की मानसिक प्रतिमा को सहायक सामग्री के रूप में प्रयोग करते हुए अपने मन को सतत रूप से केन्द्रित करो, लगाओ, मननशील रखो।

अभ्यासेऽप्य असमर्थोऽसि, मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थम् अपि कर्मणि, कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्यसि ॥१०॥

यदि तुम अभ्यास करने में असमर्थ हो, तो मेरे लिए अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करो, कर्मों को मेरे लिए करते हुए तुम मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धि पाओगे। (९.२७, १८.४६ भी देखें।) (१२.१०)

अथैतद् अप्य अशक्तोऽसि, कर्तुं मधोगम् आश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं, ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

यदि इसे भी करने में तुम असमर्थ हो, तो मुझपर आश्रित होकर, मन पर विजय प्राप्त कर, सब कर्मों के फल की आसक्ति का त्याग करो। (१२.११)

१२.०८-११ श्लोकों का मूल अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को प्रभु के साथ कोई आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए—जैसे प्रजनक, पिता, माता, प्रियतम, वत्स, रक्षक, गुरु, स्वामी, नौकर, सहायक, अतिथि, मित्र और यहां तक कि शत्रु का भी सम्बन्ध।

कर्मयोग का सरल और सर्वोत्तम मार्गं

श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासाज्, ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्, त्यागच्च छान्तिर् अनन्तरम् ॥१२॥

मर्म जाने बिना अभ्यास करने से शास्त्रों का ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से परमात्मा के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है, और सब कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग ध्यानसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति होती है। (१२.१२)

भक्त के लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः, समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मप्य अर्पितमनोबुद्धिर्, यो मद्रक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो मनुष्य सभी प्राणियों से द्वेषरहित है, सबका प्रेमी है, दयालु है, ममता और अहंकार से रहित है, सुख और दुःख में सम, क्षमाशील और संतुष्ट है; जो अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके मुझमें दृढनिश्चय होकर अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पण करके सदा मेरा ही ध्यान करता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। (१२.१३-१४)

प्रभु के साथ एकात्म होने के लिए व्यक्ति को नैतिक गुणों को विकसित करते हुए प्रभु के समान ही पूर्ण होना होगा। सन्त तुलसीदास कहते हैं: हे प्रभु, जिसे आपकी कृपा का वरदान मिलता है, वह परिपूर्णता का महासागर हो जाता है। काम, क्रोध, मद, मोह तथा लोभ का दस्यु-दल तभी तक मन को यातना देता है, जब तक कि अन्तरात्मा में प्रभु का वास नहीं होता। भक्ति के दो अनन्य सफल साधन हैं—सद्गुण और अनुशासन। आदर्श भक्त अथवा

ब्रह्मज्ञानी के गुणों का वर्णन करते हुए सदगुणों और सदमूल्यों की सूची श्लोक १२.१३-१६ में दी गई है।

यस्मान् नोद्विजते लोको, लोकान् नोद्विजते च यः ।

हर्षमर्षभयोद्वेगैर्, मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे कोई व्यक्ति उद्वेग प्राप्त नहीं करता तथा जो स्वयं भी किसीसे उद्विग्न नहीं होता; जो सुख, दुःख, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। (१२.१५)

अनपेक्षः शुचिर् दक्ष, उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्वक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो आकांक्षा-रहित, शुद्ध, कुशल, पक्षपात से रहित, सुखी और सभी कर्मों में अनासक्त है, वैसा भक्त मुझे प्रिय है। (१२.१६)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न किसी से द्वेष करता है, न सुख में हर्षित होता है और न दुःख में शोक करता है; जो कामना-रहित है तथा शुभ और अशुभ दोनों कर्मों के फल का त्याग करनेवाला है, वैसा भक्तियुक्त मनुष्य मुझे प्रिय है। (१२.१७)

समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर् मौनी, संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्, भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी तथा सुख और दुःख में सम है; जो आसक्ति-रहित है, जिसके लिए निन्दा और स्तुति दोनों बराबर हैं, जो कम बोलता है, जो कुछ हो उसीमें संतुष्ट है, जिसे स्थान में आसक्ति नहीं है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। (१२.१८-१९)

व्यक्ति निष्ठापूर्वक दैवी गुण पाने का यत्न करे

ये तु धर्मामृतम् इदं, यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धाना मत्परमा, भक्तास् तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

जो श्रद्धावान् भक्त मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर उपरोक्त धर्मपय अमृत का जीवन जीते हैं, वे तो मुझे बहुत ही प्रिय हैं। (१२.२०)

उच्च कोटि के भक्तों की भगवान से कोई चाह नहीं होती, मुक्ति की भी नहीं। उनकी बस एक ही वरदान की कामना होती है— जन्म-जन्मान्तर में प्रशु राम के चरण-कमलों की भक्ति की (तु.रा. २.२०४.००)। निम्नकोटि के भक्त अपनी भौतिक मांगों और कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान का उपयोग नौकर की तरह करते हैं। प्रशु के कमल-चरणों में अविचल प्रेम और भक्ति का विकास ही समस्त आध्यात्मिक साधनों और पुण्य कर्मों का अन्तिम ध्येय है और मानव-जन्म का उद्देश्य भी। सच्चा भक्त स्वयं को सेवक और प्रशु को स्वामी मानता है तथा समस्त सृष्टि को प्रशु का शरीर।

नवधा भक्ति

अधिकतर प्राणियों के लिए भक्ति श्रेष्ठतर मार्ग है, किन्तु भक्ति निजी प्रयास, आस्था और प्रभु की कृपा के बिना विकसित नहीं होती। प्रभुप्रेम के विकास की नौ विधियां, जिन्हें नवधा भक्ति कहा जाता है, तुलसी रामायण (तु.रा. ३.३४.०४-३.३५.०३) के अनुसार हैं— (१) सत्संग—सन्तों और ज्ञानियों का साथ, (२) श्रवण—प्रभु की महिमा, प्रभु का अवतार और रामायण, महाभारत, भागवत महापुराण आदि शास्त्रों में वर्णित प्रभु की सृष्टि, पोषण और प्रलय सम्बन्धी लीलाओं की कथा का सुनना, सुनाना, (३) सेवा—गुरु, दीनों, सन्तों और समाज की सेवा के माध्यम से प्रभु की सेवा करना, (४) संकीर्तन—प्रभु की महिमा का सामृहिक कीर्तन-गान, (५) स्मरण—दृढ़ विश्वास के साथ मंत्र और राम-नाम का जप, (६) संयम—छः इन्द्रियों पर अनुशासन और नियंत्रण तथा अनासक्ति, (७) सियाराममय सर्व—सर्वत्र और सब वस्तुओं में प्रभु का ही दर्शन, (८) सन्तोष—लोभ के अभाव के साथ-साथ दूसरों के दोषों को न देखने का भाव तथा (९) सरलता और क्रोध, ईर्ष्या, धृणा आदि का अभाव। श्रेष्ठतम कार्य जो व्यक्ति को करना चाहिए वह है—प्रभु-प्रेम का विकास। भगवान राम कहते हैं: प्रभु-प्रेम के विकास के लिए और भक्त बनने के लिए मानव को श्रद्धापूर्वक उपरोक्त विधियों में से किसी एक का भी पालन करना सीखना चाहिए।

प्रभु-प्राप्ति के लिए साधु-सन्तों का समागम (सत्संग) अत्यन्त शक्तिशाली साधन है। कहा गया है कि मैत्री, संवाद, व्यवहार और विवाह बराबरवालों से या उनसे, जो श्रेष्ठतर हैं, होना चाहिए, निम्न कोटि के लोगों से नहीं (म.भा. ५.३३.११७)। व्यक्ति की पहचान उसके साथियों से होती है। स्वामी प्रभुपाद के अनुसार भक्तिमार्ग का पालन करना अत्यन्त सहज और सरल है। कोई भी उसे मंत्र के जप से शुरू कर सकता है। जल का एक बिन्दु, चाहे वह किसी भी मार्ग का अनुसरण करे, अन्ततः सागर तक पहुंच ही जाता है।

इस प्रकार भक्तियोग नामक बाह्यवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः
१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रम् इत्य् अभिधीयते ।

एतद् यो वेति तं प्राहुः, क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्रीभगवान बोले—हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो इस क्षेत्र को जानता है, उसे ज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (१३.०१)

जो भी यहां इस शरीर में है, वही वहां ब्रह्माण्ड में है, अन्तरिक्ष में है, जो भी वहां है, वही यहां है (कठ.उ. ४.९०)। मानवीय शरीर वृहत्तर ब्रह्माण्ड की ही प्रतिकृति है।

सृष्टि-सिद्धान्त

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्ध, सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् ज्ञानं, यत् तज् ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे भरतवंशी अर्जुन, मुझे तुम सभी क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ जानो। मेरे मत से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। (१३.०२)

शरीर (सृष्टि) और आत्मा (स्पष्ट) एक दूसरे से शिन्न हैं। किन्तु अज्ञानी लोग उनमें अन्तर करने में समर्थ नहीं हैं। वह ज्ञान, जिससे व्यक्ति शरीर और आत्मा के भेद को स्पष्ट करने में समर्थ होता है, सच्चा ज्ञान है।

तत् क्षेत्रं यच् च यादृक् च, यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च, तत् समासेन मे शृणु ॥३॥

क्षेत्र क्या है, कैसा है, इसका स्रोत कहां है, इसकी विभूतियां क्या हैं; तथा क्षेत्रज्ञ क्या है, उसकी शक्तियां क्या हैं, वह सब संक्षेप में सुनो। (१३.०३)

ऋषिभिर् बहुधा गीतं, छन्दोभिर् विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव, हेतुमद्विर् विनिश्चितैः ॥४॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से बताया गया है तथा नाना प्रकार के वेदमंत्रों और ब्रह्मसूत्र के युक्तियुक्त पदों द्वारा भी विस्तारपूर्वक कहा गया है। (१३.०४)

गीता भी अन्य शास्त्रों के सत्य को प्रतिपादित करती है। सारे शास्त्र और सब धर्मों के समस्त सन्त-मुनि उसी एक परम सत्ता ब्रह्म के सागर से सत्य का जल ग्रहण करते हैं। व्यक्ति की आवश्यकताओं और देशकालगत समाज के अनुकूल उनका स्वर व्याख्या या बल शिन्न होते हैं।

महाभूतान्य् अहंकारो, बुद्धिर् अव्यक्तम् एव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च, पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं, संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत् क्षेत्रं समासेन, सविकारम् उदाहृतम् ॥६॥

अव्यक्त, अर्थात् आदि प्रकृति, महत्त्व, अहंकार तत्त्व, पांच महाभूत, दस इन्द्रियां, मन, पांचो ज्ञानेन्द्रिय के पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना तथा धैर्य इस प्रकार विभूतियों के सहित क्षेत्र का वर्णन संक्षेप में किया गया है। (७.०४ भी देखें।) (१३.०५-०६)

सांख्य-सिद्धान्त (भा.पु. ३.२६.१०-१८, ११.२२.१०-१६) के अनुसार ब्रह्म निम्न क्रम के अनुसार पच्चीस मूल तत्त्वों में रूपान्तरित होता है— पुरुष (चेतना, काल, ईश्वर) तथा आदि प्रकृति (महत्) के निम्न चौबीस रूपान्तर— चार अन्तःकरण (मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार); पांच मूल तत्त्व (महाभूत) (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी); पांच ज्ञान पदार्थ (तन्मात्रा) (ध्वनि, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद और ग्राण); पांच ज्ञानेन्द्रिय (कर्ण, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका); तथा पांच कर्मेन्द्रियां (मुख, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय)।

शरीर में किए गए विभिन्न कर्मों के अनुसार महत् विभिन्न नामों से जाना जाता है। अनुभूति और चिन्तन करते समय वह मनस् है; तर्क-वितर्क और विचार करते समय वह बुद्धि है। जब वह स्मरण कार्य करता है या एक विचार से दूसरे विचार की ओर ब्रह्मण करता है, तब चित्त कहलाता है; और जब वह कर्ता और व्यक्तित्व की अनुभूति करता है, तब अहंकार कहलाता है। अन्तःकरण (सूक्ष्मेन्द्रिय) शब्द इन चारों—मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार—के लिए प्रयुक्त होता है। वास्तव में संस्कार ही हैं, जो मनस् और बुद्धि की सहायता से अन्तिम निर्णय लेते हैं। जब महत् शरीर में कर्म करता है, तब वह प्राण कहलाता है।

चेतना (या *Consciousness*) स्वयं को ऊर्जा (या *Energy*, प्राण) और पदार्थ (या *Matter*, प्रकृति) दोनों के रूप में प्रकट करती है। पदार्थ और कुछ भी नहीं बल्कि ऊर्जा का दृश्य या सघन रूप है। आइस्टीन के अनुसार मन और पदार्थ दोनों ऊर्जा हैं। रमन महर्षि ने कहा: मन पदार्थ का एक रूप है जो स्वयं को ब्रह्मांडों के रूप में प्रकट करता है।

निर्वाण-साधन के रूप में चतुर्विधि आर्षसत्य

अमानित्वम् अदम्पित्वम्, अहिंसा क्षान्तिर् आर्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं, स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

अपने में मान और दिखावे का न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, स्थिरता, मन का वश में होना; इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का अभाव तथा जन्म, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु में दुःखरूप दोषों को बार-बार देखना; (१३.०७-०८)

गीता का श्लोक १३.०८ बौद्धधर्म की आधारशिला है। जन्म, मरण, रोग और मृत्यु में अन्तर्निहित यंत्रणा, पीड़ा और दुःख का सतत मनन और ज्ञान ही बौद्धधर्म में चार आर्षसत्य कहे गए हैं। आध्यात्मिक यात्रा करने से पूर्व इस सत्य का स्पष्ट ज्ञान तथा अनुभूति अनिवार्य है। आध्यात्मिक यात्रा से पहले संसार और इसके पदार्थों की निस्सारता और अवास्तविकता के प्रति जुगुप्सा और असंतोष आवश्यक हैं। जैसे पक्षी थका होने पर ही वृक्ष की शरण ढूँढ़ता है, वैसे ही मानव भौतिक अस्तित्व की कुंठा, निराशा और हर्ष- विहीनता की अनुभूति के बाद ही दैवी शरण की खोज करता है।

असक्तिर् अनभिष्ठुः, पुन्रदारग्नहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वम्, इष्टानिष्ठोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन, भक्तिर् अव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिर् जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज् ज्ञानम् इति प्रोक्तम्, ज्ञानं यद् अतोऽन्यथा ॥११॥

आसक्तिरहित होना, पुत्र, स्त्री, घर आदि में ममता का न होना; प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सम रहना, मुझमें अनन्ययोग के द्वारा अटल भक्ति का होना, एकान्त में रहना, संसारी मनुष्यों के समाज से अरुचि, अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति में संलग्न रहना, और तत्त्वज्ञान द्वारा सर्वत्र परमात्मा को ही देखना—यह सब ज्ञान (प्राप्ति के साधन) है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान कहा गया है। (१३.०९-११)

जब व्यक्ति को यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि प्रभु ही सब कुछ हैं—माता, पिता, बन्धु, मित्र, शत्रु, पालक, विनाशक और शरण—तथा प्रभु से बड़ा कुछ भी पाने को नहीं है और जब उसके मन में किसी और वस्तु का विचार नहीं आता, तब यह कहा जाता है कि उस व्यक्ति में मन की एकाग्रता से किए गए प्रभु के चिन्तन-मनन द्वारा प्रभु की अविचल भक्ति का विकास हुआ है। मन की इस अवस्था में साधक और साध्य, प्राप्तकर्ता और प्राप्त्य, गुणात्मक

दृष्टि से एक और वही हो जाते हैं। 'अनन्य' शब्द का प्रयोग श्लोक ८.१४, ८.२२, ६.९३, ६.२२, ६.३०, ९९.५४, ९२.०६ और ९३.९० में किंचित् भिन्न अर्थों में हुआ है।

द्वष्टान्त कथा द्वारा ही प्रभु का वर्णन सम्भव

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि, यज् ज्ञात्वाऽमृतम् अश्नुते ।

अनादिमत् परं ब्रह्म, न सत् तन् नासद् उच्यते ॥१२॥

मैं तुम्हें जानने योग्य वस्तु अर्थात् परमात्मा के बारे में अच्छी तरह कहूँगा, जिसे जानकर मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। वह अनादि परब्रह्म परमात्मा न सत् (अर्थात् अक्षर या अविनाशी) है, न असत् (अर्थात् क्षर या नाशवान्) है। (वह इन दोनों से परे, अक्षरातीत, है।) (१.१९, ११.३७, १५.१८ भी देखें।) (१३.१२)

आदि में न सत् था, न असत्; न आकाश था, न वायु; न दिन था, न रात्। परब्रह्म अथवा सच्चिदानन्द को छोड़कर कुछ भी नहीं था (ऋ.वे. १०.१२६.०१). परब्रह्म क्षर पुरुष (नारायण अथवा असत्) और अक्षर पुरुष अथवा सत् दोनों से परे है (श्लोक १५.१८). अतः वह सत् है न असत्, बल्कि सत् और असत् दोनों से परे, अक्षरातीत है। परब्रह्म सत् भी है और असत् भी (श्लोक ६.१६) और सत् और असत् से परे भी (श्लोक ११.३७), क्योंकि वह सर्वत्र है, सब कुछ है और सब पदार्थों से परे भी है।

सर्वतःपाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरामुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमल् लोके, सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥१३॥

उसके हाथ और पैर सब जगह हैं; उसके नेत्र, सिर, मुख और कान भी सब जगह हैं; क्योंकि वह सर्वव्यापी है। (ऋ.वे. १०.८१०.०३, श्वे.उ. ३.१६ भी देखें।) (१३.१३)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभूच् चैव, निर्गुणं गुणभोक्तु च ॥१४॥

वह (प्राकृत) इन्द्रियों के बिना भी (सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा) सभी विषयों का अनुभव करता है। सम्पूर्ण संसार का पालन-पोषण करते हुए भी आसक्तिरहित है तथा प्रकृति के गुणों से रहित होते हुए भी (जीवरूप धारण कर) गुणों का भोक्ता है। (१३.१४)

ब्रह्म बिना पगों के चलता है, बिना कानों के सुनता है, बिना हाथों के कर्म करता है, बिना नाक के सूंघता है, बिना आँखों के देखता है, बिना मुख के बोलता है और बिना जीभ के सब स्वादों का आनन्द लेता है। उसके समस्त कर्म इतने व्यु हैं कि उसकी महानता एकदम वर्णनातीत है (तु.सा. १.११७.०३-०४). ब्रह्म का वर्णन केवल द्वष्टान्त और विरोधाभासों के माध्यम से ही किया जा सकता है और किसी प्रकार नहीं (श्वे.उ. ३.१६). भौतिक प्रकृति के तीन गुणों का भोग करने के लिए ब्रह्म अपना विस्तार जीव रूप में करता है।

बहिर् अन्तर्श्च भूतानाम्, अचरं चरम् एव च ।

सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयं, दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

सभी चर और अचर भूतों के बाहर और भीतर भी वही है। सूक्ष्म होने के कारण वह (मनुष्य की इन्द्रियों द्वारा देखा या) जाना नहीं जा सकता है तथा वह (सर्वव्यापी होने के कारण) अत्यन्त दूर भी है और समीप भी। (१३.१५)

अविभक्तं च भूतेषु, विभक्तम् इव च स्थितम् ।

भूतभर्तु च तज् ज्ञेयं, ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

वह एक होते हुए भी प्राणीरूप में अनेक दिखाई देता है। वह ज्ञान का विषय है तथा सभी भूतों को उत्पन्न करनेवाला, पालन-पोषण करनेवाला और संहारकर्ता भी वही है। (११.१३, १८.२० भी देखें।) (१३.१६)

एक ही पृथ्वी अनेक देशों में विभाजित-सी लगती है, एक ही देश इतने प्रदेशों में बंटा लगता है और एक प्रदेश इतने जनपदों में। इसी प्रकार एक ही सत्य अनेक दिखाई देते हैं। वे सब आभासित खण्ड हैं, क्योंकि उन सबमें सत्य का एक ही क्रम है, वही व्यवस्था है। ईश्वर शब्द का प्रयोग स्त्रा, पालक, नियन्ता, विनाश कर्ता आदि ब्रह्म के इन विभिन्न रूपों के अर्थ में हुआ है।

ज्योतिषाम् अपि तज् ज्योतिस्, तमसः परम् उच्यते ।

ज्ञानं झेयं ज्ञानगम्य, हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

वह, सभी ज्योतियों का स्रोत, अन्धकार से परे है। वही ज्ञान है, ज्ञान का विषय है और वह तारतम्य विद्या द्वारा जाना जा सकता है। वह (ईश्वर-रूप से) सबके अन्तःकरण में रहता है। (गीता १५.०६, १५.१२ तथा मु.उ. ३.०१.०७, श्व.उ. ३.०८ भी देखें।) (१३.१७)

जो भी परमप्रभु को, जो सूर्य से अधिक कान्तिमय और (भौतिक पदार्थ के) तम से परे है, जानता है, वह मृत्यु से ऊपर उठ जाता है। इस ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मार्ग है छी नहीं (यजु.वे. ३९.७८, सा.वे. ३.०८)।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं, झेयं चोक्तं समाप्ततः ।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय, मद्भावायोपपद्धते ॥१८॥

इस प्रकार (मेरे द्वारा) सृष्टि, तत्त्वज्ञान और जानने योग्य परमात्मा के विषय में संक्षेप से कहा गया। इसे तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है। (१३.१८)

पुरुष, प्रकृति, आत्मा, और परमात्मा का वर्णन

प्रकृतिं पुरुषं चैव, विद्ध्य अनादी उभाव् अपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव, विदिधि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः प्रकृतिर् उच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां, भोक्तृत्वे हेतुर् उच्यते ॥२०॥

प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को तुम अनादि जानो। सभी विभूतियां और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति भी प्रकृति से होती है और सुख-दुःख का अनुभव पुरुष (अर्थात् चेतन शक्ति) के द्वारा होता है। (१३.१९-२०)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि, भुडक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य, सदस्योनिजन्मस्य ॥२१॥

प्रकृति के साथ मिलकर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है। प्रकृति के गुणों से संयोग के कारण ही पुरुष (जीव बनकर) अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेता है। (१३.२१)

पुरुष प्रकृति से अप्रभावित है, जैसे सूर्य का जल में प्रतिबिम्ब जल के तत्त्वों से अप्रभावित है। अपने स्वभाव के कारण पुरुष छः ज्ञानद्वियों और अहम् के संसर्ग में आता है और उससे लिप्त हो जाता है, अपने मूल स्वभाव को भूल जाता है, अच्छे-बुरे कर्म करता है, अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है और जीव के रूप में जन्म लेता है (आ.पु. ३.२७.०५-०३). जीव माया, ईश्वर और अपने मूल रूप को नहीं जानता। जीव मानव शरीर के जलपात्र में ब्रह्मरूपी चन्द्र का प्रतिबिम्ब है।

उपद्रष्टानुमत्ता च, भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्य् उक्तो, देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

यह परम पुरुष (अर्थात् आत्मा) ही (जीवरूप से) इस शरीर में साक्षी, सम्पति देनेवाला, पालनकर्ता, भोक्ता, महेश्वर, परमात्मा आदि कहा जाता है। (१३.२२)

शरीर-वृक्ष के अन्तःकरणरूपी घोंसले में जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं। प्रकृति में लिप्त होने के कारण जीव दुःख-सुख भोगता है तथा बन्धन और मुक्ति के अधीन है, जबकि ईश्वर प्रकृति से निर्लिप्त होने के कारण साक्षी और मार्गदर्शक के रूप में मुक्त रहता है। (भा.पु. ९९.९९.०६ तथा ऋ.वे. १.९६४.२०, अथ.वे. ६.०६.२०, मु.उ. ३.०९.०९ और श्व.उ. ४.०६ भी देखें।) ईश्वर प्रकृति के गुणों से अप्रभावित और निर्लिप्त रहता है, जैसे कमल जल से।

पुरुष सचेतन है, प्रकृति अचेतन। प्रकृति पुरुष के सहयोग से पांच ग्राणों और तीन गुणों का प्रादुर्भाव करती है। पुरुष ही ईश्वर के रूप में भौतिक शरीर-जो प्रकृति के चौबीसि तत्त्वों से बना नौ द्वाराँवाला घर है—में निवास करता हुआ प्रकृति के गुणों से मिलकर ऐन्द्रिय पदार्थों का भोग करता है। माया के प्रभाव में पुरुष अपने वास्तविक स्वभाव को भूल जाता है तथा सुख-दुःख का अनुभव करता है, अच्छे-बुरे काम करता है, अज्ञानवश स्वेच्छा से किए कर्मों के बन्धन में बंध जाता है और मुक्ति की खोज करता है। जब जीव ऐन्द्रिय पदार्थों का त्याग कर देता है और प्रकृति के गुणों से ऊपर उठ जाता है, तब वह मुक्ति पा लेता है।

अनन्त शक्ति से सम्पन्न मन अपने रहने तथा अन्तिम वासनाओं की पूर्ति के लिए शरीर की रचना करता है। जीव स्वेच्छा से रेशम के कीड़े की तरह अपने ही बुने कृमिकोष (*Cacoon*) में फंस जाता है और निकल नहीं पाता तथा यातना भोगता है। जीव अपने ही कर्म से बंध जाता है और आवागमन के चक्र में फंस जाता है। सभी अच्छे-बुरे कर्म, यदि वे अहं के साथ किए जाते हैं, बन्धन को जन्म देते हैं। अच्छे कर्म सोने की बेड़ियां हैं, बुरे कर्म लोहे की दोनों ही बेड़ियां हैं। सुनहरी बेड़ी कंगन नहीं हो सकती।

जीव एक किसान की भाँति है, जिसे शरीर के रूप में भूमि का एक टुकड़ा दिया गया है। किसान को इस भूमि से काम, क्रोध और लोभ की घास को उखाड़ कर प्रभुप्रेम की अगाध कामना का हल जोतकर प्रभु में विश्वासरूपी खाद डालना चाहिए। समय आने पर खेत में भक्ति का अंकुर उग आएगा। अपने चुने हुए इष्टदेव के रूप के ध्यान और जप के जल से इस अंकुर को सतत रूप से अविराम सीचना चाहिए। ज्ञान और वैराग्य के फूलों के खिल जाने पर जीव को अपनी वास्तविक प्रकृति-वित्स्मरण का लोप हो जाता है। इन फूलों से आत्मज्ञान और प्रभुदर्शन के फल उगते हैं, जो जीव को आवागमन से मुक्ति की ओर ले जाते हैं।

य एवं वेति पुरुषं, प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य यथार्थरूप से जान लेता है, वह सभी कर्तव्यकर्म करता हुआ भी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता है। (१३.२३)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिद् आत्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई साधक ध्यान के अभ्यास से, कोई सांख्ययोग के द्वारा तथा कोई कर्मयोग के द्वारा (शुद्ध किए हुए) मन और बुद्धि से अपने अन्तःकरण में परमात्मा का दर्शन करता है। (१३.२४)

विश्वास भी मोक्ष का मार्ग

अन्ये त्वं एवम् अजानन्तः, श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्य एव, मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

परन्तु, दूसरे जो परमात्मा को इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि द्वारा) नहीं जानते, वे केवल शास्त्र और महापुरुषों के वचनों के अनुसार उपासना करते हैं। वे भी मृत्युरुपी संसार सागर को श्रद्धारुपी नौका द्वारा निस्संदेह पार कर जाते हैं। (१३.२५)

धन्य हैं वे, जिन्होंने बिना समझे विश्वास किया है। प्रभु की कृपा पाने, उन्हें प्यार करने तथा पाने के लिए प्रभु को पूर्णतः समझना या जानना आवश्यक नहीं है।

यावत् संजायते किंचित्, सत्त्वं स्थावरजडगमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्, तद् विदिधि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, चर और अचर जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उन सबको तुम प्रकृति और पुरुष (अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) के संयोग से ही उत्पन्न हुए जानो। (७.०६ भी देखें।) (१३.२६)

समं सर्वेषु भूतेषु, तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्व्य अविनश्यन्तं, यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो मनुष्य अविनाशी परमेश्वर को ही समस्त नश्वर प्राणियों में समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में ईश्वर का दर्शन करता है। (१३.२७)

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितम् ईश्वरम् ।

न हिनस्त्य् आत्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

क्योंकि सबमें स्थित एक ही परमेश्वर को देखनेवाला मनुष्य अपने-आप अपनी ही (अर्थात् किसी की भी) हिंसा नहीं करता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है। (१३.२८)

प्रकृत्यैव च कर्माणि, क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानम्, अकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो मनुष्य सभी कर्मों को प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और अपनेआप को (तथा आत्मा को भी) अकर्ता मानता है, वास्तव में वही ज्ञानी है। (३.२७, ५.०९, १४.१९ भी देखें।) (१३.२९)

यदा भूतपृथग्भावम्, एकस्थम् अनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं, ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जिस क्षण साधक सभी प्राणियों को तथा उनके अलग-अलग विचारों को एकमात्र परब्रह्म परमात्मा से ही उत्पन्न समझ जाता है, उसी क्षण वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। (१३.३०)

ब्रह्म के लक्षण

अनादित्वान् निर्गुणत्वात्, परमात्मायम् अव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय, न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे अर्जुन, अविनाशी परमात्मा अनादि और विकार-रहित होने के कारण शरीर में वास करता हुआ भी न कुछ करता है और न देह से लिप्त होता है। (१३.३१)

परमात्मा को निर्गुण कहा गया है, क्योंकि वह प्रकृति के तीन गुणों से युक्त नहीं है। निर्गुण शब्द को गलती से निराकार भी समझा गया है। 'निर्गुण' शब्द केवल भौतिक गुण और आकार-जैसा हम जानते हैं—के अभाव की ओर ही संकेत करता है। वस्तुतः प्रशु एक अप्रतिम व्यक्तित्व और असंख्य दिव्य गुणों के स्वामी हैं।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद्, आकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे, तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे सर्वव्यापी आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण किसी विकार से दूषित नहीं होता, वैसे ही (सर्वव्यापी) आत्मा सभी देह के अन्दर रहते हुए भी (देह के) विकारों से दूषित नहीं होता। (१३.३२)

आत्मा सर्वत्र विद्यमान है। यह शरीर के भीतर है, शरीर के बाहर है और शरीर के चारों ओर तथा सभी जगह है।

यथा प्रकाशयत्य् एकः, कृत्स्नं लोकम् इमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं, प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन, जैसे एक ही सूर्य सारे जगत् को प्रकाश देता है, वैसे ही एक परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चेतना प्रदान करता है। (१३.३३)

शंकराचार्य के अनुसार व्यक्ति अज्ञानवश सृष्टि को तो देखता है, पर स्त्रा को नहीं, जो सृष्टि के पीछे है, वैसे ही जैसे रात के अंधेरे में व्यक्ति सांप को देखता है, सांप के असत्य आभास को आधार देने वाली रस्सी को नहीं। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ के अस्तित्व का आभास होता है, तो वह मृगमरीचिका, स्वप्न या रस्सी में सांप के अस्तित्व की तरह अयथार्थ है, कल्पना है। अद्वैत, जो सारी सृष्टि को स्वप्नलोक के रूप में नकारता है, पूर्ण सत्य नहीं है। वेदों के अनुसार प्रशु (अन्तर्यामी रूप से) लोक में भी है और लोकातीत भी है; तथा लोक में और लोकातीत दोनों एक ही साथ भी है। संसार को स्वप्न-जैसा मानना एक रूपक है, मात्र कुछ विषयों का अर्थ समझाने के लिए, उसको अक्षरशः अर्थ में दूर तक नहीं ले जाना चाहिए।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् एवम्, अन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च, ये विदुर् यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा जीव के प्रकृति के विकारों से मुक्त होने के उपाय को जो लोग जान लेते हैं, वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। (१३.३४)

ब्रह्म अपनी माया को वैसे ही विकीर्ण करता है, जैसे सूर्य प्रकाश को प्रसारित करता है, अग्नि ऊर्ध्वा देती है और चांद स्निध्य किरणें प्रदान करता है (देवी भा. ७.३२.०५)। माया ब्रह्म की अबोधगम्य दिव्य शक्ति है, जो शक्ति के स्वामी ब्रह्म से अलग नहीं है। माया में रचना की शक्ति है। माया जीव का शरीर के साथ तादात्म्यता स्थापित करती है तथा प्रकृति के तीन गुणों का भोग कराकर जीव को ब्रह्मस्वरूप अपनी वास्तविक प्रकृति को भुलवाकर प्रभ्रम में डाल देती है। सृष्टि ब्रह्म की शक्ति का मात्र आंशिक प्रकटीकरण है और इसे स्वप्नलोक की भाँति मिथ्या, असत् आदि भी कहा गया है, क्योंकि यह परिवर्तन और विनाश के अधीन

है। मिट्टी वास्तविक है, सत है; तथा पात्र अवास्तविक और असत है; क्योंकि मिट्टी पात्र के बनने से पूर्व भी विद्यमान रहती है, पात्र के रहते भी और पात्र के विनष्ट होने के बाद भी।

सृष्टि ब्रह्म की शक्तियों का अनायास स्वाभाविक चित्रण है, अतः उद्देश्यहीन है (मु.ज. १०७.०७)। ब्रह्म की सृष्टि कर्म बिना किसी उद्देश्य या ध्येय के लिए रची गई माया दैवी की लीला मात्र है (ब्र.सू. २.०९.३३)। सृष्टि कुछ नहीं है सिवाय ब्रह्म की अनन्त, असीम शक्ति का—खेल के लिए किया गया—पदार्थ में स्वाभाविक रूपान्तर और अरूपान्तर के (आइंस्टाइन का $E=mc^2$ सूत्र)। सृष्टि स्रष्टा से उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे कपड़ा कपास से। कपड़े के संदर्भ में जुलाहा हर तर्तु में उपस्थित नहीं है, परन्तु सृष्टि में कर्ता और भौतिक कारण दोनों एक ही और वही है। सचमुच में यह एक दिव्य रहस्य है। विश्व में सब कुछ एक दूसरे से सम्बद्ध है। सृष्टि एक यांत्रिक या इंजीनियरी निर्माण कार्य नहीं है, यह तो दैवी भव्यता को प्रकट करती हुई परम आध्यात्मिक चमत्कार है। सृष्टि प्रभु द्वारा, प्रभु के लिए, प्रभु की संरचना है। सृष्टि स्रष्टा के एक अंश का विस्तार मात्र है।

इस प्रकार क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गुणत्रयविभागयोगः

१४. गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानां ज्ञानम् उत्तमम् ।

यज् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे, परां सिद्धिम् इतो गताः ॥१॥

श्रीभगवान बोले— समस्त ज्ञानों में उत्तम उस परम ज्ञान को मैं फिर से कहूँगा, जिसे जानकर सब साधकों ने इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की है। (१४.०१)

इदं ज्ञानम् उपाश्मित्य, मम साधर्थम् आगताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त मनुष्य सृष्टि के आदि मैं पुनर्जन्म नहीं लेते तथा प्रलयकाल में भी व्यथित नहीं होते। (१४.०२)

पुरुष प्रकृति संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति

मम योनिर् महद् ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्य अहम् ।

संभवः सर्वभूतानां, ततो भवति भारत ॥३॥

हे अर्जुन, मेरी महद् ब्रह्मरूप प्रकृति सभी प्राणियों की योनि है, जिसमें मैं चेतनारूप बीज डालकर (जड़ और चेतन के संयोग से) समस्त भूतों की उत्पत्ति करता हूँ। (९.१० भी देखें) (१४.०३)

माया द्वारा उत्पन्न प्रकृति महद्ब्रह्म का स्रोत है, मूल है। अतः प्रकृति को महद्ब्रह्म भी कहा गया है। महद्ब्रह्म के कई नाम हैं, यथा महत्, महतत्त्व, परमबुद्धि और वैशिक मनस्

. जब प्रकृति में पुरुष का बीज अंकुरित होने के लिए बोया जाता है, तब प्रकृति सृष्टि की रचना करती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय, पूर्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद् योनिर्, अहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कुन्नीपुत्र, सभी योनियों में जितने शरीर पैदा होते हैं, प्रकृति उन सबकी माता है और मैं चेतना देनेवाला परम पिता हूँ। (१४.०४)

इसा ने कहा है कि परमपिता स्वर्ग में है। हमारी सम्मति में श्रीकृष्ण ही वह पिता हैं, जैसा कि स्वयं भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक में घोषणा की है।

प्रकृति के गुण ही आत्मा को शरीर से बांधते हैं

सत्त्वं रजस् तम् इति, गुणः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो, देहे देहिनम् अव्ययम् ॥५॥

हे अर्जुन, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणरूपी रस्सी—सत्त्व, रजस् और तमस्—अविनाशी जीव को देह के साथ बांध देते हैं। (१४.०५)

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्, प्रकाशकम् अनामयम् ।

सुखसङ्खेन बध्नाति, ज्ञानसङ्खेन चानघ ॥६॥

हे पापरहित अर्जुन, इनमें सतोगुण निर्मल होने के कारण विकाररहित और ज्ञान देनेवाला है, यह जीव को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बांधता है। (१४.०६)

रजो रागात्मकं विद्यि, तृष्णासङ्खयमुद्वाम् ।

तन् निबध्नाति कौन्तेय, कर्मसङ्खेन देहिनम् ॥७॥

हे अर्जुन, रजोगुण को रागस्वरूप समझो, जिससे विषय-भोग की प्यास (तृष्णा) और आसक्ति उत्पन्न होती है। यह जीवात्मा को कर्मफल की आसक्ति से बांधता है। (१४.०७)

तमस् त्वं अज्ञानं विद्यि, मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्, तन् निबध्नाति भारत ॥८॥

और हे भारत, सब जीवों का भ्रम में डालनेवाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जानो। तमोगुण लापरवाही, आलस और निद्रा के द्वारा जीव को बांधता है। (१४.०८)

सत्त्वं सुखे सञ्जयति, रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानम् आवृत्य तु तमः, प्रमादे सञ्जयत्य उत ॥९॥

हे अर्जुन, सतोगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्त करवाता है तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर जीव को लापरवाह बना देता है। (१४.०९)

प्रकृति के तीन गुणों के लक्षण

रजस् तमश् चाभिभूय, सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव, तमः सत्त्वं रजस् तथा ॥१०॥

हे अर्जुन, कभी रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण, कभी सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण तथा कभी सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है। (१४.१०)

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् , प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् , विवृद्धं सत्त्वम् इत्य् उत ॥११॥

जब ज्ञान का प्रकाश इस देह के सभी द्वारों (अर्थात् समस्त इन्द्रियों) को प्रकाशित करता है (अर्थात् जब जीवात्मा के अन्तःकरण में ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है), तब सतोगुण को बढ़ा हुआ जानना चाहिए. (१४.११)

ज्ञानेन्द्रियौ—नासिका, जिहवा, नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि—को शरीर में आत्मज्ञान के द्वार कहे गए हैं। जब निःस्वार्थ सेवा, संयम और साधना द्वारा इन्द्रियों की शुद्धि हो जाती है, तब मन और बुद्धि सत्त्वगुण से प्रभावित होते हैं और आत्मज्ञान पाने के पात्र हो जाते हैं। श्लोक १४.१७ में यह भी कहा गया है कि ज्ञान का उदय तभी होता है, जब व्यक्ति का मन पूर्णतः सत्त्वगुण में दृढ़ता से प्रस्थापित हो जाता है। जैसे प्रकाश में पदार्थ बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही जब आत्मज्ञान के प्रकाश के उद्दित होने से इन्द्रियां द्विमान हो जाती हैं, तब व्यक्ति उचित रूप से देखता और सोचता है, इन्द्रियां जो अनुचित हैं, उससे बचती हैं और मन में ऐन्ड्रिय आनन्द के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता।

लोभः प्रवृत्तिर् आरम्भः, कर्मणाम् अशमः स्पृहा ।

रजस्य् एतानि जायन्ते, विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, सक्रियता, सकाम कर्म, बेचैनी, लालसा आदि उत्पन्न होते हैं। (१४.१२)

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च, प्रमादो मोह एव च ।

तमस्य् एतानि जायन्ते, विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन, तमोगुण के बढ़ने पर अज्ञान, निष्क्रियता, लापरवाही, भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं। (१४.१३)

त्रिष्णु ही आत्मा के पुनर्जन्म के वाहक हैं

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु, प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकान् , अमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

जिस समय सतोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तो जीव उत्तम कर्म करनेवालों के निर्मल लोक अर्थात् स्वर्ग को जाता है। (१४.१४)

रजसि प्रलयं गत्वा, कर्मसद्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस् तमसि, मृट्योनिषु जायते ॥१५॥

जिस समय रजोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तो वह कर्मों में आसक्तिवाले मनुष्यों में जन्म लेता है। तमोगुण की वृद्धि के समय मरनेवाला मनुष्य पशु आदि मृद योनियों में जन्म लेता है। (१४.१५)

कर्मणः सुकृतस्याहुः, सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस् तु फलं दुर्खम् , अज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सात्त्विक कर्म का फल शुभ और निर्मल कहा गया है, राजसिक कर्म का फल दुर्ख और तामसिक कर्म का फल अज्ञान कहा गया है। (१४.१६)

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं, रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो, भवतोऽज्ञानम् एव च ॥१७॥

सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से लापरवाही, भ्रम और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। (१४.१७)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था, पध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था, अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति उत्तम लोकों को जाते हैं, राजस व्यक्ति मनुष्ययोनि में आते हैं और तमोगुण की हीन प्रवृत्तियों में स्थित तामस मनुष्य नीच योनियों में जन्म लेते हैं। (१४.१८)

गुणातीत होने पर मोक्ष

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं, यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेति, मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब विवेकी मनुष्य तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्ता नहीं समझता है तथा गुणों से परे मुश्क परमात्मा को तत्त्व से जान लेता है, उस समय वह मेरे स्वरूप अर्थात् सारूप्य मुक्ति को प्राप्त करता है। (३.२७, ५.०९, १३.२९ भी देखें) (१४.१९)

जो इस बात में पूर्णतः विश्वास नहीं करता कि ईश्वर ही सबका नियंत्रण करते हैं और अपनेआप को स्वामी, कर्ता और शोक्ता मान बैठता है, वह कर्म के नियमों के अनुसार बंध जाता है। वस्तुतः स्वयं भगवान ही प्राणियों के द्वारा प्राणियों की रचना तथा उन्हींके द्वारा उनका संहार भी करते हैं (भा.पु. ६.७२.७२). सब अच्छे-बुरे कर्मों को करने की शक्ति प्रभु से आती है, पर अन्त में हम ही अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं, क्योंकि हममें सोचने की शक्ति भी है। प्रभु ने हमें काम करने की शक्ति दी है, पर हम उस शक्ति को अच्छे या बुरे तरीके से उपयोग में लाने के लिए स्वतंत्र हैं और तदनुसार मुक्त या बन्धनमय होते हैं।

माया द्वारा निर्मित अज्ञान के कारण व्यक्ति अपने को कर्ता समझता है और परिणामस्वरूप कर्म-बन्धन में बंध जाता है तथा आवागमन के चक्र में पड़ जाता है (भा.पु. ७७.७७.७०). जब भी कोई अपनेको कुछ करनेवाला घोषित करता है या समझता है, तब वह कर्ता की श्रूमिका ग्रहण करता है, अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी होता है और आवागमन के जटिल कर्मजाल में फँस जाता है।

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन्, देही देहसमुद्वान् ।

जन्ममृत्युजरादुख्यैर्, विमुक्तोऽमृतम् अश्नुते ॥२०॥

जब मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण तथा देह से उत्पन्न तीनों गुणों से परे हो जाता है, तब वह मुक्ति प्राप्तकर जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु, के दुखों से विमुक्त हो जाता है। (१४.२०)

गुणातीत होने की प्रक्रिया

अर्जुन उवाच

कैर लिङ्गैस् त्रीन् गुणान् एतान्, अतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस्, त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले—हे प्रभो, इन तीनों गुणों से अतीत मनुष्य के क्या लक्षण हैं? उसका आचरण कैसा होता है? और मनुष्य इन तीनों गुणों से परे कैसे हो सकता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च, मोहम् एव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि, न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवद् आसीनो, गुणैर् यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्य् एव, योऽवतिष्ठति नेष्टगते ॥२३॥

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, जो मनुष्य तीनों गुणों के कार्य ज्ञान, सक्रियता और भ्रम में बंध जाने पर बुरा नहीं मानता और उनसे मुक्त होने पर उनकी आकांक्षा भी नहीं करता, जो साक्षी के समान रहकर गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता तथा "गुण ही अपने-अपने कार्य कर रहे हैं" ऐसा समझकर परमात्मा में स्थिर भाव से स्थित रहता है; (१४.२२-२३)

समदुःखसुखः स्वस्थः, समलोष्टाश्मकाङ्घनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस् तुल्यस्, तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जो निरन्तर आत्मभाव में रहता है तथा सुख-दुःख में समान रहता है; जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर है; जो धीर है; जो प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र में समान भाव रखता है और जो सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन के भाव से रहत है वह गुणातीत कहलाता है। (१४.२४-२५)

गुरु नानक ने कहा है: जो प्रसन्नतापूर्वक प्रश्न की इच्छा या विद्यान का पालन करता है, वही मुक्त और ज्ञानी है। केवल ऐसे व्यक्ति के लिए ही सोना और पत्थर, पीड़ा और आनन्द एक-से होते हैं।

अनन्य भक्ति द्वारा गुण-बन्धनों को काटना सम्भव

मां च यो ऽव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान्, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो मनुष्य अनन्यभक्ति से निरन्तर मेरी उपासना करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को

पार करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। (७.१४, १५.१९ भी देखें.)

(१४.२६)

ईश्वर की अनन्य अथवा अव्यभिचारी भक्ति वह पराभक्ति है जिसमें ईश्वर के सिवा किसी दूसरे का सहारा न हो। सतोगुण सत्य की ओर ले जानेवाली सीढ़ी का उच्चतम उण्डा है, पर वह स्वयं में सत्य नहीं है (यतीश्वरानन्द). प्रकृति के तीन गुणों को क्रमशः जीता जा सकता है। सबसे पहले व्यक्ति को—कुछ यमों को विकसित कर और नियमों का पालन कर—तमोगुण और रजोगुण पर विजय प्राप्तकर अपने को सतोगुण में प्रस्थापित करना पड़ेगा। तब व्यक्ति अच्छे-बुरे, सुख-दुःख के द्वित्व पर विजय पाने को तैयार होता है तथा सतोगुण के उच्चतम सोपान से परे जाकर उच्चतर लोकातीत धरातल पर पहुंच जाता है। आध्यात्मिक साधना का अस्यास और शाकाहारी भोजन मन को तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठाकर आनन्द के अनुभवातीत धरातल पर ले जाते हैं, जहाँ विरोधी द्वित्व लुप्त हो जाते हैं। तत्त्वमीमांसा की सुदृढ़ समझ से उत्पन्न गृहङ्क विचार सतोगुण का ही परिणाम है। कोई भी व्यक्ति दृढ़ विश्वास, भक्ति और भगवान कृष्ण के प्रति अनन्यप्रेम की नौका से त्रिगुणात्मक माया के सागर को सुगमता से पार कर सकता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् , अमृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य , सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि, मैं (परब्रह्म) ही अविनाशी अक्षरब्रह्म, शाश्वत धर्म तथा परम आनन्द का स्रोत हूँ.

इस प्रकार गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमयोगः

१५. पुरुषोत्तमयोग

सृष्टि माया की शक्ति से उत्पन्न वृक्ष के समान

श्रीभगवानुवाच

उर्ध्वमूलम् अधश्शाखम् , अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस् तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान बोले— इस **सृष्टि** को एक सनातन पीपल का वृक्ष कहा गया है, जिसका स्रोत (मूल) परमात्मा है, अनन्त ब्रह्माण्ड जिसकी शाखाएं हैं तथा वेदमंत्र जिसके पत्ते हैं। इस वृक्ष को जो मनुष्य मूल सहित (तत्त्व से) जान लेता है, वही वेदों का जाननेवाला है। (गीता १०.०८ तथा कठ.उ. ६.०१, भा.पु. ११.१२.२०-२ ४ भी देखें।) (१५.०१)

अधश्चोर्ध्वं प्रस्तुतास् तस्य शाखा

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्य् अनुसंततानि

कर्मनुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

मानव शरीर-रूपी वृक्ष की शाखाएं भी सभी ओर फैली हुई हैं; प्रकृति के गुणरूपी जल से इसकी वृद्धि होती है; विषयभोग इसकी कोपले हैं; इस वृक्ष की अहंकार और इच्छारूपी जड़ें पृथ्वीलोक में कर्मबन्धन बनकर व्याप्त हैं। (१५.०२)

श्लोक 15.02-03 में मानव-शरीर की तुलना भी एक आदि और अन्त रहित वृक्ष से की गयी है। कर्म उसका बीज है और अनन्त कामनाएं उसकी जड़ें हैं। पांच मौलिक तत्त्व प्रायुष्य शाखाएं हैं तथा ज्ञान और कर्म की दस इन्द्रियां उसकी उपशाखाएं हैं। भौतिक प्रकृति के तीन गुण पोषण प्रदान करते हैं और ऐन्ड्रिक सुख उसके अंकुर हैं। यह वृक्ष सतत रूप से परिवर्तित होता रहता है, किन्तु शाश्वत अनादि और अन्तहीन है। जैसे पत्तियां वृक्ष की रक्षा करती हैं, वैसे ही वैदिक कर्मकाण्ड इसकी रक्षा करता है और इसे स्थायित्व देता है। जो भी इस अलौकिक वृक्ष को, इसके मूल को, इसकी प्रकृति और कर्म-प्रक्रिया को समझता है, वही सही अर्थ में वेदों का ज्ञाता है।

सनातन आत्मा के दो स्वरूप—दैवी नियन्ता और नियन्त्रित जीवात्मा—सृष्टि की लीला के रूप में शरीर-वृक्ष पर नीड़ बनाकर रहते हैं। गुण और अवगुण इसके गौरवमय पुष्ट हैं और आनन्द तथा पीड़ा इसके मीठे और कड़वे फल। जीवात्मा अज्ञानवश इन फलों को खाता है, जबकि नियन्ता वृक्ष पर बैठा हुआ सब देखता है और जीवात्मा का पथ-प्रदर्शन करता है।

जीवात्माएं विश्व कोटि के सुन्दर पक्षियों की भाति हैं। कोई भी दो पक्षी समान नहीं हैं। इसी से सृष्टि सुन्दर है।

मोह-वृक्ष को काटने और प्रभु-शरण से मोक्ष-प्राप्ति कैसे?

न रूपम् अस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर् न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थम् एनं सुविरुद्धमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छिन्वा ॥३॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तम् एव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

मानव शरीर-रूपी वृक्ष के स्वरूप, आदि तथा अन्त का पता नहीं है। (इसलिए) मनुष्य इसकी (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ों को ज्ञान और वैराग्यरूपी शख्ब द्वारा काटकर ऐसा सोचते हुए—कि मैं उस परम पुरुष की शरण में हूं, जिससे ये सारी सनातन विभूतियां व्याप्त हैं—उस परमतत्त्व की खोज करे, जिसे प्राप्तकर मनुष्य पुनः इस संसार में वापस नहीं आता। (१५.०३-०४)

सृष्टि आवर्ती है—आदि-अन्त-हीन। सतत रूप से यह परिवर्तित होती रहती है और इसका कोई स्थायी अस्तित्व या वास्तविक आकार नहीं है। अध्यात्मिक साधना की शिला पर व्यक्ति को अपने तत्त्वज्ञान और अनासक्ति के कुल्हाड़े को पैना कर जीवात्मा और परमात्मा के बीच की शिन्त्रा की अनुभूति को काट डालना चाहिए तथा हर्ष और शोक की विचरती छायाओं से बने जीवन-नाटक में प्रसन्नतापूर्वक भाग लेते हुए इस संसार में अहम् और वासना से पूर्णतः मुक्त होकर रहना चाहिए।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर् विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्य् अमृदाः पदम् अव्ययं तत् ॥५॥

जो मान और मोह आदि से निवृत हो चुके हैं, जिन्होंने आस्कितरूपी दोष को जीत लिया है, जो परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थित हैं और जिनकी कामनाएं पूर्णरूप से समाप्त हो चुकी हैं तथा जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गए हैं—ऐसे ज्ञानी जन उस अविनाशी परमधार्म को प्राप्त करते हैं। (१५.०५)

न तद् भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम ॥६॥

उस स्वयंप्रकाशित परमधार्म को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही। वही मेरा परमधार्म है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य इस संसार में पुनर्जन्म नहीं लेते। (गीता १३.१७, १५.१२ तथा कठ.उ. ५.१५, श्व.उ. ६.१४, मु.उ. २.०२.१० भी देखें।) (१५.०६)

परमात्मा स्वयं-प्रभासित है, किसी अन्य शक्ति से प्रकाशित नहीं। वह सूर्य-चन्द्रमा को प्रकाशित करता है, वैसे ही जैसे प्रभासित दीपक अन्य पदार्थों को (देवी. भा. ७.३२.१४). परमात्मा सृष्टि के समय अस्तित्व में आए सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि से पहले विद्यमान था तथा महाप्रलय काल में सब वस्तुओं के विलुप्त प्रकृति में विलय होने के बाद भी विद्यमान रहेगा।

जीवात्मा भोक्ता है

ममैवांशो जीवलोके, जीवभूतः सनातनः ।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

जीवलोक में सनातन जीवभूत, अर्थात् जीवात्मा, मेरी ही शक्ति का एक अंश है, जो प्रकृति में स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को चेतना प्रदान करता है। (१५.०७)

मूलतः आत्मा ही ब्रह्म कही जाती है। आत्मा ही परब्रह्म की सच्ची प्रकृति है। अतः आत्मा (ब्रह्म) को परब्रह्म का अभिन्न अंग भी कहा जाता है। इसी को व्यक्तिगत आत्मा, जीव या प्राणियों के शरीर में (विद्यमान) जीवात्मा भी कहा जाता है। आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा के बीच का अन्तर सीमित करती अनुबंधताओं—शरीर और मन—के कारण (दीखता) है, वैसे ही जैसे यह श्रम (होता है) कि बन्द पात्र का आकाश असीमित आकाश से अलग है।

शरीरं यद् अवाप्नोति, यच् चाप्य् उत्कामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति, वायुर् गन्धान् इवाशयात् ॥८॥

जैसे हवा फूल से गन्ध को निकालकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद छः इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है। (२.१३ भी देखें.) (१५.०८)

यह जीवात्मा सूक्ष्म शरीर—अर्थात् अनुभूति की छः ऐन्द्रिय शक्तियों—को एक स्थूल भौतिक शरीर से दूसरे तक मृत्यु के बाद वैसे ही ले जाती है, जैसे वायु धूल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक। वायु धूल के संसर्ग से न प्रभावित होती है, न अप्रभावित। इसी प्रकार जीवात्मा भी शरीर के भावों से न प्रभावित होती है, न अप्रभावित (भ. भा. ७२.२७७.९३-१४). भौतिक शरीर देश-काल की सीमाओं में सीमित हैं, किन्तु अद्वश्य सूक्ष्म शरीर असीमित हैं, सर्वव्यापी हैं। सूक्ष्म शरीर व्यक्ति के अच्छे-बुरे कर्म को अगले जन्म तक ले जाते हैं, जब तक कि समस्त कर्म समाप्त नहीं हो जाता। जब वासनाओं एवं कामनाओं का सारा चिह्न आत्म-बोध की उषा के उपरान्त मिट जाता है, तब भौतिक शरीर का अस्तित्व मानो और नहीं रहता है और मरित्यज में सूक्ष्म शरीर का भाव दृढ़ हो जाता है। सूक्ष्म शरीर भौतिक शरीर की ही हूबहू प्रतिलिपि है। सूक्ष्म संसार के जीव कला, तकनीक और संस्कृति में अधिक विकसित हैं। वे भौतिक संसार को विकसित और अभिवृद्ध करने के लिए भौतिक शरीरों को धारण करते हैं। स्वामी हरिहरानन्द गिरि कहते हैं: व्यक्ति प्रभु के दर्शन या उसकी अनुभूति और प्राप्ति नहीं कर सकता, यदि वह अद्वश्य सूक्ष्म शरीर की खोज नहीं करता।

जाग्रत् अवस्था में भौतिक शरीर, मरित्यज, बुद्धि और अहम् सक्रिय रहते हैं। स्वप्नावस्था में जीवात्मा अस्थायी तौर पर स्वप्न-संसार की सृष्टि करता है और भौतिक शरीर का त्याग किए बिना स्वप्न-शरीर के साथ स्वप्न-संसार में विचरण करता है। गहन निद्रावस्था में जीवात्मा ब्रह्म में—मन और बुद्धि से अप्रभावित—पूर्णतः लीन रहता है। परब्रह्म, अर्थात् वैश्विक चेतना, तीनों अवस्थाओं में प्रत्यक्षदर्शी के रूप में हमें देखता है। मृत्यु के बाद जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा ग्रहण कर लेता है। जीव बन्धनमय हो जाता है, खो जाता है और फिर अपनी वास्तविक प्रकृति की खोज के द्वारा मुक्त होने का प्रयत्न करता है। ब्रह्म की

दिशा में की गई लम्बी और दुर्लभ आध्यात्मिक यात्रा में पुनर्जन्म जीव को भौतिक शरीर रूपी यान बदलने की सुविधा प्रदान करता है। समस्त कर्म की समाप्ति होने तक जीवात्मा विभिन्न भौतिक शरीरों को ग्रहण करता रहता है और कर्म-निग्रह के बाद ब्रह्म प्राप्ति का ध्येय पूर्ण कर लेता है।

कहा जाता है कि ब्रह्म माया का आवरण ओढ़ लेता है, जीवात्मा बन जाता है, मानवीय और अन्य रूप धारण करता है, मात्र भवलीला-नाटक खेलने के लिए; जिसमें नाटक के लेखक, निर्माता, निर्देशक, समस्त अभिनेता तथा साथ ही साथ दर्शक, सब एक वही है। प्रशु लीला करता है, अभिनय करता है और अपनी ही सृष्टि का आनन्द भोगता है। हमारी सभी समस्याएँ तिरोहित हो जाएंगी, यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि हम केवल एक भूमिका का अभिनय कर रहे हैं और कभी भी घटनाओं को नितान्त व्यक्तिगत रूप में न लें। ब्रह्मलीला के अभिनेता, प्रशु, को देखने के लिए हमें लीला से अपने मन को तटस्थ एवं अनासक्त रखना होगा। विज्ञान केवल ब्रह्मलीला-ज्ञान से सम्बन्ध रखता है, जबकि अध्यात्म ब्रह्मलीला के परम अभिनेता के ज्ञान का विश्लेषण—जैसा कि आंशिक रूप से जीवात्मा-अभिनेता उसे समझता है—करता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणम् एव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायां, विषयान् उपसेवते ॥१॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि, भुज्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यह जीव कर्ण, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के द्वारा विषयों का सेवन करता है। अज्ञानी जन जीव को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हुए अथवा शरीर में स्थित गुणों से समन्वित होकर विषयों को भोगते हुए नहीं देख सकते; उसे केवल ज्ञानचक्षु-वाले ही देख सकते हैं। (१५.०९-१०)

आध्यात्मिक आनन्द की सुधा के उच्चतर स्वाद को विकसित करने पर इन्द्रियां भौतिक सुखों का स्वाद खो देती हैं। आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति व्यक्ति की ऐन्द्रिय तुष्टीकरण की कामना की सच्ची पूर्ति है। शुद्धात्मा गलत काम, जो ऐन्द्रिय सुखों की अवशिष्ट सूक्ष्म कामनाओं के कारण आगे आते हैं, करने से परहेज करेगी।

यतन्तो योगिनश्वैनं, पश्यन्त्य आत्मन्य अवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्य अकृतात्मानो, नैनं पश्यन्त्य अचेतसः ॥११॥

प्रयत्न करनेवाले योगी जन अपने अन्तःकरण में स्थित जीवात्मा को देखते हैं; अशुद्ध अन्तःकरण-वाले अविवेकी मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्मा को नहीं देख (या जान) सकते हैं। (१५.११)

ब्रह्म सब वस्तुओं का सार है

यद् आदित्यगतं तेजो, जगद् भास्यतेऽखिलम् ।

यच् चन्द्रमसि यच् चाग्नौ, तत् तेजो विद्यं मामकम् ॥१२॥

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सारे संसार को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में और अग्नि में है, उसे तुम मेरा ही तेज जानो। (१३.१७, १५.०६ भी देखें।) (१५.१२)

सूर्य का प्रकाश उस (प्रशु) की दीपि का प्रतिबिम्ब है (ऋ.वे. १०.०७.०३). ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र—अपने में, सबमें और समस्त लोक में—उस परम ज्योतिपुंज को देखते हैं जो दृश्य

विश्व का स्रोत है तथा सर्वव्यापी दिन के प्रकाश की तरह ध्युतिमान है (छ.ज. ३.७०.०७). संसार और उसके सब पदार्थ ब्रह्माण्ड के चित्रपट पर छोड़ी हुई छाया और प्रकाश से बने चित्र मात्र हैं (योगानन्द).

पावन अमरज्योति का आकार एक दिव्य ज्योति-ऊर्जा के बृहद ध्युतिमान पुंज-सा है। वह परब्रह्म की ज्योति ही है, जो अमरज्योति में है और जो सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदि आकाशगंगा के सब प्रकाशपुंज नक्षत्रों में है। यह उसी (परब्रह्म) की ज्योति है, जो काष्ठों में है, दीपकों और शमाओं में है और ऊर्जा के रूप में सब प्राणियों में है। उसी का प्रकाश सब प्रकाशों में निहित है और लोक की समस्त ऊर्जा का स्रोत है। परब्रह्म की सत्ता के बिना अग्नि घास के एक तिनके को भी जलाने में असमर्थ है। परब्रह्म की इस ज्योति की अनुभूति या प्रतीति तब तक नहीं हो सकती, जब तक व्यक्ति ने अपने मन को पूर्णतः सशक्त और शान्त, बुद्धि को शुद्ध तथा इच्छा-अनुभूति-शक्ति को विकसित न कर लिया हो। साथ ही व्यक्ति को इतना सशक्त भी होना पड़ेगा कि वह परम समाधिस्थ होकर सब ज्योतियों की इस ज्योति की अनुभूति के समय उत्पन्न होनेवाले मानसिक आघात को सहन कर सके।

जैसा कि प्रिज्म के अभाव में मानव-चक्षुओं को सूर्यप्रकाश का सात रंग परिदर्शित नहीं हो सकता, वैसे ही हम प्रभु-कृपा और शास्त्रों के पढ़े बिना परब्रह्म की ज्योति को नहीं देख सकते। जिन योगियों ने अपनी चेतना को परम चेतना में पूर्णतः आत्मसात कर लिया है, वे ही समाधि में अमरज्योति के दर्शन कर सकते हैं। यह समस्त लोक परब्रह्म की ऊर्जा से ही टिका है और उसी की महिमा को प्रतिबिम्बित करता है।

गाम् आविश्य च भूतानि, धारयाम्य अहम् ओजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः, सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से सभी भूतों को धारण करता हूँ और रस देनेवाला चन्द्रमा बनकर सभी वनस्पतियों को रस प्रदान करता हूँ। (१५.१३)

अहं वैश्वानरो भूत्वा, प्राणिनां देहम् आश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः, पचाम्य अन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि हूँ, जो प्राण और अपान वायु से मिलकर चारों प्रकार के अन्न को पचाता है। (१५.१४)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो

मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो

वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥१५॥

तथा मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूँ: स्मृति, ज्ञान तथा शंका समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझसे ही होता है। समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता तथा वेदों का जानेवाला भी मैं ही हूँ: (६.३९ भी देखें।) (१५.१५)

परब्रह्म सब शास्त्रों का स्रोत है (ब्र.सू. १.०९.०३). प्रभु समस्त प्राणियों की चेतना के रूप में अन्तःकरण में निवास करते हैं, न कि शरीर के भौतिक हृदय में, जैसा कि साधारणतः गलती से समझा जाता है।

क्षर, अक्षर और अक्षरातीत क्या हैं?

द्वाव् इमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरं सर्वाणि भूतानि, कृदस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

लोक में परब्रह्म के क्षर (परिवर्तनीय) पुरुष और अक्षर (अपरिवर्तनीय) पुरुष नामक दो दिव्य स्वरूप हैं। समस्त सृष्टि क्षर पुरुष का विस्तार है और अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) अपरिवर्तनीय कहलाता है। (१५.१६)

यहां दिव्य पुरुष, परमपिता परमात्मा, के दो स्वरूपों—क्षर और अक्षर—का वर्णन किया गया है। समस्त सृष्टि—सब देवों, चौदह लोकों से लेकर घास के तिनके तक—दिव्य पुरुष के क्षर स्वरूप का विस्तार है। अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) वैतन्य शक्ति है, जो समस्त कारणों का मूल कारण है, स्रोत है; जिससे क्षर पुरुष, प्रकृति और असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं; जिससे उनका पोषण होता है और जिसमें उनका पुनः पुनः विलय होता है। क्षर और अक्षर पुरुष (आत्मा) को श्लोक १३.०७-०२ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा श्लोक १४.०३-०४ में योनि (अर्थात् माता) और बीजप्रद पिता भी कहा गया है।

उत्तमः पुरुषस्य त्वं अन्यः, परमात्मेत्य उदाहृतः ।

यो लोकत्रयम् आविश्य, बिभरत्य अव्यय ईश्वरः ॥१७॥

परन्तु इन दोनों से परे एक सर्वोत्तम दिव्य पुरुष है, जो परब्रह्म अर्थात् परमात्मा कहलाता है। वह तीनों लोकों में प्रवेश करके ईश्वररूप से सब का पालन-पोषण करता है। (१५.१७)

यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम्, अक्षराद् अपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च, प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं, परब्रह्म परमात्मा, क्षर पुरुष (अर्थात् नारायण) और अक्षर पुरुष (अर्थात् ब्रह्म) दोनों का स्रोत हूं; इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम कहलाता हूं। (मु.उ. २.०१.०२ भी देखें।) (१५.१८)

मूलतः क्षर और अक्षर (ब्रह्म) एक ही सत्ता के दो विभिन्न स्वरूप हैं। अदृश्य, अपरिवर्तनीय और अविकारी स्वरूप को अक्षर कहा गया है। क्षर स्वरूप उसी अक्षर स्वरूप का भौतिक लोक में विस्तार है। समस्त सृष्टि सतत रूप से परिवर्तनीय और विकारी है तथा क्षर कहलाती है। क्षर और अक्षर दोनों ही परब्रह्म का विस्तार और परब्रह्म का कार्यक्षेत्र (Domain) है। अक्षरातीत परब्रह्म ही—जो क्षर और अक्षर दोनों का मूलधार है—परम सत्य है, परमात्मा है जो अनेक नामों से जाना जाता है। उसी परब्रह्म का सुगुण स्वरूप ही कृष्ण, पिता, माता, ईश्वर, शिव, अल्लाह आदि नामों से जाना और पुजा जाता है।

परमपिता परमात्मा का अवरोहण

नोट— निम्न व्याख्या केवल उन प्रबुद्ध पाठकों के लिए है जिन्होंने गीता के अध्ययन में कुछ वर्ष लगाए हैं। पाठक-गण निम्न लिखित वैशिवक व्यवस्था को श्रेणी-क्रम (Hierarchy of Cosmic Control) से अंकित करते हुए रेखाचित्र को देखने के लिए

<https://www.gita-society.com/genesis.pdf> पर जाएं।

यो माम् एवम् असंमृढो, जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद् भजति मां, सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे अर्जुन, मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार तत्त्वतः जाननेवाला ज्ञानी (परा भाव से) निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता (अर्थात् भक्ति और प्रेम करता) है। (७.१४, १४.२६, १८.६६ भी देखें.) (१५.१९)

इति गुह्यतमं शास्त्रम्, इदम् उक्तं मयाऽनध ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्ठाप अर्जुन, इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गए इस गुह्यतम शास्त्र को तत्त्वतः जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है। (१५.२०)

इस प्रकार पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ षोडशोऽध्यायः

दैवासुरसंपदविभागयोगः

१६. दैवासुरसंपदविभागयोग

मोक्ष के लिए अर्जित प्रमुख दैवी गुणों की सूची

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस् तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यम् अक्रोधस्, त्यागः शान्तिर् अपैशुनम् ।

दया भूतेष्व अलोलुप्त्वं, मार्दवं हीर् अचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचम्, अद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति संपदं दैवीम्, अभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, दया, विषयों से न ललचाना, कोमलता, अकर्तव्य में लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, किसी से वैर न करना, गर्व का अभाव आदि दैवी संपदों को प्राप्त हुए मनुष्य के (छब्बीस) लक्षण हैं। (१६.०१-०३)

मानव जीवन में पांच प्रकार के क्लेश होते हैं, ऐसा योगिक ग्रन्थ का मानना है। (प.यो.सू. २.०३) पंच-क्लेश ये हैं – (१) अज्ञान (आत्मज्ञान का अभाव) (२) अस्मिता (अथवा अहंकार जिस के कारण स्वयं को ब्रह्म से भिन्न समझा जाता है) (३) अभिनिवेश (मृत्यु और पुनर्जन्म का भय) (४) और (५) राग और द्वेष (द्वन्द्व से प्रेम या धृणा करना)

मनुष्य जीवन में मृत्यु का शय सब से बड़ा भय है। अज्ञान से अहंकार की उत्पत्ति होती है और अहंकार से मृत्यु का भय, लचि-अलचि, स्वार्थपूर्ण इच्छाएं और राक्षसी प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। ज्ञान से दैवीगुण उत्पन्न होते हैं, जिनका वर्णन गीता के श्लोक १६.०१-०३ में किया गया है। जिस तरह लालची व्यक्ति के मन में सदैव धन प्राप्ति की इच्छा रहती है, उसी प्रकार दैवीगुणों से सम्पन्न व्यक्ति के हृदय में सदा प्रभु का वास होता है। सदगुणों के अभ्यास से

कैराग्य और तप (austerity) से आध्यात्मिक बुद्धि आती है और तदन्तर मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा वेद कहते हैं।

किसी व्यक्ति को भी किसी और की निन्दा और अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए (म.भा. ३.२०७.५०). सम्पूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही वर्तव करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए चाहते हैं (म.भा. १२.१६७.०६). जो व्यक्ति जिसके साथ जैसा वर्तव करे, उसके साथ भी उसे वैसा ही वर्तव करना चाहिए; यह उचित है। कपटपूर्ण आचरण करनेवाले को वैसे ही आचरण द्वारा दबाना उचित है और सदाचारी को सदव्यवहार द्वारा ही अपनाना चाहिए (म.भा. १२.१०६.३०). हम सभी को दूसरों के विकास के लिए मूल्य चुकाना पड़ता है, क्योंकि हम में से कोई भी सम्पूर्ण नहीं है। परनिन्दा जघन्यतम पाप है। व्यक्ति को दूसरों के दोषों और कमियों के बारे में कहना, सुनना, यहां तक कि सोचना भी नहीं चाहिए। जब हम दूसरों की कमियों के बारे में सोचते हैं तब हमारा ही मन दूषित होता है। दूसरों में दोष ढूँढ़ने से किसी को कोई लाभ नहीं होता, अतः व्यक्ति अपने में दोष ढूँढ़े और उनको ही सुधारे। अप्रिय को प्यार करना, निर्दीयी के प्रति दया करना और अभद्र के प्रति शालीन होना दैवी गुण हैं।

हमारी अपनी मान्यताएँ भी समस्याएँ पैदा कर सकती हैं, यदि हम भूल जाते हैं कि व्यक्तियों की अपनी अलग-अलग मान्यताएँ होती हैं। मेरे आदर्श आपके आदर्श से अलग हो सकते हैं। व्यक्तियों के बीच उनके मूल्यों का संघर्ष सम्बन्धों को हानि पहुंचा सकता है। व्यवहार में कभी-कभी एक ही व्यक्ति के दो मूल्यों में भी संघर्ष हो सकता है। उदाहरणः यदि एक झूठ बोलने से किसी के मूल्यवान् जीवन की रक्षा होती है, तो ऐसी अवस्था में व्यक्ति को सब नहीं बोलना चाहिए। आदर्शों के प्रति व्यक्ति की अन्धी आसक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कोई भी मान्यता अपने में पूर्ण नहीं है। हमें किसी आदर्श के प्रति उपहास का भाव नहीं रखना चाहिए, न ही एक मापदण्ड से सब को आंकना चाहिए, क्योंकि विभिन्नता में मूल एकता सृष्टि की योजना का अंग है।

यह दुनिया हर तरह के लोगों से बनी है। आप दूसरों को बदलना चाहते हैं, ताकि आप स्वयं मुक्त हो सकें, पर ऐसा कभी होता नहीं है। जब आप दूसरों को सम्पूर्णतः बिना शर्त के स्वीकार करेंगे, तभी मुक्त हो पाएंगे। लोग जो हैं, सो हैं, क्योंकि उनकी अपनी पृष्ठभूमि है और वे दूसरी प्रकार के नहीं हो सकते (स्वामी दयानन्द). आपको अपने जीवन-साथी से प्रेम हो सकता है और साथ ही उनके काम से नापसंदगी भी। यदि आप उसे जैसा वह है, वैसा हन्ते दें, तो आपका शत्रु भी आपका मित्र हो सकता है। और यदि आप किसी को शत्रु बनाना चाहते हैं, तो उसे बदलने की कोशिश करें। लोग तभी बदलेंगे, जब बदलने की अपेक्षा दुःख भोगना अधिक दुश्कर होगा। कोई भी किसी दूसरे की जीवन-पद्धति, विन्तन-धारा और विचारों को अयोग्य घोषित करने की स्थिति में नहीं है। सम्पूर्णता के सोपान की दिशा में विकास एक बहुत धीमी और कठिन प्रक्रिया है। अतीत के संस्कारों से मुक्ति पाना साधारण काम नहीं, परन्तु व्यक्ति को उसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। परिवर्तन व्यक्ति के अपने प्रयासों से आता है और वह भी उसी समय जब प्रशु की कृपा होती है, उससे एक भी दिन पहले नहीं। अलग-अलग प्राणियों में आदिशक्ति और चेतना की अभिव्यक्ति भी अलग-अलग होती है। अतः संसार में हर वस्तु से समन्वय की खोज करें और हर वस्तु आपकी मित्र होगी। श्री रामकृष्ण कहते हैं— जब दिव्यता का अवतरण होता है, तब मानवीय त्रुटियां स्वतः ही विलुप्त हो जाती हैं, जैसा कि फूल के फल में विकसित होने पर पंखुड़ियां स्वयं ही झड़ जाती हैं।

मरणशील (मानव) पशुओं की भाँति अपने संस्कारों से जन्मी अव्यक्त कामनाओं की रस्सी से बुरी तरह बंधे हैं। यह रस्सी तभी काटी जा सकती है, जब हम प्रश्न के द्वारा दिए हुए बुद्धिके चाकू का उपयोग करें, जो पशुओं के पास नहीं है। बाघ अपनी हत्या की प्रवृत्ति से नियंत्रित है और इस अवस्था में वह बेबस है। मानवों को बुद्धि और तर्कशक्ति का वरदान मिला है, जिसके द्वारा वे धीरे-धीरे और सतत इस रस्सी को काट सकते हैं। हम अज्ञानवश अपनी बुद्धि और तर्कशक्ति का प्रयोग करने में असफल होते हैं। व्यक्ति का शत्रु उसी के दूसरे पक्ष को छोड़कर और कोई नहीं। कभी-कभी प्रारब्ध-जनित विपत्ति के उषाकाल से पूर्व माया-जाल द्वारा बुद्धि हर ली जाती है। व्यक्ति को स्थिति का विश्लेषण करने के लिए मानव को मिली अमूल्य दिव्य निष्ठि बुद्धि का उपयोग करना चाहिए। इसके सिवा माया के भयावह चक्र से निकलने का और कोई मार्ग नहीं है।

जो दूसरों के प्रति मन-वचन-कर्म से हिंसा का व्यवहार नहीं करता, उसे कोई हानि नहीं पहुंचा सकता (वि.पु. १.१६.०५)। जो मनुष्य मन, वाणी और शरीर रूपी साधनों द्वारा प्राणियों की हिंसा नहीं करता, हिंसक प्राणी भी उसकी हिंसा नहीं करते (म.भा. १२.१७५.२७)। जो किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा नहीं करता, वह जो चाहता है, पाता है और सब आध्यात्मिक विषयों में बिना अत्यधिक प्रयास के सफलता पाता है (म.सृ. ५.४७)।

मनुष्य को परानिन्दा और आत्मप्रशंसा का परित्याग करना चाहिए (म.भा. ३.२०७.५०)। संसार में अहिंसा से जीविका नहीं चल सकती, क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवों द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं (म.भा. १२.१५.२०)। अहिंसा या किसी भी नैतिक मूल्य का पालन सम्पूर्ण अर्थ में करना असम्भव है। कृषि-कर्म में भी कीड़ों-मकोड़ों के प्रति हिंसा होती है। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन परिपूर्णता की दिशा में व्यक्ति के स्वयं के विकास के लिए है। दैनिक व्यावहारिक जीवन में न्यूनतम अनिवार्य हिंसा अपेक्षित है। न्यूनतम हिंसा का निर्धारण करना भी अवश्य ही अत्यन्त व्यक्ति-सापेक्ष है। व्यक्तिगत वैमनस्य की तुष्टि के लिए हिंसा का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए। अशक्त की रक्षा या धर्म की मर्यादा को बनाये रखने के लिए हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है।

आध्यात्मिक यात्रा से पहले त्याज्य आसुरी गुणों की सूची

दधो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यम् एव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ संपदम् आसुरीम् ॥४॥

हे पार्थ, दध्म, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पदा प्राप्त मनुष्यों के लक्षण हैं। (१६.०४)

जिन लोगों ने किसी व्यक्ति की सहायता की है, उनका किसी न किसी रूप में प्रतिकार में भला करना सार्वभौमिक व्यवहार है (वा.रा. ५.०९.११३). दोषयुक्त मनुष्यों में कृतघ्न सबसे अधम होते हैं। ऐसे नराधमों को दूर से ही त्याग देना चाहिए (म.भा. १२.१६८.२६)। शास्त्र में कृतघ्न के प्रायश्चित्त अथवा उद्धार का कोई विधान नहीं दिया गया है। मित्रब्रोही, नृशंस, नराधम तथा कृतघ्न—ऐसे मनुष्यों का मांस मासमधी जीव-जन्तु तथा कीड़े भी नहीं खाते (म.भा. १२.१७२.२५-२६)। यदि कोई व्यक्ति दूसरे से कुछ ग्रहण करता है, तो उसे सच्चे रूप में कृतज्ञता की अनुभूति होनी चाहिए और कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहिए।

दैवी संपद् विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः संपदं दैवीम्, अभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सप्दा मोक्ष के लिए और आसुरी सप्दा बन्धन के लिए है. हे पाण्डव, तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम्हें दैवी सप्दा प्राप्त है. (१६.०५)

पापात्मक क्रियाओं के स्वभाव से मुक्त होना बहुत कठिन है। अतः व्यक्ति को पापाचरण से सदा बचना और अच्छे काम करने का अभ्यास करना चाहिए (म.भा. ३.२०६.४७)। मूलभूत नैतिकता आध्यात्मिक जीवन की रीढ़ है। नैतिक गुणों के बिना आत्मज्ञान उतना ही अधूरा है, जितना नमक के बिना भोजन.

केवल दो प्रकार के मानव, ज्ञानी और अज्ञानी

द्वौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन्, दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त, आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

हे पार्थ, इस लोक में दो ही जाति के मनुष्य हैं दैवी और आसुरी। दैवी प्रकृतिवालों का वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक किया है, अब तुम आसुरी प्रकृतिवालों के बारे में सुनो। (१६.०६)

आत्मज्ञान दैवी गुणों के रूप में प्रकट होता है और अज्ञान आसुरी गुणों के रूप में जिन्होंने पूर्व जन्मों में पुण्य कर्म किए हैं, वे दैवी गुणों के साथ पैदा होते हैं और जो पूर्व जन्म में पापाचारी रहे हैं, उनका जन्म आसुरी वृत्तियों के साथ होता है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, जना न विदुर आसुरः ।

न शौचं नापि चाचारो, न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य "क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए" इन दोनों को नहीं जानते हैं। उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि होता है, न सदाचार और न सत्यभाषण ही। (१६.०७)

असत्यम् अप्रतिष्ठं ते, जगद् आहुर् अनीश्वरम् ।

अपरस्परसंभूतं, किम् अन्यत् कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं कि संसार असत्य, आश्रयरहित, बिना ईश्वर के और बिना किसी क्रम से अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के कामुक संयोग से ही उत्पन्न है। इसके सिवा और कोई भी दूसरा कारण नहीं है। (१६.०८)

एतां दृष्टिम् अवष्टम्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।

प्रभवन्त्यु उग्रकर्मणः, क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

ऐसे (मिथ्या, नास्तिक) दृष्टिकोण से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, ऐसे मन्द बुद्धियुक्त, घोर कर्म करनेवाले, अपकारी मनुष्यों का जन्म जगत् का नाश करने के लिए ही होता है। (१६.०९)

कामम् आश्रित्य दुष्पूरं, दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वाऽसद्याहान्, प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

वे दम्भ, मान और मद में चूर होकर; कभी पूरी न होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके तथा अपवित्र आचरण धारणकर संसार में रहते हैं। (१६.१०)

चिन्ताम् अपरिमेयां च, प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा, एतावद् इति निश्चिताः ॥११॥

जीवनभर अपार चिन्ताओं से ग्रस्त और विषयभोग को ही परम लक्ष्य माननेवाले ये लोग ऐसा समझते हैं कि यह विषयभोग ही सब कुछ है। (१६.११)

आशापाशशतैर् बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थम्, अन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

आशा की सैकड़ों बेड़ियों से बंधे हुए, काम और क्रोध के वशीभूत होकर, विषयों के भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं। (१६.१२)

इदम् अद्य मया लब्धम्, इमं प्राप्ये मनोरथम् ।

इदम् अस्तीदम् अपि मे, भविष्यति पुनर् धनम् ॥१३॥

(वे ऐसा सोचते हैं कि) मैंने आज यह प्राप्त किया है और अब इस मनोरथ को पूरा करूँगा; मेरे पास इनना धन है तथा इससे भी अधिक धन भविष्य में होगा। (१६.१३)

असौ मया हतः शत्रुर्, हनिष्ये चापरान् अपि ।

ईश्वरोऽहम् अहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। मैं सर्वसमर्थ (ईश्वर) और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ। मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ। (१६.१४)

आङ्गोऽभिजनवान् अस्मि, कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य, इत्यु अज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं बड़ा धनी और अच्छे परिवारवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और मौज करूँगा। इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित रहते हैं। (१६.१५)

अनेकचित्तविभ्रान्ता, मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले, मोहजाल में फसे, विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त, ये लोग घोर अपवित्र नरक में गिरते हैं। (१६.१६)

आत्मसंभाविताः स्तब्धा, धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैसूते, दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपनेआप को श्रेष्ठ माननेवाले, घमंडी, धन और मान के मद में चूर रहनेवाले मनुष्य अविधिपूर्वक नाममात्र के दिखावटी यज्ञ करते हैं। (१६.१७)

अहंकारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं च संश्रिताः ।

माम् आत्मपरदेहेषु, प्रद्विष्णन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध के वशीभूत, दूसरों की निन्दा करनेवाले ये लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं। (१६.१८)

अज्ञान का फल है दुःख

तान् अहं द्विषतः कूरान्, संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्य अज्ञानम् अशुभान्, आसुरीष्व एव योनिषु ॥१९॥

ऐसे द्वेष करनेवाले, कूर और अपवित्र नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ। (१६.१९)

आसुरीं योनिम् आपना, मृदा जन्मनि जन्मनि ।

माम् अप्राप्यैव कौन्तेय, ततो यान्त्य् अधमां गतिम् ॥२०॥

हे अर्जुन, वे मृद मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं, फिर घोर नरक में जाते हैं. (१६.२०)

अच्छी और बुरी शक्तियों के बीच अन्तहीन संग्राम प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जारी है. आदमी का जन्म आसुरी वृत्तियों का, जो ब्रह्मज्ञान अर्थात् ईश्वरप्राप्ति के द्वारा में बाधक हैं, दमन करने के लिए होता है. प्रशु तभी प्रकट होते हैं, जब हमारे भीतर का दानव पूर्णतः नियंत्रित कर लिया जाता है. आत्मा में भौतिक प्रकृति के तीनों गुण नहीं होते. ये गुण मूलतः तन-मन के हैं. शास्त्रों का कहना है—माया अनेक विपरीत द्वित्वों को जन्म देती है, जैसे अच्छाई-बुराई, हानि-लाभ, सुख-दुख, आशा-निराशा, करुणा और उदासीनता, उदारता और लोभ, श्रम और आलस्य, साहस और कायरता, प्रेम और धृणा, सद्गुण और अवगुण, दैवी और आसुरी वृत्तियां. वस्तुतः उनकी कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं है. अतः दूसरों के गुणों और दोषों पर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है (भा.पु. ७७.९६.४५, त्र.रा. ७.८९.००)

काम-क्रोधलोभ नरक के तीन द्वार

त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनम् आत्मनः ।

कामः क्रोधस् तथा लोभस्, तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ, ये जीव को नरक की ओर ले जानेवाले तीन द्वार हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना (सीखना) चाहिए. (म.भा. ५.३३.६६ भी देखें.) (१६.२१)

उपनिषद् का कहना है: काम, क्रोध, लोभ, माया और मोह का स्वर्ण-दीवार प्रशु के मार्ग में बाधक है. यह दीवार व्यक्ति के सतत प्रयास से ही तोड़ा जा सकता है. काम, क्रोध, लोभ आदि मानवों को स्वर्ग में प्रवेश करने पर नियंत्रित करने के लिए और उन्हें नरक की ओर ले जाने के लिए बने हैं. मन से काम, क्रोध और लोभ तभी तिरोहित हो सकते हैं, जब यह समझ लिया जाता है कि 'मैं' और 'मेरा' जैसा कुछ नहीं है. आधुनिक सम्भता का भौतिक वस्तुओं के अधिग्रहण का अनियंत्रित लोभ प्रकृतिक पर्यायवरण को ही नष्ट करके—जो जीवन और सम्भता का मूल आधार है—अधिग्रहणकर्ता का ही विनाश कर सकता है.

स्वार्थ-भावना और काम ही सब बुराइयों की जड़ है. सांसारिक इच्छाएं सब आसुरी वृत्तियों का भी मूल है. आसुरी या नकारात्मक वृत्तियां जैसे क्रोध, लोभ, मोह, मद, इर्ष्या, धृणा और छल इच्छाओं से ही पैदा होते हैं. उनको पाप भी कहा जाता है. पूर्ति होने पर इच्छा और इच्छाओं को जन्म देती है और उससे लोभ पैदा करती है. क्रोध अस्थायी पागलपन है. लोग जब क्रुद्ध होते हैं, तब पापा-चरण करते हैं. उन्माद के दश में जो लोग जल्दबाजी में कुछ करते हैं, वे बाद में पछताते हैं. अज्ञान काम के लिए उत्तरदायी है, अतः काम आत्मज्ञान पाकर ही समाप्त किया जा सकता है. काम आत्मज्ञान को भी ढक लेता है, जैसे बादल सूरज को ढक लेता है. व्यक्ति को इच्छाओं को संतोष से और क्रोध को क्षमा से नियंत्रित करना सीखना चाहिए. जिन्होंने इच्छाओं को जीत लिया है, उन्होंने वास्तव में विश्व को जीत लिया है और वे शान्त, स्वस्थ और सुखी जीवन बिताते हैं.

एतैर् विमुक्तः कौन्तेय, तमोद्वारैस् त्रिभिर् नरः ।

आचरत्य् आत्मनः श्रेयस्, ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे अर्जुन, नरक के इन तीनों द्वारों से मुक्त व्यक्ति अपने कल्प्याण के लिए आचरण करता है, इससे वह परमगति अर्थात् मुझे प्राप्त करता है। (१६.२२)

काम, क्रोध और लोभ माया की सेना के सेनापति हैं। उन पर विजय पाकर ही मोक्ष सम्भव है। आसुरी वृत्तियों से मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग गीता द्वारा विवेचित रास्तों में से किसी एक का अनुसरण करना तथा शास्त्रीय आदेशों का पालन करना है।

शास्त्रीय विधान का पालन अनिवार्य

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य, वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिम् अवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, उसे न पूर्णत्व की सिद्धि मिलती है, न परमधाम और न सुख ही। (१६.२३)

उनके लिए संसार मधुरता और सुन्दरता से परिपूर्ण हो जाता है, जो अपना जीवन शास्त्रों के विधान के अनुसार जीते हैं (ऋ.वे. १.६०.०६)। शास्त्र समाज के लिए एक रूपरेखा है। उसमें जीवन के हर पहलू पर विचार होता है और वह समाज में सब पुरुष, स्त्री और बच्चों के उचित विकास के लिए आधारभूत नियम निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, मनु ने कहा है—स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए और उनके प्रति अत्यधिक स्नेह रखना चाहिए। जहां स्त्रियों का आदर होता है, वहां देवता सहर्ष वास करते हैं। स्त्रियों को हमेशा प्यार करना चाहिए और उनकी रक्षा करनी चाहिए। बचपन में पिता उसकी रक्षा करता है, यौवन में पति और वृद्धावस्था में बेटे उसकी रक्षा करते हैं (म.स्मृ. ३.५६)। बुरे वित्तवाले पुरुषों की कामुक दृष्टि से स्त्रियों की रक्षा आवश्यक है। सन्त तुलसीदास जी ने कहा है—धीरज, धरम, मित्र अरु नारी, आपत काल परखिए चारी। एक दूसरे के प्रति मन-कर्म-वचन से समर्पित होना ही पति-पत्नी के लिए एकमात्र धर्म, प्रतिज्ञा और कर्तव्य होना चाहिए।

किसी भी धर्मग्रन्थ की आलोचना नहीं करनी चाहिए, न उसमें कमियां ही निकालनी चाहिए, क्योंकि धर्मग्रन्थ धर्म और समाज-व्यवस्था की आधारशिला हैं। धर्मग्रन्थों का अनुसरण करने मात्र से ही व्यक्ति नाम, प्रसिद्धि, शान्ति और मुक्ति पा सकता है (म.स्मृ. २.०६)। धर्मशास्त्र का अध्ययन मन को उच्च विचारों में लीन रखता है और स्वयं में ही एक साधना है। शास्त्रों के सत्य के अनुसरण से मुक्ति होती है, केवल भाषण देने से ही नहीं। गुरु नानकदेव ने कहा है: जो केवल दूसरों को उपदेश देता है और स्वयं उसका आचरण नहीं करता, वह बार-बार जन्म लेगा।

प्रभु गीता और गुरु को ज्ञानोदय का मार्गदर्शन कराने दो। मायाजाल से मानवों की मुक्ति स्वयं की बुद्धिमत्ता से सम्भव नहीं है। उन्हें निष्ठापूर्वक शास्त्रों का अनुसरण करना चाहिए। विशेषतः इस युग में, जब सच्चे गुरु का मिलना बहुत कठिन है। शास्त्रों की उदात्त शिक्षा के प्रति निष्ठा सब बुराइयों को दूर रखेगी और अच्छाइयों को लायेगी। यदि एक पुल का निर्माण हुआ है, तो चीटी भी नदी को आसानी से पार कर लेगी, चाहे नदी जितनी भी बड़ी हो। इसी प्रकार मायालूपी नदी को पार करने के लिए धर्मग्रन्थ पुल है। अतः व्यक्ति को सदा उस व्यक्ति के मार्गदर्शन का अनुसरण करना चाहिए, जो शास्त्रों का जाननेवाला है, जैसा कि प्रभु ने निम्न श्लोक में कहा है—

तत्स्माच् छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं, कर्म कर्तुम् इहार्हसि ॥२४॥

मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र ही प्रमाण है। अतः तुम्हें शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ही अपना कर्तव्यकर्म करना चाहिए। (१६.२४)

पतंजलि ऋषि के अनुसार (प.यो.सू. २.३०-३२) सनातन धर्म के दस धर्मदेश हैं: (१) अहिंसा. (२) सत्य. (३) अस्तेय (चोरी नहीं करना). (४) ब्रह्मचर्य. (५) अलोभ. (६) मन-कर्म-वचन की पवित्रता. (७) संतोष. (८) संयम. (९) स्वाध्याय और (१०) भक्तिनिष्ठा के साथ प्रभु को समर्पण।

इन मूल दस शिक्षाओं की तुलना बाइबिल की दस मूल शिक्षाओं से कीजिये: (१) तुम हत्या नहीं करोगे. (२) झूठ नहीं बोलोगे. (३) चोरी नहीं करोगे. (४) परस्त्री-गमन नहीं करोगे (५) लोभ नहीं करोगे. (६) पत्नी का त्याग नहीं करोगे. (७) दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जो स्वयं के प्रति चाहते हो. (८) यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, तो तुम दूसरा गाल उसके सामने कर दोगे. (९) पड़ोसी को अपने-जैसा ही प्यार करोगे और (१०) सम्पूर्ण हृदय से प्रभु को प्यार करोगे।

बौद्धधर्म का आष्टांगिक आर्थ मार्ग है: सम्यक् दृष्टि, सम्यक् विचार (संकल्प), सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयास, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। सब बुराइयों से बचना, शुभ कर्म करना और मन का शुद्धीकरण बुद्ध भगवान का सिद्धान्त है।

इस्लाम के पांच आधारभूत सिद्धान्त हैं: (१) कलमा, अर्थात् प्रश्न में, प्रश्न के संदेश में और प्रश्न के संदेशवाहक (मसीहा) में निष्ठा. (२) नमाज—आध्यात्मिक विकास के लिए प्रश्न की महिमा, महानता और संदेश पर ध्यान तथा प्रार्थना करना. (३) जाकात—दान देकर दूसरों की सहायता करना. (४) रोजा—रमजान के महीने में आत्मशुद्धिके लिए उपवास तथा संयम और (५) हज़—पवित्र तीर्थस्थानों, विशेषतः मक्का, की यात्रा।

सभी मनीषियों ने हमें प्रश्न द्वारा उद्घाटित सत्य प्रदान किया है। भगवान् कृष्ण ने प्रत्येक व्यक्ति में दैवी सत्ता के दर्शन कर आध्यात्मिक एकता की अनुभूति की शिक्षा दी है। बुद्ध ने आत्मशुद्धिओं और सब प्राणियों के प्रति करुणा भाव की शिक्षा दी है। इसा मसीह ने सब प्राणियों को अपने-जैसा ही प्यार करने को कहा है। मुहम्मद ने ईश्वरेच्छा के सम्मुख समर्पण करने और उनके निमित्त के रूप में काम करने की शिक्षा दी है।

किन्तु कुछ धर्मों में केवल अपने ही मतालिमियों को प्रश्न का चहेता समझा जाता है और दूसरों को स्लेच्छ, काफिर आदि कहा जाता है। वेदों की शिक्षा न केवल धार्मिक सहिष्युता की है, बल्कि सब दूसरे धर्मों और मसीहाओं को अपने धर्म और मसीहों के समान ही मान देने की है। वेद का कहना है—सब दिशाओं से उदात्त विचार हमारे पास आएं (ऋ.वे. १.८६.०७). विभिन्न धार्मिक शिक्षाएं प्रश्न की विभिन्न अभिव्यक्ति मात्र हैं। उनका सम्मान किया जाना चाहिए, न कि विभाजन के उपकरणों की भाँति उनका प्रयोग। मानवता का गौरव और कल्प्याण जाति-धर्मों की एकता में निहित है (स्वामी हरिहर). धर्म का सच्चा ज्ञान मतमतान्तरों की दीवारों सहित सब दीवारों को तोड़ता है (गांधी)। जो धर्म भगवान के नाम से लोगों में झगड़ा और घृणा की दीवार खड़ा करता है, वह धर्म नहीं है, छलवेष में स्वार्थ की राजनीति है। शास्त्रों—लोकोत्तर अनुभवातीत ज्ञान—की वाणी की मानवीय व्याख्याओं में अन्तर अक्षरशः अर्थ लेने, पक्षपातपूर्ण द्वेष, अज्ञान, संदर्भहीन उदाहरण के साथ तोड़-मरोड़ करने, गलत अर्थ लगाने और व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से अन्तर्देशन (जोड़-तोड़) करने के कारण ही है।

इस प्रकार दैवासुरसंपदविभागयोग नामक सोलहवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धात्रयविभागयोगः

१७. श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिम् उत्ख्यज्य, यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण, सत्त्वम् आहो रजस् तमः ॥१॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, जो व्यक्ति शास्त्र-विधि छोड़कर केवल श्रद्धापूर्वक ही पूजा आदि करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी है? क्या वह सात्त्विक है अथवा राजसिक या तामसिक है? (१७.०१)

आत्मा के तीन प्रकार

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव, तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीभगवान बोले— मनुष्यों की स्वाभाविक श्रद्धा (अर्थात् निष्ठा) तीन प्रकार की सात्त्विक, राजसिक और तामसिक होती है, उसे सुनो. (१७.०२)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे अर्जुन, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके स्वभाव (तथा संस्कार) के अनुरूप होती है। मनुष्य अपने स्वभाव से जाना जाता है। मनुष्य जैसा भी चाहे वैसा ही बन सकता है (यदि वह श्रद्धापूर्वक अपने इच्छित ध्येय का चिन्तन करता रहे). (१७.०३)

यदि मनुष्य उकताहट में न पड़कर दृढ़ एवं प्रबल निश्चय के साथ प्रयत्न करता रहे तो देवाधिदेव भगवान शिव के प्रसाद से शीघ्र ही मनोवांछित फल पा लेता है (भा.भा. १२.१५३.११६). शुद्ध मन वाला व्यक्ति जो भी चाहता है, उन पदार्थों की प्राप्ति उसे हो जाती है (भु.ज. ३.०९.१०). सत्कर्म करनेवाला अच्छा बन जाता है और दुष्कर्म करनेवाला बुरा, पुण्य कर्म से व्यक्ति पुण्यात्मा और पाप कर्म से दुष्टात्मा बन जाता है (बृह.उ. ४.०४.०५). व्यक्ति वही हो जाता है, जिसका वह सतत रूप से गहन चिन्तन करता है, कारण चाहे जो भी हो—श्रद्धा, भय, ईर्ष्या, प्यार या घृणा भी (भा.पु. ११.०६.२२). जिसकी तुम्हें तलाश है—जानबूझकर या अनजाने—सदा वही मिलेगा, विचार से कर्म पैदा होता है, शीघ्र ही कर्म स्वभाव बन जाता है और स्वभाव किसी भी उद्यम में सफलता की ओर ले जाता है।

हम स्वयं अपने ही विचारों और कामनाओं की उपज हैं—अपने ही निर्माता, जहां चाह है, वहां राह है। हमें उत्तम विचारों को ही मन में स्थान देना चाहिए, क्योंकि विचार कर्म के पूर्वगामी हैं। विचार हमारे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और आध्यात्मिक कल्याण को भी नियंत्रण में रखते हैं। हमारे अपने भीतर ही इतनी शक्ति है, किन्तु विडम्बना यह है कि हम उसका उपयोग करने में असमर्थ रहते हैं। यदि तुम्हारे पास वह नहीं है, जो तुम चाहते हो,

तो तुम उसके प्रति सौं फीसदी निष्ठ नहीं हो। जीवन से सर्वश्रेष्ठ की कामना नहीं करनी चाहिए, यदि तुम उसे अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं दे सकते। सफलता धीरे-धीरे लिए गए पगाँ की शृंखला है। स्टीफेन कोवे का कथन है: “अपने भविष्य की भविष्यवाणी करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका अपने भविष्य का निर्माण करना ही है।” हर महान् उपलब्धि एक समय असम्भव ही समझी जाती है। मानवीय आवना और मन की शक्ति और क्षमता को कभी कम मत समझो। गीता के इस अकेले मंत्र की शक्ति को व्यवहार में प्रयोग करने के लिए अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं और प्रेरणादायक कार्यपद्धतियों का विकास किया गया गया है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान् भूतगणांश् चान्ये, यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक व्यक्ति देवी-देवताओं को पूजते हैं; राजस मनुष्य यक्ष और राक्षसों को तथा तामस व्यक्ति भूतों और प्रेतों की पूजा करते हैं। (१७.०४)

अशास्त्रविहितं घोरं, तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहकारसंयुक्ताः, कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शारीरस्थं, भूतग्रामम् अचेतसः ।

मां चैवान्तश्शरीरस्थं, तान् विदध्य आसुरनिश्चयान् ॥६॥

जो लोग शास्त्रविधि से रहित घोर तप करते हैं, जो दम्भ और अभिमान से युक्त हैं, जो कामना और आसक्ति से प्रेरित हैं, जो शरीर में स्थित पंचभूतों को और सबके अन्तःकरण में रहनेवाला मुझ परमात्मा को भी कष्ट देनेवाले अविवेकी लोग हैं, उन्हें तुम आसुरी स्वभाववाले जानो। (१७.०५-०६)

भोजन के तीन प्रकार

आहारस् त्वं अपि सर्वस्य, त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस् तपस् तथा दानं, तेषां भेदम् इमं शृणु ॥७॥

सबका प्रिय भोजन भी तीन प्रकार का होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं। उनके भेद तुम मुझसे सुनो। (१७.०७)

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्त्निधाः स्थिरा हृद्या, आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले; रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा शरीर को शक्ति देनेवाले आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्रिय होते हैं। (१७.०८)

व्यक्ति को जीवन की रक्षा और पोषण के लिए शुद्ध सात्त्विक भोजन वैसे ही ग्रहण करना चाहिए, जैसे रोगी जीवनरक्षा के लिए औषधि का सेवन करता है (म.आ. १२.२९२.१४). जो कुछ भी व्यक्ति खाता है, उसके इष्टदेव भी उसी का सेवन करते हैं (वा.रा. २.१०४.१५). (गीता ८.२४ भी देखें,) (क्योंकि) मैं तुम हूं और तुम मैं हो (ब्र.सू. ३.३.३७). जो भोजन हम करते हैं, वह तीन भागों में विभाजित हो जाता है। भोजन का स्थूलतम भाग शौच में परिवर्तित हो जाता है, मध्यम भाग से मांस, रक्त, मज्जा और अस्थि बनते हैं। सूक्ष्मतम भाग, वीर्य, ऊर्ध्वरामी होकर प्राणों से मिलकर मस्तिष्क और शरीर के सूक्ष्म अवयवों का पोषण करता है (छा.उ. ६.०५.०७-६.०६.०२). भोजन को जीवन-रुक्ष की जड़ कहा जाता है तथा आध्यात्मिक जीवन में सफलता के लिए स्वस्थ तन और मन अनिवार्य हैं। मन स्वस्थ तभी होगा, जब तन

स्वस्थ हो। सात्त्विक वृत्तिवाले व्यक्ति शाकाहारी भोजन करते हैं। शाकाहारी भोजन करने से व्यक्ति आर्थ पुरुष बन सकता है, क्योंकि व्यक्ति वैसा ही बनता है, जैसा वह भोजन करता है।

कटवस्तुलवणात्युष्ण-तीक्ष्णस्त्वचिदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ॥१॥

दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करनेवाले; बहुत कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीखे, रुखे और दाहकारक आहार राजसिक व्यक्ति को प्रिय होते हैं। (१७.०९)

यातयामं गतरसं, पूर्ति पर्युषितं च यत्

उच्छिष्ठम् अपि चामध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और (मांस, मदिरा आदि) अपवित्र आहार तामसिक मनुष्य को प्रिय होता है। (१७.१०)

मन की शुद्धि भोजन की पवित्रता से होती है। शुद्ध मन में ही सत्य का उद्घाटन होता है। सत्य के जानने के बाद व्यक्ति सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है (छ.ज. ७.२६.०२). जुआ, मदिरापान, अवैध यौन-सम्बन्ध और मांसाहार के मानवों में स्वाभाविक नकारात्मक प्रवृत्ति हो सकते हैं, किन्तु इन चारों से निवृत्ति पाना सचमुच दिव्य है। पाप के इन चार स्तम्भों से व्यक्ति को परहेज रखना चाहिए (भा.पु. १.७०.३८). मांसाहार से परहेज करना एक सो पावन यज्ञ करने के समान है (म.सृ. ५.५३.५६).

यज्ञ के तीन प्रकार

अफलाकाइक्षिभिर् यज्ञो, विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यम् एवेति मनः, समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है— ऐसा सोचकर, बिना फल की आशा करनेवालों द्वारा विधिपूर्वक किया गया यज्ञ सात्त्विक है। (१७.११)

अभिसन्धाय तु फलं, दम्भार्थम् अपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ, तं यज्ञं विदिधि राजसम् ॥१२॥

हे अर्जुन, जो यज्ञ फल की इच्छा से अथवा दिखाने के लिए किया जाता है, उसे तुम राजसिक समझो। (१७.१२)

विधिहीनम् असुष्टात्रं, मन्त्रहीनम् अदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते ॥१३॥

शास्त्रविधि, अन्नदान, मंत्र, दक्षिणा और श्रद्धा के बिना किए जानेवाले यज्ञ को तामसिक यज्ञ कहते हैं। (१७.१३)

साधना मंत्र के बिना अपूर्ण है और मंत्र साधना के बिना अपूर्ण है (देवी.भा. ७.३५.६०).

विचार, वाणी, और कर्म का तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञ-पूजनं शौचम् आर्जवम् ।

ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवी-देवता, पुरोहित, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन; पवित्रता, सदाचार, ब्रह्मचर्य और अहिंसा; इन्हें शारीरिक तप कहा जाता है। (१७.१४)

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वाणी वही अच्छी है जो दूसरों के मन में अशान्ति पैदा न करे, जो सत्य, मधुर और हितकारक हो तथा जिसका उपयोग शास्त्रों के पढ़ने में हो। ऐसी अच्छी वाणी को वाणी का तप कहते हैं। (१७.१५)

सत्य का मार्ग आध्यात्मिक विकास का मार्ग है। उपनिषद् का कहना है—अन्त में सत्यवादी ही विजयी होता है, मिथ्यावादी नहीं। सत्य ही वह दैवी मार्ग है जिसके द्वारा सन्त-मुनि, जो इच्छाओं से मुक्त हो चुके हैं, ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं (मु.उ. ३.०९.०६)। सत्याचारी होना अभीष्ट है। हितकारक वचन बोलना सच बोलने से श्रेयस्कर है। धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। जिससे प्राणियों का अधिकतम हित होता हो, वही मेरे विचार से वास्तविक सत्य है (म.भा. १२.३२६.९३)। इसके विपरीत जिससे किसी का अहित होता हो या दूसरों के प्राण जाते हों, वह देखने में सत्य होने पर भी वास्तव में असत्य एवं अधर्म है (म.भा. १२.२०६.०४)। सत्य की रक्षा में झूठ बोला जा सकता है, किन्तु असत्य की रक्षा के लिए सत्य मत बोलो।

ब्रुद्धिमान् व्यक्ति को सच बोलना चाहिए, यदि वह हितकर है और मौन रहना चाहिए यदि सच बोलना हानिकर है। व्यक्ति को हितकर सत्य बोलना चाहिए, चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय। अहितकर वाणी, जैसे चाटुकारिता, से बचना चाहिए (वि.पु. ३.१२.४४)। प्रिय वाणी सब के लिए हितकर है। मधुरवाणी बोलनेवाला सबका मन जीत लेता है और सर्वप्रिय होता है (म.भा. १२.८४.०४)। कठोर वचनों द्वारा पहुंचाया हुआ घाव बहुत कठिनता से भरता है। ब्रुद्धिमानों को किसी दूसरे को ऐसे घाव नहीं देने चाहिए (म.भा. ५.३४.८०)। वाणी की मधुरता और मन की शान्ति सच्चे योगी के लक्षण हैं (स्वामी आत्मानन्द गिरि)। यदि अत्यन्त आवश्यक हो तो जीवन, सम्पत्ति और धर्म की रक्षा के लिए, प्रणय-निवेदन काल में और विवाह करने के हेतु असत्य बोला जा सकता है (म.भा. १२.१०६.९६)। पति और पत्नी को सुधार का प्रयास करना चाहिए और मधुर प्यार से एक दूसरे की सेवा से पारस्परिक विकास में मदद करनी चाहिए, जैसे कि एक गाय चाटकर अपने बछड़े की शुद्धि करती है। एक दूसरे के प्रति उनके वचन ऐसे मधुर होने चाहिए, जैसे कि वे शहद में पगे हों (अथ.वे. ३.३०.०९-०२)।

सत्य सब उदात्त गुणों का मूल है। सत्य की कड़वी गोली को मधुरता के मधु में पगाकर प्रस्तुत किया जाना चाहिए। मधुर रीति से सत्याचरण करो किन्तु मधुरता के लिए सत्य मार्ग से विचलित न होओ। शालीनता के साथ स्पष्टवादिता का व्यवहार करो, चाटुकारिता से बचो। वाणी को सदा हितकर, सत्य और मधुर होना चाहिए।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनम् आत्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिर् इत्य् एतत् , तपो मानसम् उच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सरलता, चित्त की स्थिरता, मन का नियंत्रण और शुद्ध विचार—इन्हें मानसिक तप कहते हैं। (१७.१६)

तप के तीन प्रकार

श्रद्धया परया तात्तं, तपस् तत् त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षिभिर् युक्तैः, सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

विना फल की इच्छा से, परम श्रद्धापूर्वक किए गए उपरोक्त तीनों प्रकार मन, वाणी और शरीर के तप को सात्त्विक तप कहते हैं। (१७.१७)

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, कृतता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम में रखना तथा सबके प्रति दया बनाये रखना—इन्हीं को धीर पुरुषों ने तप माना है। केवल शरीर को सुखाना ही तप नहीं है (म.भा. १२.७६.१८)। विचारों की शुद्धता के बिना वचन और कर्म की शुद्धि सम्पव नहीं है।

सत्कारमानपूजार्थ, तपो दध्मेन चैव यत् ।

क्रियते तद् इह प्रोक्तं, राजसं चलम् अध्वृवम् ॥१८॥

जो तप दूसरों से सत्कार, मान और पूजा करवाने के लिए अथवा केवल दिखाने के लिए ही किया जाए, ऐसे अनिश्चित और क्षणिक फलवाले तप को राजसिक तप कहा गया है। (१७.१८)

मृद्याहेणात्मनो यत्, पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥१९॥

जो तप मृद्यापूर्वक हठ से अपने शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को क्षति पहुंचाने के लिए किया जाता है, उसे तामसिक तप कहा गया है। (१७.१९)

दान के तीन प्रकार

दातव्यम् इति यद् दानं, दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशो काले च पात्रे च, तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दान देना हमारा कर्तव्य है—ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के अनुसार बिना प्रत्युपकार की इच्छा से दिया जाता है, वह दान सात्त्विक माना गया है। (१७.२०)

सात्त्विक भाव से किया गया दान श्रेष्ठतम् शुद्धिकारक, हितकर और धार्मिक कार्य है। वह दाता और प्राप्तकर्ता दोनों के लिए समान रूप से हितकारी है। जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र एवं कल्याणकारी है। दान देना तीर्थ-स्नान तथा वैदिक व्रत की पूर्ति से भी बढ़कर है (म.भा. १३.१२०.१५-१६)। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसको देता है? कोई भी दूसरों के लिए कुछ भी नहीं करता; सब अपने ही भले के लिए करते हैं। प्राणी सारा कार्य स्वयं अपने भले के लिए ही करता है। दूसरों के लिए किए गए परोपकारी कार्य भी वस्तुतः अपने ही भले के लिए किए जाते हैं (म.भा. १२.२६२.०७)। प्राप्तकर्ता नहीं, दाता ही सौभाग्यशाली है। योगीराज मुमताज़ अली कहते हैं कि जब तुम किसी प्रकार भी अपने से कम भाग्यशाली व्यक्ति की भौतिक या आध्यात्मिक सेवा करते हो, तो तुम उस पर कोई अहसान नहीं कर रहे हो। वास्तव में, जो तुम्हारी सहायता पाता है, वही अहसान करता है—वह स्वीकार कर जो तुम उसे देते हो। क्योंकि, वैसा करके वह तुम्हारे विकास में मदद करता है और सहायक होता है तुम्हें दिव्यात्मा के समीप जाने में, जो वस्तुतः हम सब के भीतर बैठा है।

नाम और प्रसिद्धि के लोभवश स्वीकार किया अनावश्यक दान लेनेवालों को बहुत हानि पहुंचाता है। अनुचित दान दाता और प्राप्तकर्ता दोनों के लिए हानिकारक है (म.स्मृ. ४.१८६)। दो, जो तुम दे सकते हो—प्यार, ज्ञान, सहायता, सेवा, प्रार्थना, भोजन—पर प्रतिदान की अपेक्षा न करो। प्यार—सबसे कम मूल्यवाला दान—में प्रभु के राज्य में प्रवेश करने की कुंजी निहित है। दान श्रेष्ठतम् ही नहीं, वरन् धन का एकमात्र उपयोग भी है। किन्तु दान के लिए प्राप्त सभी योग्य आवेदनों पर संवेदनशीलता और व्यवहारकुशलता (कृटनीति) के साथ विचार करना चाहिए, क्योंकि दान की अस्वीकृति नकारात्मक, अहितकर, भाव पैदा कर सकती है।

यदि तुम दान या भेंट देते हो, तो अपने वास्तविक उद्देश्य, अपनी असली नीयत का विवेचन करो।

जो अधर्म के द्वारा कमाए हुए धन से पारलौकिक कर्म करता है, वह मरने के बाद उसके फल को नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्ते से आया होता है (भ.भा. ५.३६.६६). यदि धर्म से ही प्रयोजन हो, तो धन की इच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए. धर्मात्मा पुरुष उसी धन की प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छा से न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो. धन यदि अनुचित साधनों से अर्जित किया गया है, तो दान का कोई मूल्य नहीं. पुण्य या दान कार्यों के लिए अनुचित साधनों द्वारा धन प्राप्त करना वैसा ही है, जैसा अपने वस्त्र मलिन करके फिर उन्हें धोना. पहले ही वस्त्र को मलिन न करना मलिन करने के बाद उसे धोने से अच्छा है (भ.भा. ३.०२.४६-५०). अनुचित साधनों से श्रेष्ठ ध्येय की प्राप्ति सम्भव नहीं है. साधन और साध्य पूर्णतः अभिन्न हैं (स्टीफेन कोवे). भौतिक वस्तुओं और धन देकर हर किसी की सहायता करना सम्भव नहीं है. संकट या आवश्यकता के समय दूसरों के—उनके भी, जो अपने प्रियजनों की सूची में नहीं हैं—दैहिक और आनिक कल्याण के लिए प्रार्थना करना मानसिक दान कहलाता है।

यत् तु प्रत्युपकारार्थं, फलम् उद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं, तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान फल-प्राप्ति, प्रत्युपकार की इच्छा से अथवा बिना श्रद्धा से दिया जाता है, वह दान राजसिक कहा गया है. (१७.२१)

उपतदान ही श्रेष्ठतम् दान है. कुपत्र या गलत कार्य के लिए दान देना और सुपात्र को न देना, दोनों ही अनुचित हैं और दान न देने से भी बुरे हैं. जो दान बिना याचना के मिल जाता है, वह श्रेष्ठ है. याचना से मिला दान उससे कम श्रेष्ठ है. जो दान अनिच्छा से दिया जाता है, या दानी पर दबाव डालने से विवशता में दिया गया है, वह त्याज्य है.

अदेशाकाले यद् दानम्, अपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतम् अवज्ञातं, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥२२॥

जो दान देश, काल और पात्र का विचार किए विना अथवा पात्र का अनादर या तिरस्कार करके दिया जाता है, वह दान तामसिक कहा गया है. (१७.२२)

अपने से कम भाग्यशाली व्यक्तियों का लिहाज रखो और उनके प्रति सहानुभूति रखो. दान लेनेवाले को नीचा दिखाये बिना दिया जाना चाहिए. लेनेवाले को नीचा दिखाकर दिया दान दाता को विनष्ट कर देता है (वा.रा. १.१३.३३). व्यक्ति को सदा याद रखना चाहिए कि ईश्वर ही दाता और प्राप्तकर्ता दोनों हैं।

ब्रह्म के तीन नाम

ॐ तत् सद् इति निर्देशो, ब्रह्मणस् त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणस् तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ब्रह्म के—जिनके द्वारा सृष्टि के आदि में वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों की रचना हुई है—ओम्, तत् और सत् तीन नाम कहे गए हैं. (१७.२३)

तत्साद् ओम् इत्य् उदाहृत्य, यज्ञादानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः, सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिए, परब्रह्म परमात्मा को जाननेवालों द्वारा (शास्त्रविधि से) किए हुए यज्ञ, दान, तप आदि वैदिक क्रियाओं का प्रारम्भ सदा परमात्मा के ओंकार नाम के उच्चारण से ही होता है। (१७.२४)

तद् इत्य् अनभिसंधाय, फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

फल की इच्छा नहीं खबनेवाले मुमुक्षुओं द्वारा नाना प्रकार के यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएं 'तत्' शब्द का उच्चारण करके की जाती हैं। (१७.२५)

सद्गावे साधुभावे च, सद् इत्य् एतत् प्रयुज्यते ।

प्रशास्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

हे पार्थ, 'सत्' शब्द का प्रयोग परमात्मा के अस्तित्व, अच्छे भाव तथा शुभ कर्म के लिए भी होता है। (१७.२६)

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः सद् इति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं, सद् इत्य् एवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दान में श्रद्धा तथा परमात्मा के लिए किए जानेवाले (निष्काम) कर्म को भी 'सत्' कहते हैं। (१७.२७)

अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपस् तप्तं कृतं च यत् ।

असद् इत्य् उच्यते पार्थ, न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ, यज्ञ, दान, तप आदि जो कुछ भी कर्म बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह 'असत्' कहा जाता है, जिसका न इस लोक में और न परलोक में ही कोई प्रयोजन है। (१७.२८)

इस प्रकार श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ अष्टादशोऽध्यायः

मोक्षसंन्यासयोगः

१८. निरहंकार से मोक्ष की प्राप्ति

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो, तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश, पृथक् केशनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोले— हे महाबाहो, हे अन्तर्यामिन्, हे वासुदेव; मैं संन्यास और त्याग को तथा इनके भेद को अच्छी तरह जानना चाहता हूँ। (१८.०१)

संन्यास और त्याग की परिभाषा

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं, प्राहुस् त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्रीभगवान बोले— सकाम कर्मों के परित्याग को ज्ञानीजन 'संन्यास' कहते हैं; तथा विवेकी मनुष्य सभी कर्मों के फलों (में आसक्ति) के त्याग को 'त्याग' कहते हैं। (५.०१, ५.०५, ६.०१ भी देखें।) (१८.०२)

संन्यासी के पास कोई अपनी सम्पत्ति नहीं होती। सच्चा संन्यासी दूसरों के लिए काम करता है। वह दूसरों पर (आर बनकर) नहीं, दूसरों के लिए ही, जीता है। संन्यास का अर्थ है— कृतित्व, स्वामित्व और कर्म-निहित व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का पूर्ण परित्याग; जबकि त्याग का अर्थ है समस्त कर्मों के फल के प्रति मोह को तिलंजलि देना अथवा मात्र प्रभु के लिए कर्म करना। प्रभु के लिए सेवा करनेवाला त्यागी या कर्मयोगी कहलाता है। इस प्रकार जो त्यागी यह सोचता है कि वह प्रभु को प्रसन्न करने के लिए ही सब कर्म करता है, उसे हर समय प्रभु का स्मरण रहेगा। अतः श्लोक १२.१२ में कहा गया है कि त्याग सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मयोग है, आध्यात्मिक अभ्यास है। गीता में त्याग और संन्यास शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में किया गया है, क्योंकि इन दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है (देखें श्लोक ५.०४, ५.०५, ६.०१ और ६.०२)। गीता के अनुसार संन्यास का अर्थ वन में या समाज से बाहर किसी अन्य निर्जन स्थान में रहना नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति मन की शान्ति चाहता है और वह केवल कर्मफल के मोह के बिना प्रभु (अर्थात् समाज) के लिए कर्म करनेवाले के लिए ही सम्भव है, जो अपने कर्मों के फल मन से प्रभु को अर्पित करता है। यह अपने गुरु को सब भौतिक सम्पत्ति अर्पित कर देना नहीं है, जैसा कि कुछ मत-मतान्तर प्रचारित करते हैं।

त्याज्यं दोषवद् इत्य् एके, कर्म प्राहुर् मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यम् इति चापरे ॥३॥

कुछ महात्मा लोग कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं और दूसरे लोगों का कहना है कि यज्ञ, दान और तप त्याज्य नहीं हैं। (१८.०३)

निश्चयं शृणु मे तत्र, त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र, त्रिविधः संप्रकीर्तिः ॥४॥

हे अर्जुन, त्याग के विषय में अब तुम मेरा निर्णय सुनो। हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है। (१८.०४)

यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यं कार्यम् एव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव, पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिए, उन्हें अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और तप साधकों के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं। (१८.०५)

एतान्य् अपि तु कर्मणि, सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ, निश्चितं मतम् उत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ, इन कर्मों को भी फल की आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिए, ऐसा मेरा दृढ़ उत्तम मत है। (१८.०६)

त्याग के तीन प्रकार

नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात् तस्य परित्यागस्, तामसः परिकीर्तिः ॥७॥

हे अर्जुन, कर्तव्यकर्म का त्याग उचित नहीं है. भ्रमवश उसका त्याग करना तामसिक त्याग कहा गया है. (१८.०७)

दुखम् इत्येव यत् कर्म, कायकलेशभयात् त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं, नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

सभी कर्म दुःखरूप है— ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक कष्ट अथवा कठिनाई के भय से अपने कर्तव्यकर्म को त्याग दे, तो वह ऐसा राजसिक त्याग करके त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता. (१८.०८)

कार्यम् इत्येव यत् कर्म, नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

"कर्म करना कर्तव्य है" ऐसा समझकर, हे अर्जुन, जो नियत कर्म फल की आसक्ति त्यागकर किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है. (१८.०९)

ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति आसक्ति का परित्याग सच्चा त्याग है. त्याग की सम्पूर्णता व्यक्ति के लचि और अलचि के चंगुल से मुक्त होने पर ही आती है और किसी तरीके से नहीं. विषयों की आसक्ति का त्याग ही वास्तविक त्याग है. राग-द्वेष से रहित होने पर ही त्याग की सिद्धि होती है (म. भा. १२. १६२. ७७). संसार में आत्मज्ञान के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, मोह के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है (म. भा. १२. १७५. ३५). मनुष्य त्याग के बिना सुख नहीं पाता, त्याग किए बिना परमात्मा को नहीं पा सकता और त्याग के बिना निर्भय तथा सुखी नहीं हो सकता (म. भा. १२. १७६. २२). समाधि-सुख का आनन्द भी केवल आनन्द के लिए ही नहीं भोगना चाहिए. गीता जगत् में रहते हुए त्याग का परामर्श देती है, जगत् के त्याग का नहीं, जैसा कि श्रान्तिवश प्रायः समझा जाता है.

कोई भी दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता. हम परमेश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते. आर्थ शिक्षाओं के लिए इसा अपने जीवन का त्याग करने से नहीं ज़िज्ञाके. धर्म-प्रस्थापना के लिए भगवान राम ने अपना राज्य और पत्नी तक का परित्याग कर दिया. वेदों और उपनिषदों का संदेश है— मोह त्यागो और त्याग द्वारा पूर्णता प्राप्त करो. त्याग, जैसा कि इस अन्तिम अध्याय में कहा गया है, गीता का सार है. जो व्यक्ति त्यागी है, वह पाप नहीं कर सकता और आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है. त्याग की नाव से व्यक्ति इस जन्म में ही आवागमन का सागर पारकर मुक्ति के तट पर पहुंच सकता है.

नवधा त्याग

गीता की शिक्षा पर आधारित मुक्ति की ओर ले जानेवाले त्याग नौ प्रकार के हैं— (१) शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग (गीता १६. २३-२४); (२) काम, क्रोध, लोभ, भय, लचि-अलचि और ईर्ष्या का त्याग (गीता ३.३४, १६.२१); (३) परम सत् की खोज में टालने की प्रवृत्ति (प्रमाद) की तिलंजलि (गीता १२.०५); (४) ज्ञान, अनासक्ति, भक्ति, सम्पत्ति और दान कार्यों में स्वामित्व के गर्व का त्याग (गीता १५.०५, १६.०७-०८); (५) स्वार्थपूर्ण उद्देश्य तथा सर्व कर्मफल का वहिष्कार (गीता २.५१, ३.०६, ४.२०, ६.९०); (६) सब उद्यमों में कर्तापन के भाव का त्याग (गीता १२.१३, १८.५६); (७) स्वार्थपूर्ण भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रभु के उपयोग के विचार का त्याग (गीता २.४३, ७.१६); (८) घर, सम्पत्ति, पद और शक्ति आदि भौतिक पदार्थों

के प्रति आसक्ति को तिलंजलि (गीता १२.१६, १३.०६); और (६) उदात्त ध्येय और धर्म की रक्षा के लिए सम्पत्ति, यश और यहां तक कि जीवन का भी उत्सर्ग (गीता २.३२, ४.२८)

न द्वेष्य अकुशलं कर्म, कुशले नानुष्ण्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो, मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

जो मनुष्य अशुभ कर्म से द्वेष नहीं करता तथा शुभ कर्म में आसक्त नहीं होता, वही सतोगुण से सम्पन्न, संशयरहित, बुद्धिमान् और त्यागी समझा जाता है. (१८.१०)

न हि देहभूता शक्यं, त्यक्तुं कर्माण्य् अशेषतः ।

यस् तु कर्मफलत्यागी, स त्यागीत्य् अभिधीयते ॥११॥

मनुष्य के लिए सम्पूर्णस्प से सभी कर्मों का त्याग करना संभव नहीं है, अतः जो सभी कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करता है, वही त्यागी कहा जाता है. (१८.११)

अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च, त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्य् अत्यागिनां प्रेत्य, न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्मों के तीन प्रकार के फल— अच्छा वुरा और मिश्रित— मरने के बाद कर्मफल में आसक्ति का त्याग न करनेवाले को मिलते हैं, परन्तु त्यागी को कभी नहीं. (१८.१२)

कर्म के पांच कारण

पञ्चैतानि महाबाहो, कारणानि निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि, सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्क्वेष्टा, दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

हे महाबाहो, सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सभी कर्मों की सिद्धि के लिए ये पांच कारण— स्थूल शरीर, प्रकृति के गुणरूपी कर्ता, पांच प्राण, इन्द्रियां तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण या प्रारब्ध — बताए गए हैं. इसे तुम मुझसे भली भाँति जानो. (१८.१३-१४)

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्, कर्म प्रारभते नः ।

न्यायं वा विपरीतं वा, पञ्चैते तत्प्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य अपने मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो कुछ भी उचित या अनुचित कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं. (१८.१५)

तत्रैवं सति कर्तारम्, आत्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्य् अकृतबुद्धित्वान्, न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अतः जो केवल अपने-आपको (अर्थात् अपने शरीर या आत्माको) ही कर्ता मान बैठता है, वह अज्ञानी मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण नहीं समझता. (१८.१६)

यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर् यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमौल् लोकान्, न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिस मनुष्य के अन्तःकरण में “मैं कर्ता हूँ” का भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल की आसक्ति से) लिप्त नहीं है, वह इन सारे प्राणियों को मारकर भी वास्तव में न किसी को मारता है और न पाप से बंधता है. (१८.१७)

जो लोग इस विचार से कि "मैं कर्ता हूं" मुक्त हैं, जो अपने कर्म की रुचि-अरुचि से मुक्त हैं और जो अपने कर्म के फलों के प्रति अनासक्त हैं, वे हत्या तक के कर्म को करते हुए भी कर्मभोग के प्रतिफल से मुक्त हो जाते हैं।

अहंकार एक भूती धारणा है जिससे व्यक्ति ब्रह्म को अन्य जीवों से अलग मानता है। समाज की भौतिक उन्नति में अहंकार का स्थान है, क्योंकि यह इच्छाओं का जन्मदाता है और इसी से क्रिया उत्पन्न होती है। अतः अहंकार के बिना भौतिक संसार नहीं चल सकता, पर आध्यात्मिक विकास में अहंकार बाधक है। अतः मोक्ष की इच्छा रखने वालों को आत्मज्ञान की तलवार से अहंकार को अवश्य काटना होगा। आत्मा को बन्धन या मुक्ति नहीं होती है। अहंकार से इच्छा और इच्छा से आसक्ति पैदा होती है, जो बन्धन के कारण बनते हैं (वि.चृ. ४.४०)। ब्रह्म को जानने और प्राप्त करने की इच्छा सभी वासनाओं को समाप्त करती है। ज्ञान जनित अहंकार आत्मा के बन्धन का कारण है, और अहंकार का अभाव मोक्ष का कारण है (अव.ग. ८.०४, यो.वा. ४२.३२)। बन्धन और मुक्ति दोनों ही मन द्वारा निर्मित हैं, वास्तविक नहीं हैं। मन ही बन्धन के काल्पनिक विचार को उत्पन्न करता है और बन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है। जिस प्रकार वायु बादलों को लाती है और पुनः उसे उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार मन की कल्पना शक्ति बन्धन को जन्म देती है और फिर बन्धन से मुक्त भी करा देती है (वि.चृ. ५.७४)। सूर्य के ताप से उत्पन्न बादल जैसे सूर्य को ही ढक देती है, उसी तरह ब्रह्म की माया द्वारा उत्पन्न अज्ञान ब्रह्म को ढक देता है। जीव उद्गम स्थान (ब्रह्म) को भ्रुल जाता है और स्वयं को ब्रह्म से अलग मानने लगता है। जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है (वि.चृ. २.५८)।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता, त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्त्तेति, त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कार्य का ज्ञान, ज्ञान का विषय (ज्ञेय) और ज्ञाता— ये तीन कर्म की प्रेरणा हैं; तथा करण अर्थात् इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण— ये तीन कर्म के अंग हैं। (१८.१८)

ज्ञान के तीन प्रकार

ज्ञानं कर्म च कर्ता च, प्रियैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने, यथावच् क्षणु तान्य् अपि ॥१९॥

सांख्यमत के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से तीन प्रकार के माने गए हैं। उनको भी तुम मुझसे भली भाति सुनो। (१८.१९)

सर्वभूतेषु येनैकं, भावम् अव्ययम् ईक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्, ज्ञानं विदिधि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभक्त रूप में स्थित समस्त प्राणियों में एक ही अविभक्त और अविनाशी परमात्मा को समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्त्विक जानो। (१९.१३, १३.१६ भी देखें।) (१८.२०)

पृथक्त्वेन तु यज् ज्ञानं, नानाभावान् पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु, तज् ज्ञानं विदिधि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभिन्न प्राणियों के अस्तित्व में अनेकता का अनुभव करता है, उस ज्ञान को तुम राजसिक समझो। (१८.२१)

यत् तु कृत्स्नवद् एकस्मिन्, कार्ये सक्तम् अहैतुकम् ।

अतत्वार्थवद् अल्पं च, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥२२॥

और जिस मूर्खतापूर्ण, तुच्छ और बेकार ज्ञान के द्वारा मनुष्य शरीर को ही सबकुछ मानकर उसमें आसक्त हो जाता है, वह ज्ञान तामसिक है। (१८.२२)

कर्म के तीन प्रकार

नियतं सङ्गरहितम्, अरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेष्युना कर्म, यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥२३॥

जो कर्म (शास्त्रविधि से) नियत और कर्मफल की इच्छा और आसक्ति से रहित है तथा बिना राग-द्वेष से किया गया है, वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है। (१८.२३)

यत् तु कामेष्युना कर्म, साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं, तद् राजसम् उदाहृतम् ॥२४॥

जो कर्म फल की कामनावाले, अहंकारी मनुष्य द्वारा बहुत परिश्रम से किया जाता है, वह राजसिक कहा गया है। (१८.२४)

अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्, अनवेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहाद् आरभ्यते कर्म, यत् तत् तामसम् उच्यते ॥२५॥

जो कर्म परिणाम, अपनी हानि, परपीड़ा और अपनी सामर्थ्य को न विचारकर केवल भ्रमवश किया जाता है, वह कर्म तामसिक कहलाता है। (१८.२५)

कर्ता के तीन प्रकार

मुक्तसप्तगोडनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्धधर्मसिद्ध्योर् निर्विकारः, कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता आसक्ति और अहंकार से रहित तथा धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है। (१८.२६)

रागी कर्मफलप्रेष्युर्, लुब्धो हिंसात्मकोऽशृणिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता, राजसः परिकीर्तिः ॥२७॥

राग-द्वेष से युक्त, कर्मफल का इच्छुक, लोभी तथा दूसरों को कष्ट देनेवाला, अपवित्र विचारवाला और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजसिक कहा जाता है। (१८.२७)

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः, शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च, कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्त, असभ्य, हठी, धूर्त, द्वेषी, आलसी, उदास और दीर्घसूत्री कर्ता तामसिक कहा जाता है। (१८.२८)

बुद्धिके तीन प्रकार

बुद्धधेर् भेदं धृतेश चैव, गुणतस् त्रिविधं शृणु ।

प्रोच्यमानम् अशोषेण, पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे अर्जुन, अब तुम मुझसे गुणों के अनुसार बुद्धिके और संकल्प के भी तीन भेद पूर्ण रूप से अलग-अलग सुनो। (१८.२९)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्यकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा मुक्ति और बन्धन को यथार्थ रूप से जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है. (१८.३०)

यया धर्मम् अधर्मं च, कार्यं चाकार्यम् एव च ।

अयथावत् प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक तरह से नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसिक है. (१८.३१)

अधर्मं धर्मम् इति या, मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन, जो बुद्धि अज्ञान के कारण अधर्म को ही धर्म मान लेती है, इसी तरह सभी चीजों को उल्टा समझ लेती है, वह बुद्धि तामसिक है. (१८.३२)

संकल्प के तीन प्रकार और मानव जीवन के चार लक्ष्य

धृत्या यया धारयते, मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या, धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

जिस संकल्प के द्वारा केवल परमात्मा को ही जानने के ध्येय से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह संकल्प सात्त्विक है. (१८.३३)

यया तु धर्मकामार्थान्, धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी, धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पृथानन्दन, फल की इच्छावाला मनुष्य जिस संकल्प के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को अत्यन्त आसाक्षिपूर्वक धारण करता है, वह संकल्प राजसिक है. (१८.३४)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष वैदिक पदधाति में गृहस्थ के लिए मानव-जीवन के उदात्त ध्येय हैं. धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ (*effort*) से प्राप्त होता है तथा अर्थ और काम प्रारब्ध के अधीन है. भगवान राम ने कहा है: वे जो धर्म और अर्थ को छोड़कर केवल इन्द्रियों को संतुष्ट करने में लगे हैं, शीघ्र ही विपत्ति में पड़ जाते हैं. (वा.रा. २.५३.१३). जो मनुष्य काम से धर्म और अर्थ को, अर्थ से धर्म और काम को तथा धर्म से अर्थ और काम को हानि न पहुंचाकर धर्म, अर्थ और काम तीनों का यथोचित रूप से सेवन करता है, वह अत्यन्त सुख का भागी होता है (म.भा. ६.६०.२२). सम्पूर्ण रूप से भौतिक सम्पत्ति और पदार्थों को पाने और रखने में लगे व्यक्ति के पास आत्मबोध के लिए कोई समय नहीं रहता. परिग्रह, अर्थात् स्वामित्व का भाव, जन्म और मृत्यु का मुख्य कारण है. परिग्रह से ही पाप प्राप्त हो सकता है (म.भा. १२.०७.४७). प्रशु की भवित्व और समर्पण से चारों ध्येयों की प्राप्ति सम्भव है (वि.पु. १.९८.२४). पहले व्यक्ति को निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य करते हुए धर्म का पालन करना चाहिए. तब उसे धनोपार्जन करके आर्थिक प्रगति और उपार्जित धन द्वारा सभी उदात्त भौतिक और आध्यात्मिक कामनाओं की पूर्ति करते हुए मुक्ति की ओर प्रगति करनी चाहिए, जो मानवजन्म का एक मात्र वांछनीय ध्येय है.

जैसे मानव सदैव मृत्यु से भयभीत रहते हैं, वैसे ही धनी व्यक्ति सदा आयकर-अधिकारी, चोरों, सम्बन्धियों और प्राकृतिक विपत्तियों से भयभीत रहता है (म.भा. ३.०२.३६). धन को इकट्ठा करने, उसकी रक्षा और त्याग करने में बड़ी वेदना होती है. धन की प्यास कभी नहीं

बुझती; अतः संतोष ही परम सुख है। इसीलिए ज्ञानीजन संतोष को ही सबसे उत्तम समझते हैं (म. था. ३.२४६)। धन और भौतिक वस्तुओं से लोग कभी संतुष्ट नहीं होते (कठ. उ. १.२७)। सदा यह याद रखना चाहिए कि हम सब धन-सम्पत्ति के न्यासरक्षक (द्रस्टी) मात्र हैं, स्वामी नहीं।

यथा स्वप्नं भयं शोकं, विषादं मदम् एव च ।

न विमुच्यति दुर्मेधा, धृतिः सा पार्थं तामसी ॥३५॥

हे पार्थ, बुद्धिहीन मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और लापरवाही को नहीं छोड़ता, वह संकल्प तापसिक कहा जाता है। (१८.३५)

आनन्द के तीन प्रकार

सुखं त्वं इदानीं त्रिविधं, शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद् रमते यत्र, दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ, अब तुम तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुनो। मनुष्य को आध्यात्मिक साधना से प्राप्त सुख से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है। (१८.३६)

यत् तद् अग्रे विषम् इव, परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्, आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

ऐसे आत्मबुद्धिधरूपी प्रसाद से उत्पन्न सुख को जो आरम्भ में विष की तरह, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है सात्त्विक सुख कहते हैं। (१८.३७)

व्यक्ति के अमृत के सागर का सुख भोगनेवाले के लिए इन्द्रियों के सुखभोग व्यर्थ हैं, जो एक तालाब के जल के समान हैं (भा.पु. ६.१२.२२)। यदि आध्यात्मिक जल का कोई चिरस्थायी स्रोत नहीं है, तो भौतिक सुखों की सरिता वर्षक्त्रितु के बाद बहुत जल्दी सूख जाती है। आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति के लिए भौतिक पदार्थ तिनके के समान होता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्, यत् तद् अग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषम् इव, तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न सुख को जो भोग के समय तो अमृत के समान लगता है, परन्तु जिसका परिणाम विष की तरह होता है राजसिक सुख कहा गया है। (५.२२ भी देखें)

(१८.३८)

हमारे लिए दो मार्ग खुले हैं— हितकारी आध्यात्मिक मार्ग और ऐन्द्रिय सुखों का आनन्द मार्ग। बुद्धिमान् इनमें से पहला चुनते हैं, जबकि अज्ञानी दूसरा (कठ. उ. २.०२)। ऐन्द्रिय सुख-भोग इन्द्रियों की ऊर्जा का हनन करता है और अन्त में व्यक्ति रोगों का शिकार हो जाता है (कठ. उ. १.२६)। अमूल्य मानव-जीवन का उद्देश्य ऐन्द्रिय सुख नहीं है। स्वर्ग-सुख भी अस्थायी हैं और उसका अन्त भी दुःख में होता है। जिनकी आसक्ति ऐन्द्रिय सुखभोग में है, वे उन मूर्खों के समान हैं, जो व्यक्ति के अमृत के बदले में विष को चुनते हैं (त्र.रा. ७.४३.०९)। मायावश अज्ञानी लोग विषपान करते समय यह नहीं सोचते कि वे विष पी रहे हैं। केवल परिणाम के बाद ही व्यक्ति को यह ज्ञान होता है, पर तब बहुत देर हो चुकी होती है (वा.रा. ७.७५.१६)। इन्द्रियों की नैसर्गिक प्रवृत्ति ही आसानी से बात्य इन्द्रिय-सुख की ओर जाने की होती है, जैसे कि पानी सदा नीचे की ओर जाता है। सभी ऐन्द्रिय और भौतिक कामनाओं की पूर्ति के बाद खेद ही होता है। सांसारिक सुख मरुभूमि में हुई मृगमरीचिका की भाँति हैं। व्यासे व्यक्ति इसे जल समझते हैं, तब तक जब कि पीने के लिए इसके पास आते

हैं और (फिर) पाते हैं कि यह कुछ भी नहीं था। सांसारिक सुख अस्थायी और टिमटिमाता हुआ है, जबकि आध्यात्मिक जीवन से मिला सुख स्थायी और सतत है। श्री रामकृष्ण ने कहा है: कोई भी प्रभु के लिए तब तक तड़प-भरी गहन अनुभूति नहीं करता, जब तक कि समस्त सांसारिक सुखों की संतुष्टि न हो चुकी हो। मनु का मत है कि इन्द्रियों के अपने सुखभोग और उनकी व्यर्थता तथा हानिकारिता की खोज के बाद उनपर नियंत्रण कर पाना सुगम हो सकता है (म.स्म्. २.६६). हमारी अधिकतर इच्छाओं के तुष्टीकरण के बाद ही कामशून्यता आती है। व्यक्ति स्वस्थ और धनी होते हुए भी आध्यात्मिक सुख के बिना दुःखी हो सकता है। आध्यात्मिक रूप से प्रौढ़ व्यक्ति को सांसारिक सुखों का अभाव महसूस ही नहीं होता।

यद् अग्रे चानुबन्धे च, सुखं मोहनम् आत्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥३९॥

निद्रा, आलस्य और लापरवाही से उत्पन्न सुख को, जो भोगकाल में तथा परिणाम में भी मनुष्य को भ्रमित करनेवाला होता है, तामसिक सुख कहा गया है। (१८.३९)

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैरु मुक्तं, यद् एभि: स्यात् त्रिभिरु गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग के देवताओं में कोई भी प्राणी प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त होकर नहीं रह सकता है। (१८.४०)

पुरातन वैदिक व्यवस्था में प्रकृति के त्रिगुणों के आधार पर मानवीय क्रियाओं को चार सामाजिक वर्गों (वर्णों) में बांटा गया था। इन चार वर्णों (श्रेणियों) को गलती से प्रायः भारत तथा अन्य स्थानों पर वर्तमानकालिक जातिप्रथा, जो जन्म पर आधारित है, समझ लिया जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा बताये मानव-समाज के इन चार सार्वभौमिक सामाजिक वर्ग-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध व्यक्ति की प्रकृति (स्वभाव) और उसके गुण तथा कर्म से है, जन्म से नहीं। वे जो सात्त्विक गुण से नियंत्रित हैं तथा शान्तिप्रिय एवं संयमी हैं, ब्रह्माण कहे जाते हैं। वे जो राजसिक गुणों के वशीभूत हैं और शासन तथा सुरक्षा-सेवाओं को प्राथमिकता देते हैं, क्षत्रियों के नाम से जाने गए। जो राजसिक और अज्ञानी (तामसिक) भावों के मिश्रण के नियंत्रण में हैं तथा खेती और व्यापार में जिनकी रुचि हो, वे वैश्य कहलाएँ। जो अधिकांशतः अज्ञान के निम्नतम् (तामसिक) गुणों से पूर्ण थे, शूद्र कहे जाते हैं। उनकी प्रकृति तीन अन्य वर्गों की सेवा करने की थी।

व्यक्ति की योग्यता के अनुसार श्रम का विभाजन

ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परंतप ।

कर्माणि प्राविभक्तानि, स्वभावप्रभवैरु गुणैः ॥४१॥

हे अर्जुन, चार वर्णो—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में कर्म का विभाजन भी मनुष्यों के गुणों से उत्पन्न स्वभाव के अनुसार ही किया गया है। (४.१३ भी देखें।) (१८.४१)

वेदों ने मानवीय समाज की तुलना एक पुरुष से की है, जिसके चार अंग समाज के चार प्रकार के कर्म और कर्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वेदों का यह भी कथन है कि उनके शब्द समस्त मानवजाति के पढ़ने के लिए हैं (यजु.वे. २६.०२). गीता के अनुसार मानवों की केवल दो ही श्रेणियां (जाति) हैं—दैवी और आसुरी (गीता १६.०६).

शमो दमस् तपः शौचं, क्षान्तिर् आर्जवम् एव च ।

ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सत्यवादिता, ज्ञान, विवेक और आस्तिक भाव— ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। (१८.४२)

जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, कृता का अभाव, तपस्या और दया आदि सद्गुण हों, वही ब्राह्मण कहा गया है (म.भा. ३.१८०.२१). कोई भी ब्राह्मण कहला सकता है, यदि उसमें आत्मज्ञान का दैवी गुण हो (ऋ.वे. १०.१२५.०५, अथ.वे. ४.३०.०३). ब्राह्मणत्व एक उपलब्ध किया हुआ गुण, मानसिक अवस्था है; जाति या पन्थ नहीं। परमज्ञान के प्रबुद्ध ज्ञाता और ब्रह्म के निकटवर्ती प्राणी ही सच्चे ब्राह्मण हैं। सब लोग समान पैदा होते हैं और अपने कर्मों से ही उंचे या नीचे वर्ण के बन सकते हैं।

जब भी किसी समाज का एक भाग जाति-प्रजाति, धर्म, मत-मतान्तर, रंग, योनि या जन्मस्थान को व्यक्ति की योग्यता के ऊपर प्रमुखता देता है, तब उस समाज के पतन और कौशलहीनता के बीज बोता है और वे बीज उगने लगते हैं। भेदभाव का दानव कोई राष्ट्रीय सीमाएं नहीं जानता। भेदभाव दुर्भाग्य से विश्व-भर में किसी न किसी रूप में व्यवहार में लाया जाता है। यह मानवीय कमजोरी है और अपने को श्रेष्ठ समझने की हीन मनोग्रन्थि का परिणाम है। बुद्धिमान् व्यक्ति को हर प्रकार के पूर्वग्रह (**bias**) से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। सभी प्रश्न की सन्तान हैं और उसकी आँखों में बराबर हैं तथा उनके साथ बराबरी का व्यवहार होना चाहिए। समाज की प्रगति के लिए व्यक्ति का उसकी योग्यता के अनुसार मूल्यांकन किया जाना चाहिए न कि किसी और मापदण्ड के अनुसार।

शौर्यं तेजो धृतिर् दाक्ष्यं, युद्धे चाप्य् अपलायनम् ।

दानम् ईश्वरभावस्त्वं, क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, दृढ़ संकल्प, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और शासन करना— ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। (१८.४३)

एक क्षत्रिय का आदर्श समाज में दुरे काम करनेवालों का समझौताहीन और अनवरत विरोध की अपेक्षा करता है। क्षत्रिय का धर्म समाज में अधर्म और अन्याय के विरोध में युद्ध करने का है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं, वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गौपालन तथा व्यापार— ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्रका स्वाभाविक कर्म सेवा करना है। (१८.४४)

शूद्र वह है जो आध्यात्मिक ज्ञान से अनभिज्ञ है और अज्ञानवश अपने को भौतिक शरीर ही समझ बैठता है। भगवान् कृष्ण के अनुसार ये चार वर्ग या श्रेणियां जन्म के अनुसार नहीं हैं। शूद्र श्रेणी का व्यक्ति किसी भी परिवार में जन्म ले सकता है। व्यक्ति के पूर्व कर्मों के फल ही उसकी प्रकृति और स्वभाव के रूप में लैटते हैं।

लोग या तो गुण-विशेष के साथ जन्म लेते हैं या प्रशिक्षण और प्रयास से गुणों को विकसित करते हैं। जिस किसी में समाज के चारुर्वर्ण्य व्यवस्था योग्य अनिवार्य गुण नहीं हैं, वह जन्म या स्थिति के अनुसार समुचित रूप से कैसे वर्गीकृत किया जा सकता?

कर्तव्यं, साधना, और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति

स्वे स्वे कर्मण्य् अभिरतः, संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं, यथा विन्दति तच् छृणु ॥४५॥

मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म करते हुए परम सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे तुम मुझसे सुनो। (१८.४५)

यतः प्रवृत्तिर् भूतानां, येन सर्वम् इदं ततम् ।

स्वकर्मणा तम् अस्थर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिस परब्रह्म परमात्मा से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसका अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।
(९.२७, १२.१० भी देखें.) (१८.४६)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म, कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूपरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है, क्योंकि (निष्काम भाव से) अपना स्वाभाविक कार्य करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता। (३.३५ भी देखें.) (१८.४७)

सहजं कर्म कौन्तेय, सदोषम् अपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निर् इवावृताः ॥४८॥

हे अर्जुन, अपने दोषयुक्त सहज स्वाभाविक कर्म का भी त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे धुएं से अग्नि आवृत होती है, वैसे ही सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं।
(१८.४८)

संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें केवल सदगुण या अवगुण ही हों। सभी उद्यमों में भी अच्छाई और बुराई दोनों ही देखने में आती हैं (म.भा. १२.१५.५०). यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि तुम क्या करते हो, बल्कि यह कि तुम उस कर्म को किस प्रकार करते हो।

असक्तत्बादिधः सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां, संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

आसक्ति-रहित, इच्छा-रहित और जितेन्द्रिय मनुष्य संन्यास (अर्थात् सकाम कर्मों के परित्याग) के द्वारा (कर्म के बन्धन से मुक्त होकर) परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त करता है।
(१८.४९)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म, तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय, निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौन्तेय, नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त हुआ साधक किस प्रकार तत्त्वज्ञान की परानिष्ठा, परमपुरुष, को प्राप्त होता है, उसे भी मुझसे संक्षेप में सुनो। (१८.५०)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो, धृत्यात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन् विषयांस् त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी, यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं, वैराग्यं समुपात्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, मन के दृढ़ संकल्प द्वारा आत्मसंयम कर, शब्दादि विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष से रहित होकर, एकान्त में रहकर, हल्का, सात्त्विक और नियमित

भोजन करके, अपने वाणी, कर्मेन्द्रियों और मन को संयत कर, परमात्मा के ध्यान में सदैव लगा हुआ, दृढ़ वैराग्य को प्राप्त, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और स्वामित्व को त्यागकर, ममत्वभाव से रहित और शान्त मनुष्य परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बन जाता है। (१८.५१-५३)

जब ध्यान की मशाल कर्म, ज्ञान और भक्ति को तुरीय समाधि की अवस्था में एक कर देती है, तब बोधि की किरणें प्रभासित हो उठती हैं, दिव्य एकीकरण (मिलन) पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, अज्ञान का कोहरा हट जाता है और ऐन्ड्रिय इच्छाएं मन से तिरोहित हो जाती हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा, न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु, मद्वक्ति लभते पराम् ॥५४॥

उपरोक्त ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त, प्रसन्न चित्तवाला साधक न तो किसी के लिए शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाववाला साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है। (१८.५४)

भक्त्या माम् अभिजानाति, यावान् यश् चास्मि तत्त्वतः ।

ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

श्रद्धा और भक्ति (अर्थात् पराभक्ति) के द्वारा ही मैं तत्त्व से जाना जा सकता हूँ कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ: मुझे तत्त्व से जानने के पश्चात् तत्काल ही मनुष्य मुझमें प्रवेश कर (मत्स्वरूप बन) जाता है। (५.१९ भी देखें.) (१८.५५)

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रथु केवल पूर्ण निष्ठा और अविचल भक्ति द्वारा ही जाने जा सकते हैं (भा.पु. ११.१४.२१). उस निष्ठा और अविचल भक्ति को पाने के अनेक मार्ग हैं, केवल एक ही नहीं। ज्ञान और भक्ति वृक्ष और बीज की तरह वही और एक ही हैं। आध्यात्मिकता की समस्त प्रक्रिया केवल पुरुषार्थ-जनित प्रारब्ध (अर्थात् प्रभुकृपा) की ज्योति से ही शुरू होती है, किसी अन्य तरीके से नहीं।

मायाश्रम लोगों को प्रभु को जानने और प्रभुदर्शन से रोकता है। जैसे व्यक्ति समुद्र के जल में सतत विद्यमान नमक को आंखों से नहीं देख सकता, पर जीभ से स्वाद चख सकता है, वैसे ही ब्रह्म (आत्मा) को भी केवल विश्वास और भक्ति से ही जाना जा सकता है, तर्क और विवेचन मात्र से नहीं। प्रभुप्राप्ति न केवल ध्यान और आत्मज्ञान से सम्भव है, बल्कि भगवान् कृष्ण के प्रति भावप्रवण दिव्य व्यक्तिगत प्रेम और अगाध भक्ति से भी।

वही तुम्हें जानते हैं, जिनको तुमने जनवाया है और जिस क्षण भी कोई तुम्हें जान लेता है, वह तुम्हें विलीन होकर एक हो जाता है (त्रु.रा. २.१२६.०२). ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म-जैसा ही हो जाता है (बृह.उ. १०४.९०, मु.उ. ३.०२.०६).

सर्वकर्माण्य् अपि सदा, कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादाद् अवान्नोति, शाश्वतं पदम् अव्ययम् ॥५६॥

मेरा आश्रय लेनेवाला (कर्मयोगी भक्त) सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त करता है। (१८.५६)

चेतसा सर्वकर्माणि, मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगम् उपाश्रित्य, मन्त्वितः सततं भव ॥५७॥

समस्त कर्मों को श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक मुझे अर्पण कर, मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर
मुझपर ही भरोसा रख तथा निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही चित्त
लगा। (१८.५७)

जो भी वस्तु हम उपयोग में लाते हैं या भोजन करते हैं, उसे अपने उपयोग में लाने
से पहले प्रभु को अर्पित करना चाहिए, जो सब वस्तुओं का दाता है। इसमें सम्मिलित, पर
उन्हीं तक सीमित नहीं, वस्तुएँ हैं— भोजन, नए वस्त्र, नई कार, नया घर तथा नवजात शिशु।
प्रभु को सब वस्तुओं को अर्पित करना श्रेष्ठतम् पूजा है, जिसे व्यक्ति को सीखना और नित्य
आचरण में लाना चाहिए। स्वामी चिदानन्द सरस्वती (मुनिजी) के अनुसार इस श्लोक का
अर्थ यह है कि प्रभु के नाम को अन्तःकरण में और ओरों पर धारण करो और उसके काम को
अपने हाथों में (गीता ८.०७)।

कर्मयोग व्यक्ति को आवागमन के चक्र में फंसने से बचाता है और मुक्ति की ओर ले
जाता है। कर्मयोग की अनुशंसा उसके लिए भी की गई है, जिसका प्रारब्ध वश प्रभु में विश्वास
नहीं है, जिसको प्रभु के बारे में कोई ज्ञान नहीं है, जिसमें कोई आस्था और भक्तिभाव नहीं
है और जो किसी और आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि, मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।

अथ चेत् त्वम् अहंकारान्, न शोष्यसि विनदक्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाकर तुम मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नों को पार कर जाओगे और यदि तुम
अहंकारवश मेरे इस उपदेश को नहीं सुनोगे, तो तुम्हारा पतन होगा। (१८.५८)

कर्मबन्धन और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति

यद् अहंकारम् आश्रित्य, न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस् ते, प्रकृतिस् त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यदि अहंकारवश तुम ऐसा सोच रहे हो कि मैं यह युद्ध नहीं करूँगा, तो तुम्हारा ऐसा
सोचना मिथ्या है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हें बलात् युद्ध में लगा देगा। (१८.५९)

स्वभावजेन कौत्तेय, निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन् मोहात्, करिष्यस्य अवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे अर्जुन, तुम अपने स्वाभाविक कर्म (के संस्काररूपी बन्धनों) से बंधे हो, अतः मोहवश
जिस काम को तुम नहीं करना चाहते, उसे भी तुम विवश होकर करोगे। (१८.६०)

**मन प्रायः सही और गलत जानता है, किन्तु संस्कारों की शक्ति से अनिच्छापूर्वक वह
पापों की ओर भागता है। दूसरों में दोष निकालने से पहले व्यक्ति को यह ध्यान में रखना
चाहिए।**

प्रकृति के तीन गुणों से आक्रान्त अज्ञानियों की स्वतंत्र इच्छा की पूर्ति के लिए कृपालु
प्रभु व्यक्ति को आवांछनीय कर्मों में लिप्त होने के अनुकूल बातावरण पैदा कर देता है। हमारी
स्वतंत्र इच्छा पट्टे में बंधे कुत्ते की स्वतंत्रता के समान है। सुगमकर्ता की हैसियत से प्रभु
सबके साथ उनकी इच्छाओं के अनुसार प्रतिदान करता है और उनकी स्वतंत्र इच्छा से प्रसूत
कामनाओं को पूरा करने देता है। वह प्राणियों को उनकी इच्छा और पूर्व संचित अच्छे-बुरे
कर्मों के अनुसार उन्हें अच्छे-बुरे कर्मों में लगाने के लिए अपनी माया का प्रयोग करता है।

ईश्वरं सर्वभूतानां, हृदयोर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्मारुदानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन, ईश्वर (अर्थात् श्रीकृष्ण ही) सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर अपनी माया के द्वारा प्राणियों को यन्म पर आस्त करपुतली की तरह घुमाते रहता है। (१८.६१)

ईश्वर शरीर में आत्मा का प्रतिबिम्ब है। परमात्मा विश्व में सब चीजों को व्यवस्थित, नियंत्रित और संचालित करता है।

प्रभु ने कर्म-विधान सब प्राणियों के नियन्ता के रूप में बनाए हैं। इसलिए व्यक्ति को वह सब, जो भाग्य उसपर डालता है, प्रभु की शरण लेकर और उनके आदेशों का पालन करते हुए सहर्ष सहन करना सीखना चाहिए (तु.रा. २.२९८.०२). वेदों की धोषणा है कि कर्मों के माध्यम से प्रभु हमें वैसे ही नचाता है, जैसे मदारी बन्दर को (तु.रा. ४.६.१२). कर्म-विधान के विना शास्त्र-निर्देशों, निषेधों और आत्मप्रयासों का कोई मूल्य नहीं होगा। कर्म शाश्वत न्याय और शाश्वत अधिनियम है। शाश्वत न्याय की कार्यपद्धति के परिणामस्वरूप हमारे कर्मों के परिणामों से कोई बचाव नहीं हो सकता। हम अपने अतीत के विन्तन और कर्म की उपज हो जाते हैं। इसलिए शास्त्रों का मार्गदर्शक के रूप में उपयोग करते हुए हमें वर्तमान क्षण में बुद्धिपूर्वक विन्तन और कर्म करना चाहिए।

वह उन्हें जो अच्छे कर्म करते हैं और जिनमें आस्था है, पुरस्कृत करता है। उसके कर्मफल के विधान से कोई भी बचने में समर्थ नहीं। लोग अपने कर्म के परिणामों से नहीं बच सकते, क्योंकि जैसा तुम बोओगे, वैसा काटोगे। कारणों और परिणामों को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्य अर्थात् परिणाम कारण में विद्यमान है, जैसे फल बीज में विद्यमान रहता है। अच्छे और बुरे कर्म हमारी छायाओं की भाँति निरन्तर हमारा पीछा करते हैं।

यह विश्वास किया जाता है कि बाइबिल से कर्म और पुनर्जन्म के सारे सन्दर्भों को दूसरी शताब्दी में इस महान् उद्देश्य से निकाल दिया गया था कि व्यक्ति इसी जन्म में पूर्णता के लिए महा परिश्रम करे। जो लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, उन्हें आलस्य और प्रमाद से हटकर आध्यात्मिक साधना पर जोर देना चाहिए और इसी जन्म में आत्मज्ञान प्राप्त करने का पूरा प्रयास करना चाहिए जैसे कि पुनर्जन्म है ही नहीं। यह सोचकर जिओ कि यह दिन पृथकी पर तुम्हारा अन्तिम दिन है। आलस्य और प्रमाद से कोई कुछ भी नहीं पा सकता।

कोई भी इस जगत् से मृत्यु के बाद उस लोक में सम्पत्ति, यश, शाक्ति आदि अपने साथ नहीं ले जा सकता किन्तु व्यक्ति उनको अच्छे-बुरे कर्मों में बदलकर ले जा सकता है। मृत्यु भी व्यक्ति के कर्म को नहीं छू सकती। जिन्होंने पूर्वजन्म में अत्यन्त पवित्रता के साथ कर्म किया है, वे बिना किसी विशेष प्रयत्न के इस जन्म में यश पा लेते हैं।

तम् एव शरणं गच्छ, सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात् परां शान्तिं, स्थानं प्राप्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत, तुम पराभक्ति भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत परमधाम को प्राप्त करोगे। (१८.६२)

इति ते ज्ञानम् आख्यातं, गुह्याद् गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतद् अशेषेण, यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

मैंने गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान तुमसे कहा है। अब इसपर अच्छी तरह से विचार करने के बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। (१८.६३)

समर्पण, प्रभुप्राप्ति का परम मार्ग

सर्वगुह्यतमं भूयः, शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढम् इति, ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

मेरे इस समस्त गुह्यों में गुह्यतम परम उपदेश को तुम एक बार फिर सुनो. तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित की बात कहूँगा. (१८.६४)

मन्मना भव मद्भक्तो, मध्याजी मां नमस्कुरु ।

माम् एवैष्वसि सत्यं ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

तुम मुझमें अपना मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो. ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे. मैं तुम्हें यह सत्य वचन देता हूं, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो. (१८.६५)

सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सम्पूर्ण कर्मों में अहंकार का परित्याग कर तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ. शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बन्धनों) से मुक्त कर मोक्ष प्रदान करूँगा.
(१८.६६)

अहंकार से हम सरलता से नहीं छूट सकते. अहंकार को लड़कर नहीं जीता जा सकता जिस प्रकार अंधकार से नहीं लड़ा जा सकता. अहंकार हमारे जीवन में कदम-कदम पर व्याप्त रहता है. ज्ञान अर्थात् पराभवित ही एकमात्र साधन है जिससे अहंकार की दीवार-जो ईश्वर को जीव से अलग किये रखता है – को तोड़ा जा सकता है. जब यह मानसिक दीवार भंग हो जाती है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि “जीवात्मा ही ब्रह्म है” (अयम् आत्मा ब्रह्म, मा.उ. ०२ अथवेद में), जिस प्रकार घड़ा टूटने पर ही घटाकाश और महाकाश एक हो जाता है. संत ज्ञानेश्वर, ऐसा दृढ़ विश्वास को –कि जगत् में ब्रह्म के सिबा और कुछ भी नहीं है (गीता ७.०७, ७.१६) तथा जीव, जगत् और जगदीश अभिन्न हैं–ही समर्पण (शरणागति) मानते हैं।

सब धर्मों, अर्थात् कर्तव्य-कर्मों, का परित्याग कर प्रभु की शरण में जाने का अर्थ है कि जिज्ञासु को अपने धर्म का पालन प्रभु को समर्पण के रूप में अहंकार और आसक्ति के बिना करना चाहिए और सहायता तथा मार्गदर्शन के लिए पूर्णतः प्रभु पर निर्भर रहना चाहिए. जो पूर्णतः प्रभु पर निर्भर रहता है, उस व्यक्ति का सम्पूर्ण दायित्व प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं. यदि तम्हें कोई अच्छा समाधान मिल जाता है और तुम उसके प्रति आसक्त हो जाते हो, तो वह समाधान ही तुम्हारी समस्या बन जाएगा. शास्त्रों की उक्ति है— बुद्धिमान् व्यक्ति को अपने सारे जीवन पुण्य कार्यों में भी आसक्त न होकर अपने मन और बुद्धि को परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए (म.भा. १२.२६०.२१). व्यक्ति को साधना के फलों सहित सब वस्तुओं को प्रभु को अर्पित करते हुए वास्तविक आत्मसमर्पण की भावना का विकास करना चाहिए. अपने सब कर्मों को हमें दिव्य शक्ति से सन्नद्ध करना चाहिए. विश्व अधिनियमों अर्थात् प्रभु-इच्छा से नियंत्रित है. सम्पत्ति में प्रभु के प्रति कुतञ्ज होना चाहिए और विपत्ति में प्रभु-इच्छा को स्वीकार कर लेना चाहिए.

पावन और अपावन फलों से, जो व्यक्ति को इस भौतिक दुनिया से बांधते हैं, मुक्त होने के लिए अपना हर कर्म प्रभु को अर्पित करना आवश्यक है. जब कोई भक्त सच्चे मन से प्रभु के लिए कर्म करता है, तब ऐसे भक्त को वे अपनी बाह्य ऊर्जा (भाया) के संसर्ग से बचाते

हैं। यदि कोई स्वेच्छा से सब स्थितियों में परमप्रभु पर निर्भर करता है, तो उसके कर्मों के फल—पुण्य और पाप—अपने आप ही प्रभु को चले जाते हैं और व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है।

एक सच्चे भक्त का दृष्टिकोण होगा—हे प्रभु, मैंने तुम्हारा स्मरण किया, क्योंकि तुमने मुझे याद किया। जैसे ही किसी व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है और उसे पक्का विश्वास हो जाता है कि सभी कुछ प्रभु की इच्छा से होता है, यह प्रभु का संसार है, उसी की लीला है, हमारा नहीं, उसी का संग्राम है। जैसे ही व्यक्ति अपनेको प्रभु की लीला में अभिनेता मात्र समझता है तथा प्रभु को सृष्टि के रंगमंच पर आत्मा के ब्रह्माण्ड-नाटक का सूत्रधार समझता है, वैसे ही वह तुरन्त ही बन्धन का हर जुआ तोड़ देता है और इसी जन्म में जीवनमुक्त हो जाता है। व्यक्तिगत इच्छा को दैवी इच्छा को समर्पण कर देना सब साधनाओं की चरम परिणति है, जिसका परिणाम होता है जीवन के हर्ष और शोक के नाटक में सहर्ष भागी होना। इसीका नाम जीवनमुक्ति है या बौद्धधर्म में महायान। जब तक व्यक्ति कर्ता होने के भाव या स्वामित्वभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उसे प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। प्रभु की कृपा तभी उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह कर्ता नहीं है और तब वह तत्क्षण इसी जन्म में मुक्त हो जाता है। समर्पित व्यक्ति को उद्घासित होने के लिए प्रभु आत्मबोध के विज्ञान का ज्ञान देता है।

प्रभु को समर्पण करने का अर्थ संसार का त्याग नहीं है, वरन् इस बात को जान लेना है कि हर चीज प्रभु के विधान के अनुसार और उसके निर्देशन और शक्ति से होती है। इस बात का पूर्ण अभास हो जाना ही कि सब कुछ दैवी योजना के अधीन और नियंत्रित है, प्रभु को समर्पण करना है। समर्पण में व्यक्ति अपने श्रेष्ठतम प्रयत्नों का त्याग किए बिना दैवी योजना द्वारा अपने जीवन का संचालन होने देता है। समर्पण व्यक्तिगत अस्मिता अथवा अहम् का पूर्ण त्याग है। समर्पण इस प्रकार का भाव है— हे मेरे प्रिय प्रभु, कुछ भी मेरा नहीं है, सब कुछ—मेरा तन, मन, धन और आत्मा भी—तेरा ही है। मैं ईश्वर नहीं, ईश्वर का सेवक हूँ; आवागमन के सागर से मेरी रक्षा करो। मैंने शास्त्रों में दिए सब तरीकों से भौतिक संसार से निकलने का प्रयत्न किया, पर मैं असफल रहा। अब मैंने अंतिम प्रक्रिया—विनय और समर्पण से दैवी कृपा को खोजना—को खोज लिया है। प्रभु की खोज उसको ढूँढ़ने में उसीकी सहायता की प्रार्थना से की जा सकती है, मात्र साधना से नहीं। इस प्रकार व्यक्ति को अपनी आध्यात्मिक साधना की यात्रा द्वैतवादी के रूप में शुरू करनी चाहिए, अद्वैतवाद का अनुभव करना चाहिए और पुनः द्वैतवाद की ओर लौट आना चाहिए। सफल यात्रा की समाप्ति आरम्भ स्थान पर ही होती है।

समर्पण की प्रक्रिया को योग का पांचवा अथवा अंतिम (चरम परिणति का) मार्ग कहा जा सकता है, दूसरे चार मार्ग हैं—सेवा, ब्रह्मज्ञान, भक्ति और ध्यान। दयालु प्रभु प्राणियों के मन और इन्द्रियों को उनकी कर्मप्रसूत इच्छाओं के अनुसार निर्देशित करता है। किन्तु समर्पित भक्त के श्रेष्ठ हित के लिए प्रभु अपनी इच्छा से भक्त की इन्द्रियों को नियंत्रित करता है। स्वामी चिदानन्द सरस्वती (मुनिजी) ने इस प्रक्रिया का विश्लेषण सुन्दर ढंग से किया है। वे कहते हैं: हर वेदना, हर दर्द, हर असुविधा प्रभु का वरदान और कृपा बन जाती है, जब हम उसे प्रभु के हाथ में सौप देते हैं। यदि तुम अपने जीवन की बागडोर प्रभु के हाथों में सौप दोगे, तो तुम सदा के लिए सुखी और शान्त हो जाओगे। यह है चरम समर्पण का पाठ, जो मुनिजी देते हैं। साधना के बिना समर्पण तथा समर्पण के बिना साधना अधूरी रहती है।

यह दैवी कृपा या शक्ति ही है, जो आत्मप्रयास के रूप में आती है। प्रसाद और प्रयास तथा द्वैतवाद और अद्वैतवाद परमसत्य के सिक्के के दो फहल हैं और कुछ नहीं। प्रभु-कृपा

हमेशा उपलब्ध है, व्यक्ति को उसे लेने की जरूरत है। कृपा का वरदान पाना सुगम नहीं है। व्यक्ति को इसे सच्ची साधना और प्रयास से अर्जित करना पड़ता है। प्रभु-कृपा हमारे श्रेष्ठ कर्मों का क्रीम है, श्रेष्ठतम अंश है। कहा गया है कि आत्मप्रयास नितान्त अनिवार्य है, किन्तु परमात्मा को पाने के सोपान का अन्तिम डण्डा आत्मप्रयास नहीं, बल्कि समर्पण की भावना से प्रभुकृपा के लिए प्रार्थना करना है। साधना के बिना समर्पण तथा समर्पण के बिना साधना अद्युती रहती है। जब सब कुछ प्रभु को अर्पण कर दिया जाता है और जब व्यक्ति सचमुच यह समझ जाता है कि प्रभु ही गन्तव्य, पथ और पथिक तथा पथ की बाधाएँ भी हैं; तब गुण, अवगुण, पुण्य, पाप आदि शक्तिहीन और हानिशून्य हो जाते हैं, जैसे कि विषदन्त-विहीन नाग।

श्री शंकराचार्य के अनुसार यदि परब्रह्म के अतिरिक्त कोई पदार्थ विद्यमान दिखाई देता है, तो वह मृगमरीचिका की भाँति अवास्तविक है, जैसे कि रज्जु में सर्प का आभास। जब कोई पूर्णतः यह समझ जाता है कि संसार में परमात्मा और उसकी लीला (माया) को छोड़कर कुछ भी नहीं है, तब उसके सब कर्म समाप्त हो जाते हैं, व्यक्ति प्रभु की इच्छा के सामने समर्पण कर देता है और मुक्ति पा लेता है। श्री युक्तेश्वर जी का कहना है— मानव-जीवन शोक से ग्रस्त रहता है, जब तक हम प्रभु की इच्छा के सामने समर्पण करना नहीं सीख जाते, या इश्वरीय इच्छा, जो हमारी बुद्धि को चकरा देती है, के साथ एकात्म नहीं हो जाते। ब्रह्मज्ञानी शोक से ऊपर उठ जाता है।

परमात्मा की परम सेवा तथा सर्वोत्तम दान

इदं ते नातपस्काय, नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं, न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

(गीता के) इस गुद्यतम ज्ञान को तपरहित और भक्तिरहित व्यक्तियों को, अथवा जो इसे सुनना नहीं चाहते हों, अथवा जिन्हें मुझमें श्रद्धा न हो; उन लोगों से कभी नहीं कहना चाहिए। (१८.६७)

प्रमित व्यक्ति से ज्ञान की बात करना, लोभी से त्याग की महिमा का वर्णन करना, क्रोधी को संयम की सलाह देना और लम्पट व्यक्ति से भगवान श्रीराम के पराक्रमों का विवेचन करना उतना ही निर्थक है, जितना बंजर भूमि में बीज बोना (तु.रा. ५.५७.०१-०२)।

गीता का अध्ययन केवल आस्थावान् व्यक्तियों के लिए है। रामकृष्ण के अनुसार व्यक्ति प्रभु को उतना ही समझेगा, जितना प्रभु उसे समझाना चाहेगा। गुरु नानकदेव कहते हैं: हे प्रिय प्रभु, केवल वही, जिन्हें तुम दिव्यज्ञान देते हो, उसे पाते हैं।

ज्ञान के प्राप्तकर्ता में आध्यात्मिक प्रवृत्ति होनी चाहिए और उसे निष्ठापुर्वक इसकी खोज करनी चाहिए। बिना मांगे दिए गए ज्ञान से किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। वैसा करने से बचना चाहिए। इस दुनिया में हर चीज का एक समय होता है। हम दुनिया को नहीं बदल सकते, बस बदल सकते हैं कुछ निष्ठावान् प्राणियों का जीवन, जिनके लिए प्रभु की कृपा से बदलने का समय आ गया होता है।

य इमं परमं गुह्यं, मद्भक्तेष्व अभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा, माम् एवैष्यत्य् असंशयः ॥६८॥

न च तस्मान् मनुष्येषु, कश्चिन् मे प्रियकृतमः ।

भविता न च मे तस्माद्, अन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

जो व्यक्ति इस परम गुद्य ज्ञान का मेरे भक्तजनों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरी यह सर्वोत्तम पराभक्ति करके निस्सन्देह मुझे प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला कोई मनुष्य नहीं होगा; और न मेरा उससे ज्यादा प्रिय इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा। (१८.६८-६९)

अज्ञान ही सब पापों का जनक है। सभी नकारात्मक गुण—जैसे काम, क्रोध और लोभ आदि—अज्ञान की अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। ज्ञानदान श्रेष्ठतम दान है। ज्ञानदान का फल समूची पृथ्वी का दान देने के बराबर माना जाता है (म. भा. ७२. २०६. ९९३)। सर्वश्रेष्ठ भलाई द्वासरों को उनकी अपनी वास्तविक प्रकृति—जो शाश्वत सुख का स्रोत है—को ढूँढ़ने में सहायता करना है, न कि अस्थायी सुख के लिए भौतिक पदार्थ प्रदान कराना। सुख धन और इन्द्रियों की तुष्टि से नहीं मिलता, मिलता है किसी उदात्त उद्देश्य के प्रति निष्ठा रखने में (हेलेन केलर).

गीता जी की महिमा

अध्येष्यते च य इमं, धर्म्य संवादम् आवयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहम्, इष्टः स्याम् इति मे मतिः ॥७०॥

जो व्यक्ति हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा—यह मेरा वचन है। (१८.७०)

प्रभु और उसके शब्द एक ही हैं, वही हैं। गीता का अध्ययन श्रीकृष्ण की पूजा और भक्ति के समान है। आधुनिक समाज में जीवन बस काम है, अध्यात्म नहीं। स्वामी हरिहर जी कहते हैं: “गीता के केवल कुछ श्लोकों का दैनिक अध्ययन करने से मानसिक बैटरी में पुनः ऊर्जा पैदा होगी और आधुनिक समाज के उदासीन रुटीन जीवन को कुछ अर्थ मिलेगा。” गम्भीर अध्येताओं के लिए गीता के एक अध्याय के दैनिक अध्ययन, या इस पुस्तक के अन्त में दिए दुने हुए चालीस श्लोकों के अध्ययन की अनुशंसा की जाती है।

श्रद्धावान् अनस्युद्धच, शृण्याद् अपि यो नः ।

सोऽपि मुक्तः शुभांलं लोकान्, प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

तथा जो श्रद्धापूर्वक बिना आलोचना किए इसे सुनेगा, वह भी सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर पुण्यवान् लोगों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा। (१८.७१)

शास्त्रों में श्रीमद् भगवद्गीता की महिमा विस्तार से गाई गई है, उसका सारांश नीचे दिया गया है। गीता की इस महिमा के पाठ से हृदय में आस्था और भक्ति उपजेगी, जो गीता के अध्ययन के लाभों को पाने के लिए आवश्यक है।

मानव-जन्म का ध्येय मन और इन्द्रियों पर विजय पाना और अपनी नियति को पहुँचना है। इस उदात्त ध्येय की उपलब्धि में गीता का नियमित अध्ययन निश्चय ही सहायक है। जो गीता का अध्ययन नियमित रूप से करता है, वह सुख, शांति, समृद्धि पाता है और सांसारिक कर्तव्यों के पालन में लिप्त होते हुए भी कर्म के बंधन से मुक्ति पा लेता है। जो गीता का पाठ प्रतिदिन करता है, वह पाप से अपावन नहीं होता; वैसे ही जैसे कमलपत्र को जल पंकित नहीं करता है। गीता भगवान् कृष्ण का पुण्यतम धाम है। प्रभु की आध्यात्मिक क्षमता गीता के प्रत्येक पद में निहित है। मानवता के लाभ के लिए भगवान् ने स्वयं वेदों का सार रखनेवाले ब्रह्मज्ञान के परम विज्ञान को उच्चारित किया। यदि कोई गीता का अध्ययन गम्भीरता-पूर्वक करता है और इसके श्लोकों के अर्थों का मनन करता है तथा इसकी शिक्षाओं का अपने

दैनिक जीवन में अनुसरण करता है, तो उसे अन्य किसी धर्मग्रन्थ का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं होती।

कच्चिद् एतच् छ्रुतं पार्थ, त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिद् अज्ञानसंमोहः, प्रनष्ठस् ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्रचिन्त होकर इसे सुना? और हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञानजनित भ्रम पूर्ण रूप से नष्ट हुआ? (१८.७२)

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा, त्वत्प्रसादान् मयाऽच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः, करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले— हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा अज्ञान-जनित मोह दूर हो गया है और मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अब मैं संशय-रहित हो गया हूं और मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। (१८.७३)

जब प्रभु की कृपा से कोई प्रभु को पा लेता है, तब अज्ञान की गांठें ढीली हो जाती हैं, सब संदेहों और श्रमों का निराकरण हो जाता है और सब कर्म शून्य हो जाते हैं (मु.उ. २.०२.०८)। सच्चा ब्रह्मज्ञान प्रभुकृपा से ही प्राप्त होता है।

संजय उवाच

इत्य् अहं वासुदेवस्य, पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादम् इमम् अश्रौषम्, अद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय बोले— इस प्रकार मैंने भगवान श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमांचकारी संवाद सुना। (१८.७४)

व्यासप्रसादाच् छ्रुतवान्, एतद् गुह्यम् अहं परम् ।

योगं योगेश्वरात् कृष्णात्, साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यासजी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने इस परम गुह्य ज्ञान को (अर्जुन से कहते हुए) साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान से सुना है।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य, संवादम् इमम् अद्भुतम् ।

केशवार्जनयोः पुण्यं, हृष्यामि च मुहूर् मुहूः ॥७६॥

हे राजन्, भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र (अर्थात् कल्याणकारी) और अद्भुत संवाद को बार-बार स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूं। (१८.७६)

तच् च संस्मृत्य संस्मृत्य, रूपम् अत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन्, हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्, श्रीहरि के अत्यन्त अद्भुत रूप को भी बार-बार स्मरण करके मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूं। (१८.७७)

संतुलित जीवन के लिए आत्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता

यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर् विजयो भूतिर्, श्रुत्वा नीतिर् मतिर् मम ॥७८॥

जहां भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्मरक्षा एवं कर्मसूपी) शास्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे, वहीं श्री, विजय, विभूति और नीति आदि सदा विराजमान् रहेंगी। ऐसा मेरा अटल विश्वास है। (१८.७८)

यतो धर्मस्तः कृष्णो, यतः कृष्णस्ततो जयः अर्थात् जहां धर्म है, वहीं श्रीकृष्ण हैं; जहां श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है (भ. भा. ६.४३.६०)। परिवार में शाश्वत शान्ति और समृद्धिये पूर्ण ब्रह्मज्ञान के साथ अपने कर्तव्य-पालन से ही सम्भव है। किसी राष्ट्र की शान्ति और समृद्धिये शास्त्रों के ज्ञान और देश की रक्षा के लिए शस्त्र के ज्ञान और उपयोग तथा विज्ञान और तकनीकी ज्ञान दोनों में निष्पात होने पर निर्भर करती है। कहा गया है कि आध्यात्मिकता के बिना विज्ञान और तकनीकी ज्ञान अन्धे हैं और तकनीकी ज्ञान के बिना आध्यात्मिकता लंगड़ी है।

इस प्रकार मोक्षसंन्यासयोग नामक
अठारहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

उपसंहार

भगवान् श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश

विश्व में धर्म-संस्थापना के दुर्घट कार्य को सम्पन्न करने के बाद इस भूलोक कर्मक्षेत्र से प्रस्थान करने की पूर्वसंध्या पर भगवान् कृष्ण ने अपने परमप्रिय भक्त और अनुगामी बन्धु उद्धव को अपना अन्तिम संदेश दिया। एक हजार श्लोकों से भी अधिक लम्बे “उद्धव गीता” के उपदेश के उपरान्त उद्धवजी ने कहा— हे प्रभो, मेरे विचार में अधिकतर लोगों के लिए उस योग का पालन निश्चय ही बहुत कठिन है, जिसका वर्णन आपने पहले अर्जुन के और अब मेरे समक्ष प्रस्तुत किया है, क्योंकि उसके लिए बेलगाम इन्द्रियों पर नियंत्रण पाना अत्यन्त आवश्यक है। कृपया मुझे प्रभुप्राप्ति का सरल और सक्षिप्त मार्ग बताएं। उद्धवजी की प्रार्थना पर भगवान् कृष्ण ने आधुनिक युग के लिए आत्मबोध के जिन अनिवार्य तत्त्वों का वर्णन किया, वे निम्नलिखित हैं—

(१) बिना स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के मेरे (प्रभु के) लिए अपनी क्षमता के अनुरूप अपने कर्तव्य का पालन करो। किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले, कार्य सम्पन्न होने के बाद और निष्क्रिय होते समय भी सदा मेरा स्मरण करो। (२) मनसा-वाचा-कर्मणा सब जीवों में मेरा ही दर्शन करने का अभ्यास करो और मन से सब के समुख झुककर प्रणाम करो। (३) अपनी प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करो और मन, इन्द्रियों तथा श्वासों और भावों की क्रियाओं के माध्यम से प्रतिक्षण अपने भीतर भगवान् की शक्ति को देखो, जो तुम्हें मात्र माध्यम के रूप में प्रयोग कर सतत सब कार्य कर रही है।

योगी मुमताज़ अली कहते हैं— जो व्यक्ति अपने को पूर्णतः प्रकृति माँ का लीलाक्षेत्र और माध्यम मात्र जानता है, वह सत्य का ज्ञाता है। विश्व और मानव-मन के वास्तविक तत्त्वबोध से सब इच्छाओं का शमन ही आत्मबोध है। हरिहरानन्द गिरि कहते हैं: प्रभु सबमें है और सर्वोपरि है। अतः यदि तुम्हें प्रभु को पाना है, तो तुम्हें उसकी खोज हर अणु में, हर पदार्थ में, हर शारीरिक क्रिया में और हर मानव में समर्पण की भावना से करनी चाहिए।

मुनि जी कहते हैं— हमें भगवान का माली होना चाहिए. ध्यान से उपवन की देखभाल करते हुए कभी भी हमें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए कि क्या पुष्पित पल्लवित होगा, क्या फल देगा और क्या सूख जाएगा, मर जाएगा. किसी वस्तु की अपेक्षा कुण्ठा की जननी है और स्वीकृति शान्ति देती है. भगवान कृष्ण ने अन्य शास्त्रग्रन्थों में भी प्रभुप्राप्ति के तात्त्विक ज्ञान का सारांश इस प्रकार दिया है—

परमप्रभु कृष्ण ने कहा— जो मुझ परमपुरुष को जानना चाहता है, उसे केवल यह समझना चाहिए कि मैं सृष्टि के पहले भी विद्यमान था, मैं सृष्टि में विद्यमान हूँ और प्रलय के बाद भी हूँगा. शेष अस्तित्व मेरी माया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है. मैं सृष्टि में विद्यमान हूँ और सृष्टि के बाहर भी. मैं सर्वव्यापी परमप्रभु हूँ, जो सर्वत्र, सब वस्तुओं में और सब कालों में विद्यमान है.

डॉक्टर वेदप्रकाश ‘वटुक’ द्वारा रचित
गीता के इलोकों का पद्य अनुवाद
(दोहा, चौपाई, तथा छन्द में)

Download this file:

<https://gita-society.com/krishnayanA4.Copypg3b.pdf>
नोट— दोहा तथा छन्द को मोटे अक्षरों में छापा गया है

ॐ श्री गणेशाय नमः ॐ

वसुदेवसुतं देवं, कंसचाणूर्मदनम् ।
देवकीपरमानन्दं, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
मूकं करोति वाचालं, पद्मुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम् ॥२॥

प्रथम अध्याय
अर्जुनविषादयोग
धृतराष्ट्र बोले—

दोहा— धर्मथूमि कुरुक्षेत्र में, जुटे युद्ध को आन।
कौरव-पाण्डव-कर्म का, संजय करो बयान ॥१.०१॥

संजय बोले—

देख पाण्डवों की सेना को, व्यूहमयी सुन्दर रचना को ।
द्वोण-पास दुर्योधन आये; राजा ने ये वचन सुनाये ॥
हे आचार्य, पाण्डु-पुत्रों की; सेना आप देखिये महती ।
दुपद-पुत्र की व्यूह-रचना को; बुद्धिमान तब शिष्य महा जो ॥
युद्धवीर भीम-अर्जुन जैसे; महा धनुर्धारी बहु वैसे।
सात्यकि शूर विराट वहां हैं; महारथी श्री दुपद जहां हैं ॥

धृष्टकृत चेकितान सुभट वर; काशिराज बलवान महनर ।
पुरुजित कुन्तिभोज नरयुंगव। शैव्य समान शौर्य के गौरव ॥
युधामन्यु अति विक्रमशाली; उत्तमौजा है अति बलशाली ।

पुत्र सुभद्रा द्रौपदी-सुत वर; योद्धा एक-एक से बढ़कर ॥
सेना नायक-मध्य निज, जो विशिष्ट सो जान ।

द्विज-उत्तम, मैं कर रहा, अब तब हेतु बखान ॥१.०७॥
आप, भीम, कृप समर-विजेता; कर्ण, विकर्ण, वीरवर चेता ।
अश्वत्थामा वीर धुरस्न्धर, सोमदत्त के पुत्र सुभट वर ॥

शूर वीर अति और बहुत से; अस्त्र-शस्त्र हैं नाना जिनके।
युद्ध-विशारद सब ही गुरुवर; मम-हित प्राण-त्याग को तत्पर ॥

भीष्म-सुरक्षित निज सेना-दल; है अविजेय असीमित जन-बल ।
भीम-सुरक्षित उनकी सेना; सीमित, सुगम विजय कर लेना ॥

सभी मोर्चों पर व्यूह ढाले; अपना-अपना भाग संभाले ।
प्रभु हों आप सभी ही सुस्थित; भीष्म पितामह को कर रक्षित
भीष्म पितामह कुरुकुल-गौरव; सिंहनाद सम कर स्वर रौरव ।
फूंका शंख, किया नभ गुंजित; दुर्योधन-मन को कर हर्षित ॥

नृसिंह मृदंग औ ढोल सब, शंख नगारे और ।

एक साथ गूंजे सहस्र, हुआ शब्द घनघोर ॥१.१३॥

श्वेत अश्वयुत रथ में उत्तम; सुस्थित अर्जुन हरि देवोपम ।
शंख अलौकिक निज तदनन्तर; बजा उठे नभ-धरा गुंजा कर ॥

पांचजन्य हृषीकेश-निनादित; देवदत्त अर्जुन से गुंजित ।

भीमकर्ममय भीम बृकोदर; महाशंख पौण्ड्र गूंजा स्वर ॥

धर्मराज कौन्तेय सुराजा; उनका अनन्त विजय बाजा ।

हुआ सुधोष औ नकुल-निनादित; मणिपुस्पक सहदेव-सुगुंजित ॥

काशिराज शुचितम धनुधारी; और शिखण्डी अति बलधारी ।

धृष्टध्युम औ विराट बीरा; सात्यकि औ अजेय रणधीरा ॥

द्रुपद, द्रौपदी-पंच-तनयजन; महाबाहु सौभद्र, हे राजन !

इन सब ने अति मन हर्षाये; अलग-अलग निज शंख गुंजाये ॥

गूंज उठा सब नभ-धरा, नाद भयंकर घोर ।

कौरव-दल के हृदय सब, कर विदीर्ण चहुं ओर ॥१.१९॥

देख कौरवों को, हे राजन; पूर्ण व्यवस्थित कपिध्वज अर्जुन।

शर-संधान-प्रवृत्त उठा धनु; बोला, हृषीकेश को, हे प्रभु।

दोनों सेनाओं के, हे अच्युत; करें मध्य में रथ को सुस्थित ॥

भली भाँति मैं देख लूँ, युद्धेच्छुक सब लोग ।

इनमें से रणकर्म में, कौन हमारे जोग ॥२.२२॥

रण में दुर्योधन-हितकामी; जुटे यहां जो अति बलधामी ।

युद्धातुर मैं सब उन उन को; भली भाँति देखूँ जन जन को ॥

सुन कर अर्जुन की यह वाणी; भारत, हृषीकेश कल्पाणी ।

उत्तम रथ उस थल ले आये; दोनों सेना-मध्य जमाये ॥

राजा सब एकत्र मही के; भीष्म-द्रोण सम्मुख सब ही के ।

बोले बचन, पार्व, कर दर्शन; जो एकत्र यहां कौरव जन ॥

देखा तब था पार्थ ने, दोनों सेना मध्य ।

खड़े पितामह, पितृजन, मामा, भ्रातृ अबध्य ॥२.२६॥

पुत्र-पौत्र, आचार्य-जन, श्वसुर, सुहृदजन मित्र ।

सभी अवस्थित बान्धवों, के पाण्डाणी चित्र ॥२.२७॥

शोकमग्न होकर अति अर्जुन; बोला करुण बचन, मधुसूदन।

देख स्वजन सब यहां उपस्थित; युद्धेच्छा को, हरि, एकनित ॥

अंग अंग मम शिथिल हुआ है; सुख रहा मुख और महा है।
 है शरीर में कम्पन भारी; उठे रोंगटे, कृष्ण मुरारी ॥

हाथों से गांडीव फिसलता; त्वचा जल रही, अति तन जलता ।
 प्रभित हो रहा मम मन निर्बल; खड़ा रहन में भी मैं असफल ॥

शकुन अशुभ सब ही परिलक्षित, है कल्याण न दिखता किंचित ।
 समर-मध्य कर कुलजन-हत्या; है केशव, हम पायेंगे क्या? ॥

नहीं कामना, कृष्ण, मिले जय; या, गोविन्द, राज्य सुख अक्षय।
 हमें राज्य से कौन प्रयोजन, भोगों से या ले यह जीवन? ॥

राज्य, भोग, सुख जिन हित सारे; हम चाहत हैं शाम सकारे ।
 वे सब त्याग प्राण-धन-आशा; खड़े समर की ले अभिलाषा ॥

गुरुजन पौत्र पितृजन सारे; श्वसुर पितामह बन्धु हमारे ।
 मामा, पुत्र, स्वजन सब साले; सभी यहां हैं युद्ध-इच्छा ले ॥

यदि इनके वध से मधुयूदन, राज तीन लोकों का अर्जन –
 हो, तो भी न कभी हो इच्छा; इनके वध की, पृथ्वी तो क्या ॥

कौरव-वध से, कृष्ण, है, कौन हर्ष क्या सिद्धि ।

आतातायी जन मारकर, पाप मात्र उपलब्धि ॥१.३६॥

यूं माधव निज बन्धु-स्वजन का; वध करना इन कौरव-जन का ।
 शोभा हमें नहीं कुछ देगा, स्वजन मार सुख कौन मिलेगा ॥

यद्यपि लोभ-भ्रष्ट मन इनके; कुल-क्षय-जन्य-दोष-दर्शन के ।
 हैं अयोग, कुछ देख न पाते; पाप मित्र-द्वाह नहीं ज्ञाते ॥

पर, जनार्दन, हम जग त्राता; कुल-क्षय-जन्य-दोष के ज्ञाता ।
 प्रभु, क्या हमें न है श्रेयस्कर; रहें पाप ऐसे से बच कर ॥

कुल हैं नष्ट पूर्ण जब होते; सब कुल-धर्म सनातन खोते ।
 धर्म-नाश से सब कुल को फिर; पाप-अधर्म दबा लेते चिर ॥

पाप-बृद्धि से होत हैं, द्वषित अति कुलनार

वर्णसंकरों से भरे, कुलटाये घर बार ॥१.४१॥

संकर से कुलघाती सब कुल; पाते हैं बस घोर रसातल ।
 तर्पण-पिण्ड-विहीन विचारे; पतित पितर इनके हों सारे ॥

वर्णसंकरों के प्रजनन से; पाप-दोष कुलघाती जन के ।
 सभी जाति-कुल-धर्म मिटाते; नियम सनातन सब मिट जाते ॥

नर जो यूं कुल-धर्म-पतित है; है जनार्दन, यह जनश्रुत है ।
 वे चिरकाल नरक के वासी; पाते हैं अति कष्ट विनाशी ॥

हाय, लोभ-वश राज्य-सुखों के; प्राणघात को हम अपनाएं के ।
 बुद्धिमान होकर भी संयत; महापाप करने को उद्धत ॥

अप्रतिकार निरस्त्र, सुनीरव; मुझे अगर मारें भी कौरव ।
 वे सशस्त्र, दुख हो नहीं किंचित; उसमें मम कल्याण सुनिश्चित ॥

संजय बोले –

ऐसा कह रणक्षेत्र में, धनुष-बाण कर त्यक्त ।
पीछे रथ में पार्थ था, बैठा, हो संतप्त ॥१.४७॥

इति प्रथमोऽध्यायः

दूसरा अध्याय
सांख्ययोग

संजय बोले –

यूं करुणायुत अश्रुमय, विकल नयन, अति म्लान ।
अर्जुन से बोले वचन, मधुसूदन भगवान ॥२.०१॥

श्रीभगवान बोले –

विषम काल में तुझको अर्जुन; यह अज्ञान हुआ किस कारन?
श्रेष्ठ पुरुष आचरण न है यह; स्वर्ग न यश का दायक है यह ॥
तुझे नपुंसक भाव न घेरे; अनुपयुक्त अर्जुन यह तेरे ।
क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को; त्याग परंतप, तुरत खड़ा हो ॥

अर्जुन बोले –

भीष्म-द्रोण से, हरि, मैं क्योंकर; युद्ध करूँगा रण में ले शर ।
पूज्य हमारे, हे मधुसूदन; दोनों ही तो हैं अरिसूदन ॥

चन्द्र – इन महानुभाव गुरुजनों को मारने से है भला,

यदि मांग भिक्षा जगत में हो पेट यह मेरा पला ।
मैं मार गुरुजन लोक में जो भोग भोगूँ सब कहीं,
क्या अर्थ-काम-पदार्थ होंगे वे रुधिर-इबे नहीं ॥

क्या धर्म हम को श्रेष्ठ है, हम जानते यह भी नहीं,
होगी विजय उनकी या अपनी, है न निश्चित कुछ कहीं ।

हम मार कर जिनको तनिक भी चाहते जीना नहीं,
समुख हमारे हैं खड़े धृतराष्ट्र के वे पुत्र ही ॥२.०६॥

हूं धर्म भ्रष्ट, स्वभाव अपहृत, भीस्ता के पाप से,
हैं श्रेय निश्चित क्या मुझे, प्रभु पृथुता हूं आप से ।

मैं शिष्य हूं प्रभु आपका उपदेश मुझको कीजिये,
मुझ शरण में आये हुए को आप शिक्षा दीजिये ॥२.०७॥

निर्बाध हो साप्राज्य भु का ऋद्धि सिद्धि हरा भरा,

अधिपति बनूं या स्वर्ग का, पा देवताओं की धरा ।

तब भी न कुछ मैं देखता, जो दूर शंका कर सके,

जो शुष्क करता इन्द्रियों को शोक मेरा हर सके ॥२.०८॥

संजय बोले –

यह कह कर हृषीकेश से, राजन; फिर बोला यूं प्रभु से अर्जुन।
 'युद्ध न करना मुझे भयंकर'; मौन हुआ अर्जुन यह कह कर ॥
 सेनाओं के मध्य अवस्थित, हुआ मोहवश जो अति विस्मित ।
 हृषीकेश उस शोक भरे से; भारत, यूं बोले हँसते से ॥२.१०॥

श्रीभगवान बोले —

अशोक जन का शोक करे तू, वचन पंडितों बोले तू ।
 शोक न करते ज्ञानी पंडित; नहीं मृत, या जीवित के हित ॥
 मैं, तू, राजा लोग सभी थे; किसी काल में नहीं कभी थे ।
 ऐसा नहीं, न सच यह होगा; कोई न हम में से फिर होगा ॥२.१२॥
 बाल-युवा-वृद्धावस्था ज्यों; देही इस तन में पाता त्यों ।
 मरने पर नव देह वरे है; धीर भ्रमित हो यूं न ढरे है ॥२.१३॥
 शीत-घाम सुख-दुख के अंकुर — इन्द्रिय-योग भोग क्षण भंगुर ।
 भारत, ये अनित्य हैं नश्वर; अर्जुन इनको, धीर सहन कर ॥२.१४॥
 जो समान समझे सुख-दुख को; पुरुष-श्रेष्ठ, उस धीर मनुज को ।
 इन्द्रिय-विषय न करते व्याकुल; मोक्ष-प्राप्ति के वह ही काबिल ॥
 जो है नहीं, नहीं वह होता; जो है, वह अस्तित्व न खोता ।
 तथ्य-सत्य दोनों का बुधजन; यूं अनुभव करते हैं दर्शन ॥२.१६॥
 सभी जगत में व्याप्त जो, ज्ञान उसी का इष्ट ।

उस अविनाशी को भला, कौन कर सके नष्ट ॥२.१७॥
 जीवात्मा असीम अविनाशी; नित्य, देह जिसकी सब नाशी ।
 निस्संकोच अतः तू भारत; उठकर युद्ध-मध्य हो जा रत ॥२.१८॥
 आत्मा का हत्यारा निज को; समझे, या माने मृत इस को ।
 दोनों ही न जानते हैं यह; मरता है न मारता है वह ॥२.१९॥
 छन्द— जनमती न मरती यह आत्मा कहीं है,
 यह होकर के फिर, फिर भी होती नहीं है ।
 अजन्मी है यह नित्य शाश्वत पुरातन,
 नहीं नष्ट होती जब होता मृतक तन ॥२.२०॥

अर्जुन जो आत्मा को जाने; अजर, अमर, नित, अज यह माने ।
 कैसे वह किसको मरवाता; किसका घात पुरुष कर पाता ॥२.२१॥
 जीर्ण-शीर्ण कर त्याग वसन को; धारण करता नर नृतन को।
 जीवात्मा तज यूं क्षत तन को; पाता है शरीर नृतन वो ॥२.२२॥
 शस्त्र काटता नहीं इसे है; अग्नि जलाती नहीं जिसे है ।
 जल इसको है नहीं गलाता; पवन कभी नहीं इसे सुखाता ॥२.२३॥
 छिदने, गलने, जलने वाली; नहीं शुष्क औ होने वाली ।
 यह आत्मा दृढ़, अचल, सनातन; सर्व व्यापी है नित्य चिरन्तर ॥
 यह अचिन्त्य, अव्यक्त, अविकारी; आत्मा, यह कहते सुविचारी ।
 जान इसे तू, अर्जुन, वैसा; शोक न कर इसके हित ऐसा ॥२.२५॥
 सदा जनमती, मरती है वह; महाबाहो, यदि तव मति है यह ।

तो भी शोक-योग्य हे अर्जुन; आत्मा कभी नहीं है किंचन ॥२.२६॥

जन्म हुआ तो मरना ही है; मृत को पुनः जनमना ही है ।

अटल बात यह सोलह आने; शोक-योग्य आत्मा मत माने ॥२.२७॥

जनम-पूर्व सब जीव विदेही; मरने पर भी फिर वैसे ही ।

लोगों बीच में वे तनधारी; अर्जुन, फिर चिन्ता क्या भारी ॥२.२८॥

देखें कुछ आश्चर्यवत्, वैसे कहते अन्य ।

सुनते कुछ आश्चर्यवत्, सुनें न जानें अन्य ॥२.२९॥

भारत, सब जीवों के तन में; नित्य अवध्य रहे जन-जन में ।

इसीलिये सब जीवों के हित; शोक तुझे करना है अनुचित ॥२.३०॥

यदि स्वधर्म को भी देखे तू; योग्य नहीं, भयभीत बने तू ।

धर्मयुद्ध से बढ़ श्रेयस्कर; कर्म नहीं क्षत्रिय को हितकर ॥२.३१॥

स्वर्ग रूप यह द्वारा स्वयं ही; खुला पार्थ, जो प्राप्त है यूं ही ।

इस प्रकार का युद्ध कभी ही; पाते भाग्यवान् छत्री ही ॥२.३२॥

धर्मयुद्ध अब यदि न करे तू; मन में अपने व्यर्थ डरे तू ।

खो स्वधर्म निज कीरति सारी; अर्जुन, होगा पापाचारी ॥२.३३॥

चिर कालिक अपर्कीर्ति तुफ्हारी; कथन करेंगे सब नर-नारी ।

सम्पानित पुरुषों को दुखकर; अपयश है मरने से बढ़कर ॥२.३४॥

भय से महारथी महाभागा; मानेंगे, तू रण से भागा ।

माननीय जिनको है अब तू; क्षुद्र उन्हीं को होगा तब तू ॥२.३५॥

तेरा अहित चाहने वाले; बोले वचन न कहने वाले ।

तेरी क्षमता की निन्दा कर; क्या दुख होगा उस से बढ़ कर ॥२.३६॥

जीते तो भृ-राज्य है, मरे अगर सुरलोक ।

उठो, खड़े हो, युद्ध का निश्चय कर बिन शोक ॥२.३७॥

हानि-लाभ जय-विजय को, सुख-दुख को सम माप ।

तत्पर हो तू युद्ध को, नहीं ल्योगा पाप ॥२.३८॥

सांख्यज्ञान तव हंतु बखाना; सुनो योग अब, पार्थ महाना ।

पाकर जिसे प्रबुद्ध बनेगा; कर्म-बन्धनों से छूटेगा ॥२.३९॥

कर्म-मूल का नाश न इस में; फल-बाधा-आभाश न इस में ।

थोड़ा भी इस धर्म का पालन; है महान भय-मुक्ति-विमोचन ॥२.४०॥

निश्चयात्मक इस पथ में सुन; बुद्धि एक ही है, हे अर्जुन ।

बहु बुद्धियां अविवेक भरों की; होती हैं अनन्त भेदों की ॥२.४१॥

वेदवादी, कामेच्छुक अर्जुन; है कुछ और न जिनका प्रवचन;

स्वर्ग मानते श्रेष्ठ परमतम; अविवेकी वे घोर मृदृतम ॥२.४२॥

जन्म-कर्म-फल की जो दायक; अनन्त क्रिया-विस्तार-प्रसारक ।

भोग-विलास-प्राप्ति-हित प्राणी; लच्छेदार बोलते वाणी ॥२.४३॥

स्मिन्ध वाणी अपहृत चित जिनका; भोग-विलास राग है मन का ।

समाधिस्थ जो कहीं नहीं है; निश्चयात्मक बुद्धि नहीं है ॥२.४४॥

त्रिगुण-विषयक हैं वेद सब, गुणातीत हो व्यक्त ।

द्वन्द्योग तज क्षेम नित, आत्मवान सत्त्वस्थ ॥२.४५॥

सब दिशि से परिपूर्ण जलाशय; पाकर, कौन कूप से आशय ।

ब्रह्मज्ञान पा कर विद्वज्जन; रखें वेद से कौन प्रयोजन ॥२.४६॥

तव अधिकार मात्र कर्मां में; कभी नहीं कुछ किन्तु फलों में ।

कर्म-सुफल-आसक्ति न हो तव; औ अकर्म-अनुरक्ति न हो तव ॥

हे धनंजय, मोह को तज कर; सिद्धि-असिद्धि मध्य सम हो कर।

हो योग-स्थित कर्मां को कर; योग समत्वभाव, कहते नर ॥२.४८॥

बुद्धियोग से कर्म धनंजय, है अति तुच्छ, हीन है अतिशय ।

अतः बुद्धि की शरण ग्रहण कर; है अति दीन फलाकांक्षी नर ॥२.४९॥

बुद्धियुक्त जन सब करे, पाप-पुण्य का त्याग ।

कर्म कुशलता है यही, योग-युक्त बन, जाग ॥२.५०॥

कर्मात्पत्र सभी फल तज कर; कर्मयोगी ज्ञानी जन मुनिवर ।

मुक्त जन्म-बन्धन से होकर; पाते अमृत-पद श्रेयस्कर ॥२.५१॥

जब तव बुद्धि मोह दलदल से; तर जायेगी पाप सलिल से ।

है श्रवणीय या कि श्रुत है जो; तब वैराग्य मिले तुझको वो ॥२.५२॥

बहुश्रुत भ्रमित बुद्धि तब चंचल, समाधिस्थ जब होगी निश्चल ।

और अचल, अर्जुन, उस क्षण ही; योग समत्व मिले निश्चित ही ॥

अर्जुन बोले –

समाधिस्थ दृढ़ प्रज्ञ सुजन का; केशव, क्या लक्षण दृढ़ मन का ।

सुस्थिर बुद्धि बोलता कैसे; और बैठता, चलता कैसे? ॥२.५४॥

श्रीभगवान बोले –

जब मन-बसी कामनाये सब; पार्थ, त्याग देता है नर तब ।

तुष्ट स्वयं में स्वयं से होकर; सुस्थित-प्रज्ञ कहाता है नर ॥२.५५॥

दुख में मन में दाह नहीं है; सुख में कोई चाह नहीं है ।

राग-द्वेष, भय-क्रोध न जिसको; सुस्थित-बुद्धि कहें मुनि उसको ॥

मोह-हीन सर्वत्र सदा नर; यह वह शुभ अशुभ प्राप्त कर।

नहीं जिसको सुख द्वेष न किंचित; उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित निश्चित ॥

कदुआ ज्यों अपने आंगों को; वैसे जो ले सब इन्द्रियों को ।

इन्द्रिय-विषयों से समेट जब; उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है तब ॥२.५८॥

भोग त्याग देने से जन के; विषय दूर होते तन-मन के ।

दूर राग-रस नहीं होता पर; मिटता वही ब्रह्म को पाकर ॥२.५९॥

विज्ञ-पुरुष-मन भी यहां, जो हैं पार्थ सचेत ।

मथने वाली इन्द्रियां, मन से हैं हर लेत ॥२.६०॥

उन सब इन्द्रियों को वश में कर; मुद्दामय पूर्ण समाहित होकर ।

सब इन्द्रियों हैं वश में जिसकी; पूर्ण प्रतिष्ठित प्रज्ञा उसकी ।

करता नर विषयों का चिन्तन; आसक्त उन्हीं में फिर जन ।

जन्म काम जिसये है पाता; काम क्रोध को है उपजाता ॥२.६२॥

क्रोध से मृदभाव है होता; मृदभाव से सुधिजन खोता ।

बुद्धिनाश है सुधि खोने पर; बुद्धिनाश से नष्ट सभी फिर ॥२.६३॥

राग-द्वेष से मुक्त हुई जो; वश में कर उस हर इन्द्रिय को ।

भोग भोगकर भी साधक जन; पाता पुण्य-प्रसाद भरा मन ॥२.६४॥

वह पावन प्रसाद पाने पर; कष्ट-मुक्त पूरा होता नर ।

उस नर की जो है प्रमुदित मन; दृढ़ होती है बुद्धि उसी क्षण ॥२.६५॥

योग-साधना-हीन निरीश्वर; श्रेष्ठ बुद्धि नहीं पाता है नर ।

आस्तिक भाव न शांति उसे हो; फिर अशान्ति को सुख कैसे हो ॥

इन्द्रियों में रहतीं जो विचरित; जिस इन्द्रिय में है मन मोहित ।

बुद्धि वही हर लेती जन की; ज्यों जल-नौका लहर पवन की ॥२.६७॥

महाबाहो, इन्द्रिय हर जो नर; हटा भोग से, वश में ले कर ।

सब प्रकार हो संयममय नित; उसकी होती बुद्धि प्रतिष्ठित ॥२.६८॥

सब की निशा – जगत सब सोता; संयमी उसमें जागृत होता ।

जागे जिसमें जीव सभी ही; मुनि के लिये रात्रि है वह ही ॥२.६९॥

छन्द–सब ओर से परिपूर्ण अविचल, सिन्धु में आकर गिरे,

अनगिन सरित-जल समाकर ज्यों, कुच्छ प्रभाव नहीं करें ।

इस भाँति ही दृढ़-बुद्धि नर में, समाता हर भोग है,

चिर शान्ति पाता, वह नहीं जो कामियों का योग है ॥२.७०॥

सभी कामनाओं को त्यागे; अंहकार ममता से भागे ।

अनासक्त हो जीता जीवन; परम शान्ति पाता वही जन ॥२.७१॥

ब्रह्म-प्राप्त जन की सुस्थित यह; पाकर जिसे न हो मोहित वह ।

अन्तकाल में भी इस में ही; थिर हो, उसको मोक्ष मिले ही ।

इति द्वितीयोऽध्यायः

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

अर्जुन बोले –

तव मत में यदि ज्ञान है; कृष्ण, कर्म से ज्येष्ठ ।

घोर कर्म में क्यों मुझे, ल्या रहे सुरश्रेष्ठ ॥३.०१॥

उलझन भरे वचन तव मिश्रित; बुद्धि कर रहे मम भ्रम-मोहित ।

एक वचन कहिये निश्चय कर; जो हो मुझको, प्रभु, हितकर ॥

श्रीभगवान बोले –

दो प्रकार की निष्ठा, अर्जुन; की है पहले मैंने वर्णन ।

ज्ञानयोग से ज्ञानी जन की; कर्मयोग से योगीण की ॥३.०३॥

अनारम्भ से ही कर्मों के; जन निष्काम-भाव नहीं होते ।

और न कर्म-त्याग से केवल; सिद्धि-प्राप्ति का है मिलता फल ॥

बिना कर्म करते कोई नर; कभी न रह पाता है पल भर ।

प्रकृति-जन्य गुण द्वारा सब जन; करते कर्म अवश्य अवश मन ॥

कर्मन्द्रियों को वश में कर जन; जो करता विषयों का चिन्तन ।

मन से, मूट आत्म-अविचारी; कहलाता वह मिथ्याचारी ॥३.०६॥
इन्द्रियों को मन से वश में कर; अनासक्त कर्मन्दियों से नर ।

कर्मयोग आचरण करे जो; अर्जुन, श्रेष्ठ सुनिश्चित है वो ॥३.०७॥
विधिवत कर तृ कर्म को, श्रेष्ठ अकर्म से कर्म ।

कर्म बिना न सधे कभी, तन का भी तव धर्म ॥३.०८॥
जो यज्ञार्थ किये नहीं अर्जुन; बनते कर्म मनुज को बन्धन।

सो आसक्ति-रहित नित होकर; शुचितम कर्म-आचरण को कर ॥
यज्ञ-सहित रच सृष्टि प्रजा को; आदिकाल ब्रह्मा बोले यों ।

यज्ञ-कर्म कर बढ़ा निरन्तर; मिलें इष्टफल सभी यजन कर ॥३.१०॥
यज्ञ द्वारा देवों को उन्नत; करो देव औ तुहँ समुन्नत ।

उन्नति करते हुए परस्पर; पाओ परम सुफल श्रेयस्कर ॥३.११॥
यज्ञ-तृप्त होकर सुर तव हित; करें प्रदान भोग-फल वांछित ।

दैवी फल बिन सुरगण-अर्पित; भोगे जो नर, चोर सुनिश्चित ॥३.१२॥
यज से बचे अन्न का भोजन; सन्त करें, छूटें अथ बन्धन ।

पापी जो निज हेतु पकाते; वे हैं स्वयं पाप ही खाते ॥३.१३॥
अन्नोत्पन्न जीवजन सारे; अरु वर्षा से अन्न उगारे ।

और यज्ञ से वर्षा सम्भव; कर्मों से है यज्ञ समुद्रव ॥३.१४॥
कर्म हुआ है ब्रह्म से, ब्रह्म अक्षर से जान ।

सब में व्यापी ब्रह्म यूँ, यज्ञ-रमा नित मान ॥३.१५॥
चलते चक्र-अनुसार नहीं जो; करता है व्यवहार नहीं वो ।

अर्जुन, इन्द्रिय-लल्पट-कामी; व्यर्थ जी रहा पाप-विरामी ॥३.१६॥
प्रीति करे आत्मा में जो पर; तृप्त आत्मा में ही जो नर ।

है संतुष्ट आत्मा में ही; उसके लिये कार्य नहीं कोई ॥३.१७॥
उसका विश्व-लोक में, अर्जुन; कर्म-अकर्म से नहीं प्रयोजन ।

सभी प्राणियों में उसके हित; स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध न किंचित ॥३.१८॥
अनासक्त यूँ, पार्थ, निरन्तर; तू कर्त्तव्य-कर्म-पालन कर ।

अनासक्त रह कर्म करे जो; परमात्मा को प्राप्त करे वो ॥३.१९॥
विज्ञ विदेह आदि सब ने ही; सिद्धि प्राप्त की कर्मों से ही ।

करके और लोक-हित-मंथन; कर्म-पात्र हो शुभ तृ अर्जुन ॥३.२०॥
जो जो श्रेष्ठ आचरण करता; जन-समाज वैसा ही करता ।

वह जो है प्रमाण कर देता; लोक उसी पथ पग धर देता ॥३.२१॥
त्रिभुवन में कर्त्तव्य मम, यद्यपि पार्थ, न धर्म ।

प्राप्य न कुछ अप्राप्त है, तदपि करूँ मैं कर्म ॥३.२२॥
कर प्रमाद का पूर्ण वियर्जन; यदि न कर्मरत होऊँ, अर्जुन ।

सब प्रकार वही कदाचित; मम पथ का अनुसरण करें नित ॥३.२३॥
कर्म-विरत मैं अगर हुआ रे; लोक नष्ट हो जायें सारे ।

बनूँ वर्णसंकर का कर्ता; प्रजा-प्राण सब ही का हर्ता ॥३.२४॥
कर्मासक्त मृढजन, भारत; जैसे हुए कर्म मैं हैं रत ।

बुधजन अनासक्त त्यों होकर; कर्म करें जनहित से मन भर ॥३.२५॥

कर्मासक्त महा अज्ञानी; करे भ्रमित तिन बुद्धि न ज्ञानी ।

कर्म करे शुचि हो योग-स्थित; करे अन्य को भी वह प्रेरित ॥३.२६॥

त्रिगुणों का माध्यम अपनाती; प्रकृति सभी है कर्म कराती ।

अहंकार-मोहित-आत्मा जन; 'मैं करता हूँ' माने निज मन ॥३.२७॥

गुण और कर्मविभागों को जो; तत्व जानते हैं बुद्धजन वो ।

गुण-गण में गुण-खेल सभी हैं; मान, नहीं आसक्त कभी हैं ॥३.२८॥

प्रकृति-गुणों से भ्रमित, गुण-कर्मों में आसक्त ।

मंद मृढ़ को नहिं करे, विचलित ज्ञानी भक्त ॥३.२९॥

कर अध्यात्म-निष्ठ अपना चित; सभी कर्म कर मुझे समर्पित ।

फल-आशा ममता तज, अर्जुन; करो युद्ध, संताप न रख मन ॥३.३०॥

जो कोई भी श्रद्धानत नर; दोष-बुद्धि से मुक्त निरन्तर ।

मेरे मत-अनुसार चलेंगे; कर्म-मुक्ति पूरी पा लेंगे ॥३.३१॥

दोष-दृष्टि वाले मूरखजन; मम उपदेश न करते पालन ।

ज्ञान विमृद्ध पूर्णतम उनको; अर्जुन, नष्ट हुआ ही समझो ॥३.३२॥

प्रकृति-विवश जीते सब प्राणी; ज्ञानी भी और सब अज्ञानी ।

प्रकृति-भूत सब का चेष्टा क्रम; व्यर्थ जहां निश्चह-हठ संयम ॥३.३३॥

इन्द्रिय-इन्द्रिय-भोग-व्यवस्थित; राग-द्वेष जो जो भी हैं नित ।

अरि, कल्याण-मर्मा-बाधा वे; उनके वश में कभी न आवे ॥३.३४॥

शीलोचित परर्धम से बढ़ कर; निज गुण-हीन धर्म श्रेयस्कर।

मरना भी स्वर्धम में हितकर; है परर्धम महान भयंकर ॥३.३५॥

अर्जुन बोले –

हे वार्ष्ण्य, स्वयं बिन चाहे; बलपूर्वक ज्यों अन्य कराये ।

किसके बल से प्रेरित होकर; पाप-आचरण करता है नर ॥३.३६॥

श्रीभगवान बोले –

रज गुण से उत्पन्न है, यही क्रोध, यही काम ।

अग्नि-समान अतृप्त अरि, अधम जान अविराम ॥३.३७॥

टके आग धूरं से जैसे; दर्पण टक जाता ज्यों भल से ।

जैसे जेर से गर्भ टका है; यूही काम से ज्ञान टका है ॥३.३८॥

हे कौन्तेय, अतृप्त अनल सा; बुधजन का नित शत्रु प्रबल सा ।

काम सभी का ज्ञान टके हैं; शान्त उसे कर कौन सके है ॥३.३९॥

इन्द्रियां, बुद्धि और इसके मन, हैं आवास, कहें ज्ञानी जन ।

इन से काम ज्ञान को टक कर; देही को देता मोहित कर ॥३.४०॥

अतः इन्द्रियां वश में, अर्जुन; करो प्रथम, फिर इसका मर्दन ।

चिर पापी, अरि, काम, विनाशी; यह विज्ञान ज्ञान का नाशी ॥

शक्त श्रेष्ठ इन्द्रियां कहते जन; श्रेष्ठ इन्द्रियों से भी है मन ।

मन से अधिक बुद्धि है उत्तम; बुद्धि-परे आत्मा सर्वोत्तम ॥३.४२॥

श्रेष्ठ बुद्धि से आत्मा, अर्जुन; जान, बुद्धि से कर वश में मन ।

दुर्जय कामरूप है दुश्मन; मार महाबाहो, कर मर्दन ॥३.४३॥

इति तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थ अध्याय
ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

श्रीभगवान बोले –

रवि ने मुझसे, सूर्य से मनु ने पाया ज्ञान ।

मनु से फिर इश्वाकु ने, अक्षय योग महान ॥४.०१॥

यूं सब ऋषि-राजर्षि नाना; परम्परा से सब ने जाना ।

काल बहुत है बीता लेकिन; जब से लोप हुआ यह अर्जुन।

वही योग अब परम पुरातन, मैं ने कहा तुझे है अर्जुन।

क्योंकि भक्त प्रिय सखा परम मम; और रहस्य योग यह उत्तम ।

अर्जुन बोले –

जन्म आपका अभिनव नृतन; सूर्य-जन्म, प्रभु, परम पुरातन ।

कल्प-आदि मैं कैसे जानूं ? योग कहा प्रभु ने, क्या मानूं ॥४.०४॥

श्रीभगवान बोले –

अर्जुन, मेरे और तुम्हारे; जन्म हुए हैं कितने सारे ।

तू न जानता उन्हें परंतप; जिनसे मैं पूरा हूं अवगत ॥४.०५॥

जीव-जीव-अज ईशा मैं, अविनाशी, निज आत्म

वश मैं आत्म-प्रकृति किये, माया से लूं जन्म ॥४.०६॥

जब भी कभी धर्म घटता है, औ अधर्म ऊपर चढ़ता है ।

तब तब भरतश्रेष्ठ, हे अर्जुन; लेता हूं अवतार, धार तन ॥४.०७॥

साधु-जनों को त्राण दिलाने; दुष्टजनों का मूल मिटाने ।

पुनः धर्म करने प्रस्थापित; युग युग होता स्वयं उपस्थित ॥४.०८॥

जन्म-कर्म अति दिव्य महत्तम; तत्त्वज्ञान जिसको अर्जुन मम ।

फिर तन त्याग जन्म नहीं लेता, वह मुझको ही है पा लेता ॥४.०९॥

वीतराग, भय-क्रोध-विजेता; मम शरणागत, मम मय चेता ।

अनगिन ज्ञान-तपस से पावन; मम स्वरूप को प्राप्त हुए जन ॥

जैसा जो मुझको भजे, वैसा दूं फल-भोग ।

अनुवर्तन सब दिशि करें, मम पथ मैं सब लोग ॥४.११॥

कर्म-सिद्धि-फल की ले चाहत; देवगणों की पूजा मैं रत ।

कर्म-उत्पन्न-सिद्धि वे सत्वर; मनुज लोक मैं पाते हैं नर ॥४.१२॥

गुण-कर्मों से नियम-विभाजित; चतुर्वर्ण मुझसे ही नियमित।

कर्ता उनका जान मुझे ही; अविनाशी अनकर्ता मैं ही ॥४.१३॥

फल-कामना न मुझको किंचित; नहीं कर्म-बन्धन से बन्धित ।

जो ऐसे मुझको जानेगा; नहीं कर्म उसको बांधेगा ॥४.१४॥

मोक्षकामी जो पूर्वज जन थे; जान यही सब करें करम थे ।

पुरा काल में पूर्वज जो वर; करते थे, तू कर्म वही कर ॥४.१५॥

कविजन भी सारे भ्रमित, क्या है कर्म अकर्म ।

पाप-मुक्त हो जान जो, कहता हूं वह कर्म ॥४.१६॥

है ज्ञातव्य विकर्म भी, और कर्म ज्ञातव्य ।

झेय अकर्म-स्वरूप भी, गहन कर्म-गति भव्य ॥४.१७॥

जो अकर्म कर्मां में देखे; कर्मां को अकर्म में देखे ।

योग-युक्त वह ज्ञानी है नर; योगी कर्म रहा सब वह कर ॥४.१८॥

कामहीन, संकल्प-रहित हैं; जिसके सब उद्योग महत हैं ।

ज्ञान-अग्न में दग्ध, तिरोहित; जिसके कर्म सभी, वह पंडित ॥४.१९॥

आश्रय-हीन तृप्त नित जो है; फल-अभिमान-अमोहित जो है ।

कर्म-प्रवृत्त रहे वह निशिदिन; कर्म न करता कुछ भी, अर्जुन ॥

अन्तःकरण-शरीर-विजेता; परिश्रान्त-त्यागी, आश-अचेता ।

मात्र शरीर-कर्म-रत भी वो; नहीं पाप को प्राप्त कभी हो ॥४.२१॥

सिद्धि-असिद्धि समान है, द्वेष-द्वन्द्व से हीन ।

मिले उसी में तृप्त, वह, करते कर्म हो लीन ॥४.२२॥

राग-मुक्त चित ज्ञान-अवस्थित; करे आचरण यज्ञों के हित ।

मुक्त पुरुष वे जो कर जाते; कर्म विलीन सभी हो जाते ॥४.२३॥

ब्रह्म अग्नि है, होतृ है, हवन ब्रह्म है हव्य ।

अर्पण भी है ब्रह्म ही, ब्रह्म ध्येय-गन्तव्य ॥

ब्रह्मरूप-शुचि-कर्म में, समाधिस्थ-अनुरक्त ।

पाता है उस ब्रह्म को निश्चित ही वह भक्त ॥४.२४॥

दैवयज्ञ कर कुछ योगीजन; देव-उपासना-रत हैं निशि दिन ।

कोई फिर ब्रह्माग्नि में ही; हवन यज्ञ करते यज से ही ॥४.२५॥

संयम-अनल-समर्पित कतिपय; होम करें श्रोत्रादिक इन्द्रिय ।

होम अग्नि है कुछ को इन्द्रिय; होम करें शब्दादिक विषय ॥४.२६॥

ज्ञान-प्रदीप्त आत्म संयम की; योग-अग्नि है कहीं हवन की ।

इन्द्रिय-कर्म, प्राण-कृति बुधजन; जिस में हवन करें हैं, अर्जुन ॥

द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ औ, दारुणव्रती अनन्य ।

ज्ञान-योग-स्वाध्याय तप, करते हैं कुछ अन्य ॥४.२८॥

प्राणवायु को अपान में या; प्राणवायु में अपान अथवा ।

दोनों की गति रोक कई जन; प्राणायाम-हवन-रत, अर्जुन ॥४.२९॥

प्राणों में कुछ नियताहारी; हवन करेंगे प्राणों का ही ।

नष्ट पाप जिनके यज्ञों से; ये सब ज्ञानी हैं यज्ञों के ॥४.३०॥

यज्ञामृत-भोगी योगी जन; प्राप्त करेंगे ब्रह्म सनातन ।

यज्ञ-हीन नर को तो सुखकर; नहीं लोक यह, अन्य हो क्योंकर ॥

ऐसे बहुविध यज्ञ हैं अनगिन; वेदों में है जिनका वर्णन ।

कर्म-जात जानो सब को ही; बन्धन-मुक्ति जान यह हो ही ॥४.३२॥

द्रव्य-यज्ञ से, अर्जुन, बढ़कर; ज्ञान यज्ञ है श्रेष्ठ महत्तर ।

पार्थ, परंतप, सब कर्मों की; परिणति ज्ञान-मध्य ही होती ॥४.३३॥
 कर प्रणाम, सेवा, जिज्ञासा; शान्त करो तुम ज्ञान-पिपासा ।
 तत्त्वदर्शी ज्ञानी ऋषि-मुनिजन; ज्ञान-उपदेश करेंगे, अर्जुन ॥४.३४॥
 जान जिसे फिर तुझको, पाण्डव; मोह न भ्रम यह होगा रौरव ।
 जिससे सब जीवों के, अर्जुन; आत्मरूप मुझमें हों दर्शन ॥
 पापीजनों से भी यदि पापी; तु है, ज्ञान-नाव पा तो भी ।
 अमित पाप-जल का यह सागर; पूर्णरूप से जायेगा तर ॥४.३६॥
 दीप्त अग्नि जैसे करे, सब ईंधन को भर्म ।
 ज्ञानाग्नि वैसे करे, सब कर्मों को भर्म ॥४.३७॥
 ज्ञान-समान विश्व में, अर्जुन; है पवित्र कुछ और न साधन ।
 उचित समय में योगी ज्ञाता; आत्म-अनुभूति को है पाता ॥४.३८॥
 जितेन्द्रिय कर्म में तत्पर; श्रद्धावान ज्ञान पाता नर ।
 तत्त्वज्ञान जिस क्षण वह पाता; तत्क्षण परम शान्ति पा जाता ॥
 श्रद्धा-ज्ञान-विहीन, संशय; आत्मा का होता है चिरक्षय ।
 लोक न वह परलोक है उसको; और न सुख संशय-आत्मा को ॥
 योग-युक्त हो कर्मों का क्षय; कटे ज्ञान से सब ही संशय ।
 आत्मज्ञानी उस नर को कोई; कभी कर्म-बन्धन नहीं होई ॥४.४१॥
 उस अज्ञान-जनित संशय को; तब उर में बैठा, अर्जुन, जो ।
 काट ज्ञान की असि से तत्क्षण; योगावस्थित हो, उठ इस क्षण ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः

पञ्चमोऽध्यायः

कर्मसंन्यासयोग

कर्म-संन्यास सराहते, कभी योग को कृष्ण ।

निश्चित हितकर एक जो, मुझे कहो वह कृष्ण ॥५.०१॥

कर्मयोग संन्यास बराबर; दोनों ही हैं अति श्रेयस्कर ।

उन दोनों में भी, हे अर्जुन; कर्मयोग संन्यास से ऊपर ॥५.०२॥

इच्छा-द्वेष न करता हो जो; उसे सदा संन्यासी समझो ।

राग-द्वेष-द्रुद्धों से छुटकर; बन्धन-मुक्त सहज होता नर ॥५.०३॥

कर्मयोग-संन्यास-विभाजन; करते मुर्खलोग, नहीं बुधजन ।

इक में भी नर पूर्ण अवस्थित, फल दोनों का पाये निश्चित ॥५.०४॥

जो पद सांख्य-विज्ञ पाते हैं; योगी भी गति वह जाते हैं ।

सांख्य, योग जो एकहि माने, वह नर तत्त्व पूर्ण पहचाने ॥५.०५॥

योग बिना अर्जुन कठिन, पाना है संन्यास ।

योगयुक्त मुनि शीघ्र ही, करे ब्रह्म में वास ॥५.०६॥

योगयुक्त, शुद्धात्मा पावन; जीत लिये जिसने इन्द्रिय-मन ।

सब जीवों में निज सम-दर्शन; कर्म करे, पर लिप्त न वह जन ॥

तत्त्व-विज्ञ योगी यह माने; “कुछ भी किया नहीं है मैंने” ।

श्रवण, सूंघना, छना, दर्शन; भोजन, गमन, शायन, औ वाचन ॥
त्याग-ग्रहण लेना सांसों का; मिंचना खुल जाना आंखों का ।

इन्द्रियां अपने विषयों में रत; कर्म कर रहीं हैं सब अविरत ॥५.०९॥

सभी कर्म कर ब्रह्म-समर्पित; अनासक्त हो कर्म करे नित ।

पाप लिप्त होता वह नाहीं; जल में कमल-पत्र की नाई

इन्द्रिय-मन-तन-बुद्धि से; मात्र पूर्ण निष्काम ।

आत्म-शुद्धि के हेतु ही; योगी करते काम ॥५.११॥

कर्म-फलों को तज योगी जन; पाता नैष्टिक शान्ति चिरन्तन ।

कामी जन फल-मोहित हो कर; रहें कामनाओं में बंध कर ॥५.१२॥

करता हुआ न कुछ करवाके; रहता पुर में नौ द्वारों के ।

त्याग सभी कर्मों को मन से; आत्मजयी रहता सुख-धन से ॥५.१३॥

नहीं कर्म, ना ही कर्तापन; जीवों के करता प्रभु प्रणयन ।

नहीं संयोग कर्मफल कामी; करती सब कुछ प्रकृति मां ही ॥५.१४॥

प्रभु नहीं लेता पाप किसी का; और न ले शुभकर्म किसी का टका ज्ञान माया-
आच्छादित; प्राणी सभी इसी से मोहित ॥५.१५॥

हुआ ज्ञान से नष्ट है, जिनका आत्म-अज्ञान ।

धृति परम प्रभु को करे, रवि सम उनका ज्ञान ॥५.१६॥

प्रभुमय बुद्धि आत्म मन जिनके; तन्मय एक निष्ठ भगवन के ।

धुला ज्ञान से अघ है जिनका; पुनर्जन्म नहीं होता उनका ॥५.१७॥

ब्राह्मण, गौ, हाथी कुत्तों के; अधम पुरुष चाण्डाल जनों के ।

विद्या-विनय-शील ज्ञानी जन; करते एक भाव से दर्शन ॥५.१८॥

जिनका मन समभाव-अवस्थित; विश्व-विजयी वे नर हों जीवित ।

दोषहीन है ब्रह्म स्वयं सम; ब्रह्मलीन हैं वे इस कारण ॥५.१९॥

प्रिय को पा नहिं होता हर्षित; अप्रिय पा नहिं जो उद्घेलित ।

ब्रह्मज्ञानी दृढ़ बुद्धि-समन्वित; ब्रह्मलीन वह पूर्ण अमोहित ॥५.२०॥

अनासक्त भव-भोग में, मन आनन्द-विभूति ।

ब्रह्मयोगयुत नर करे, अक्षय सुख अनुभूति ॥५.२१॥

इन्द्रिय-जनित भोग ये सब हीं; दुख के कारण हैं निश्चय हीं ।

आदि-अन्त वाले ये, अर्जुन; रमता कभी न उनमें बुधजन ॥५.२२॥

काम-क्रोध से जनित वेग को; तन-विनाश से पहले ही जो ।

सहने में समर्थ है, वह ही; योगी है जग में सुखमय ही ॥५.२३॥

अन्तः सुखी, आत्म-आवासी; आत्म-ज्योति से पुण्य-प्रभासी ।

ब्रह्मलीन योगी है वह ही; ब्रह्म-मुक्ति-भोगी है वह ही ॥५.२४॥

पापमुक्त संशय से निवृत; मनमें सभी प्राणियों के हित ।

आत्म-संयमी, प्रभु-तन्मय मन; ब्रह्म-मुक्ति पाते वे ऋषि जन ॥५.२५॥

काम-क्रोध से रहित यति, मनस-विजेता आप्त ।

चहु दिशि से आत्मज्ञ को, ब्रह्म-मोक्ष हो प्राप्त ॥५.२६॥

बाह्य भोग सब बाहर तज कर; भ्रुकुटि बीच निज हृष्टि नयन कर
नाक बीच जो विचरण करते; प्राण-अपान-वायु सम करके ॥
जितेन्द्रिय-मन-बुद्धि विजेता; नहिं भय-इच्छा-क्रोध न चेता ।
मोक्ष-परायण मुनि है जो जन; मुक्त सदा ही है बिन बन्धन ॥
तप-यज-भोगी जान मुझे ही; सब लोकों का देवेश्वर भी ।
सुहृद सभी जीवों का त्राता; जान, शान्ति नर है पा जाता ।

इति पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः ध्यानयोग

श्रीभगवान बोले –

बिना कर्म-फल-चाह जो, कर्म करे करनीय ।
वह योगी संन्यस्त है, नहीं निरग्नि निष्क्रिय ॥६.०१॥
पार्थ, जिसे संन्यास कहा है; वही जान त् योग महा है ।
बिन त्यागे संकल्प यहां पर; होता नहीं कोई योगी नर ॥६.०२॥
योग-साधना सुध्येय जिनका; कर्मयोग साधन मुनिजन का ।
योगारूढ़ हुए जो ऋषिजन; उनका शमन कहा है साधन ॥६.०३॥
इन्द्रिय-भोग-आसक्ति नहीं जब; कर्मों में अनुरक्ति नहीं जब।
सब संकल्पों का त्यागी जन; योगारूढ़ कहाता उस क्षण ॥६.०४॥
करे मनुष्य उद्धार स्वयं का; पतन न होने दे आत्मन का ।
क्योंकि मित्र अपना खुद ही नर; और शत्रु भी स्वयं भयंकर ॥६.०५॥
आत्मजयी जो जीव है, मित्र स्वयं का आप ।
इन्द्रिय-मन बस में नहीं, शत्रु स्वयं का आप ॥६.०६॥
सुख-दुख-शीत घाम सब ही में; मान और अपमान सभी में ।
प्रशान्त है जो आत्मजयी जन; ब्रह्मलीन होता उसका मन ॥६.०७॥
ज्ञान-विज्ञान-तृप्त, समत्व-मन; जितेन्द्रिय अविकारी जो जन ।
सम हैं माटी, सोना, पत्थर; ब्रह्म-युक्त योगी है वह नर ॥६.०८॥
मित्र-शत्रु, तटस्थ, उभयजन; साधु-असाधु, स्वजन, द्वेषीमन।
समता-भाव सभी में पाता; वह अतिश्रेष्ठ मनुज कहलाता ॥६.०९॥
अपरिग्रही अपेक्षा-त्यागी; आत्मजयी चित प्रभु-अनुरागी।
एकाकी एकान्त अवस्थित; योगी रमे ईश में ही नित ॥६.१०॥
स्वच्छ भूमि पर अवस्थित, कुश, मुगच्छाला वस्त्र।
अति ऊँचा नहि निम अति, आसन सम सर्वत्र ॥६.११॥
मन को कर एकाग्र अति, करे आसन पर वास।
आत्मजयी मन-शुद्धिहित, करे योग-अभ्यास ॥६.१२॥
तन-सिर-गर्दन सीधा करके; निश्चल दृढ़ता धारण करके ।
आंखें नाक-नोक पर रोके; और दिशाओं में न विलोके ॥६.१३॥

ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके; वश में औ अपना मन करके ।
मममय होकर कर मुझ में चित्; हो प्रशान्त आत्मा मुझमें नित ॥
योगाभ्यास सतत रत यूं जन, योगी रह संयमित नियत मन ।
मुझमें निहित मोक्षगामी जो; परम शान्ति शुचि पाता है वो ॥६.१५॥

पूर्ण उपवास, बहुत सा भोजन, करके योग-सिद्धि नहि अर्जुन।
सिद्धि न उसको अतिशय सोकर; नहीं पूर्णतः जागृत होकर ॥६.१६॥
हों आहार विहार सुनियमित, सब ही कर्म-प्रयास यथोचित।
सोना जगना संयत हो जब; सिद्ध योग दुख नाशक हो तब ॥६.१७॥

वशीभूत निज चित्त जब, आत्म-लीन हो जाय।
कामरहित निष्पृही जन, तब योगी कहलाय ॥६.१८॥
वायु-रहित थल में रक्खा ज्यों; दीपक बिल्कुल नहीं हिले त्यों।
उपमा आत्म-योगी साधक के; विजित मनस की बुधजन देते ॥
योगाभ्यास-निरुद्ध हुआ चित्; होता है जब शान्त अपरिमित।
आत्म-ज्ञान से आत्मा को ही; देख तुष्ट है आत्मा में ही ॥६.२०॥

इन्द्रिय-परे परम सुख है जो; बुद्धि ग्राह्य ही है जो, उसको।
जब अनुभव करता हो सुस्थित, हो न तत्त्व से फिर वह विचलित ॥
जिसको पाकर उससे बढ़ कर; दिखे न कोई लाभ कहीं पर।
जिस में होकर पूर्ण अवस्थित; होते न अति दुख से विचलित ॥
जिस में दुख-संयोग नहीं है; संज्ञा जिसकी योग कही है।
साध्य योग अति ज्ञेय वही है; दत्तचित्त दृढ़ प्रेय वही है ॥६.२३॥

त्याग कामनायें सभी, जो संकल्प प्रसूत।
सभी इन्द्रियों को तथा, कर मन से वशभूत ॥६.२४॥
धीर बुद्धि से नर बने, धीरे धीरे शान्त।
चिन्तन और न मन करे, आत्मलीन-विश्रान्त ॥६.२५॥
यह अस्थिर चंचल अपना मन; जिन विषयों में करता विचरन।
उन-उन से ही इसे हटाकर; आत्मा के आधीन करे नर ॥६.२६॥
जिसका है प्रशान्त पूरा मन; पाप-रहित जिस में न रजो गुण।
ब्रह्मलीन योगी नर वह ही; पाता परमानन्द सदा ही ॥६.२७॥
यूं ही, पाप रहित योगी जन; आत्मा योग-लीन कर निशिदिन।
सुख से ब्रह्म-प्राप्ति-रूपी धन; भोगे परमानन्द चिरन्तन ॥६.२८॥

योगमयी आत्मा वाला जो; समदर्शी सर्वत्र सदा हो ।
सब जीवों में निज को देखे; आत्मा में सब जीव विलोके ॥६.२९॥
सब जीवों में देखे मुझको; अरु मुझ में सारे जीवों को।
हूं अदृश्य न मैं उसके हित; मुझको नहि अदृश्य वह किंचित ॥६.३०॥
सुस्थित सब जीवों में मुझको; एक-आत्म हो, भजता नर जो।
सब प्रकार वह जीवन जीकर; रहता है वह मेरे ही भीतर ॥६.३१॥
सब जीवों को पार्थ जो, देखे एक समान।
सुख-दुख भी सम ही दिखे, योगी श्रेष्ठ महान ॥६.३२॥

अर्जुन बोले –

साम्यभाव से बतलाया जो; प्रभु ने योग मुद्दे भगवन वो।
मन की चंचलता के कारन; अस्थिर, अचिर, लगे मधुसूदन।
चंचल, दुष्ट, हठी, दृढ़ यह मन; है बलवान महा, मधुसूदन।
कठिन साधना उसको वैसे; हवा बांध लेना है जैसे।

श्रीभगवान बोले –

निस्संदेह, महाबाहो, मन, चंचल, दुष्कर, जिसका साधन।
पर अभ्यास विराग से अर्जुन; वश में हो जाता है यह मन ॥६.३५॥

वश में किया न जिसने मन है; उसको मिलना योग कठिन है।

आत्मजयी साधक लगकर जन; सहज पायेगा, वह मम चिंतन ॥

अर्जुन बोले –

हे हरि, योग-विरत जिनका मन; यत्नहीन, पर श्रद्धामय जन।

योगसिद्धि मिलती नहीं जिसको; गति कौनसी मिलेगी उसको ॥

ब्रह्मप्राप्ति-पथ से भटका हो; आश्रयहीन, कृष्ण, अटका हो।

योग-भोग दोनों से वंचित; नष्ट हुआ क्या? ज्यों घन खंडित ॥६.३८॥

जो अमूल मेटे शंका मम; योग्य आप ही, कृष्ण, समुत्तम।

पूरा जो यह संशय मारे; और कौन, हरि, सिवा तुम्हारे ॥६.३९॥

श्रीभगवान बोले –

नहीं नष्ट इस लोक में, ना ही उस में पार्थ।

नहीं, तात, दुर्गति किसी, शुभकर्मी के अर्थ ॥६.४०॥

सुरलोकादि पुण्य भू पाकर; योगभ्रष्ट वरसों वहां रहकर।

शुद्धात्मा श्रीमानों के घर; लेता जन्म पुनः पृथ्वी पर ॥६.४१॥

अथवा ज्ञानवान-योगी-गृह; पुनर्जन्म पाता है नर वह।

इस प्रकार का जन्म धरा पर; पाना किन्तु पार्थ दुर्लभतर ॥६.४२॥

पूर्व देह-जम्मों का वह नर; संस्कार पाता उस थल पर।

पार्थ, प्रभाव उसी का पाकर; सिद्धि-प्रयास पुनः करता नर ॥६.४३॥

विवश पूर्व अभ्यास के कारण; आकर्षित होता प्रभु को जन।

योगेच्छुक वेदों में वर्णित; कर्मफलों को करता लंघित ॥६.४४॥

सिद्धि प्राप्त कर बहु जन्मों से; अभ्यासी योगी यत्नों से।

पाप-मुक्त अति विशुद्ध होकर; परम मोक्षगति पा जाता नर ॥६.४५॥

विज्ञ-तपस्यी-कर्मरत- जन से योगी श्रेष्ठ।

योगी बन, हे पार्थ तु; पाण्डव, यही यथेष्ठ ॥६.४६॥

और समस्त योगियों में भी; श्रद्धावान लगा मुझमें जी।

मुझको अन्तर्मन से भजता; परम श्रेष्ठ वह मुझको लगता ॥६.४७॥

इति षष्ठोऽध्यायः

सातवां अध्याय
ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवान् बोले —

मम आश्रित हो योगयुत, मन मुझमें आसक्त।
सुन, कैसे मुझ पूर्ण को, जानेगा विश्वस्त ॥७.०१॥

सविज्ञान यह ज्ञान बताऊँ; तुझको मैं सम्पूर्ण सुनाऊँ।
जगती में पूरा वह पाकर; ज्ञेय न कुछ भी शेष रहे फिर ॥७.०२॥

बिरला कोई सहस्र जनों में; सिद्धि-हेतु लगता यत्नों में।
यत्नशील उन सिद्धों में भी; जाने मुझे तत्त्वतः कोई ॥७.०३॥

वायु, भूमि, नभ में औ जल में; अहंकार, मन, बुद्धि, अनल में।
आठ प्रकार प्रकृति यूं मेरी; बंटी हुई है, अर्जुन, पूरी ॥७.०४॥

महाबाहो यह तो 'अपरा' है; जीवरूप दूसरी 'परा' है।

जान 'परा' वह, जिसके द्वारा; धारण होता है जग सारा ॥७.०५॥

समझ कि सारे दो इन ही से; पैदा होते जीव मही के।
सारे जग का स्रोत हूं मैं ही; जग-उत्पत्ति-प्रलय भी मैं ही ॥७.०६॥

जान, धनंजय, बात सुनिश्चित; मुझसे परे और नहीं किंचित।
मोती जैसे सूत्र गुथे हैं; गुथा हुआ सब जग मुझमें है ॥७.०७॥

जल में रस, रवि-चन्द्र में; प्रभा, वेद-ओकार।

नभ में मैं ही शब्द हूं, नर में पौरूष-सार ॥७.०८॥

पृथ्वी में शुचि गन्ध महा हूं; बना अग्नि में तेज बसा हूं।

सभी प्राणियों में जीवन हूं; तपस्वियों में मैं तप-धन हूं ॥७.०९॥

सब जीवों का बीज सनातन; जान मुझे ही तू, हे अर्जुन।

बुद्धि बुद्धिमानों की मैं हूं; तेजस्वी-गण-नेज भी मैं हूं ॥७.१०॥

बल उनका हूं जो बलधारी; मैं विरागमय अति निष्कामी।

धर्म-अनुकूल करे हैं जो जन; काम प्राणियों में हूं, अर्जुन ॥७.११॥

भाव सात्त्विक, राजस, तामस; सब की है मुझसे पैदायश।

जान कि सब ही गुण हैं मुझ में; किन्तु नहीं मैं, अर्जुन, उन में ॥

इनहीं त्रिगुणों के भावों से; भ्रमित मुग्ध संसार सभी ये।

परे गुणों से मुझ अक्षर को; नहीं तत्त्वतः जाने है वो ॥७.१३॥

दैवी माया त्रिगुणमय, मम, दुस्तर विस्तार।

भजें मुझे ही नित्य जो, वे हीं इससे पार ॥७.१४॥

माया ने सब ज्ञान लिया हर; आसुर-भाव चढ़ा है जिन पर ।

वे दुष्कर्मी, मृढ अधम जन; करते नहीं भजन मम पूजन ॥७.१५॥

ज्ञानी, सुजिज्ञासु, पीड़ित जन; भोग-पदार्थों में जिनका मन ।

चार भांति के शुभकर्मी जन; भजते हैं मुझको, हे अर्जुन ॥७.१६॥

पूर्ण भक्ति मुझ में ही नित रम; ज्ञानी उन में है सर्वोत्तम ।

उस ज्ञानी को मैं अति प्यारा; अतिप्रिय है वह भक्त हमारा ॥७.१७॥

हैं उदार यूं तो सारे ही; ज्ञानी तो पर मम आत्मा ही ।
 युक्तात्मा उत्तम गति पा कर; मुझमें ही सुस्थित है वह नर ॥७.१८॥

कई जन्म पा विज्ञ अनन्तर; “वासुदेव ही सब कुछ” कह कर ।
 भजता मम करता पूजन है; दुर्लभ महाप्राण वह जन है ॥७.१९॥

निज स्वभाव से प्रेरित होकर; ज्ञान-प्रष्ट कामेच्छा से नर ।
 धारण कर समुचित नियमों को; भजते अन्य देवताओं को ॥७.२०॥

पूजे जिस जिस देव को, श्रद्धा से जो भक्त ।
 श्रद्धा उस उस में करूं, उसकी थिर अविभक्त ॥७.२१॥

ओत-प्रोत उस श्रद्धा से जन; निज अभीष्ट का करता पूजन ।
 पाता भोग सभी ही वांछित; मेरे द्वारा ही जो अभिहित ॥७.२२॥

मन्द बुद्धि पाते पर जो फल; नाशवान हैं वे, नहिं अविचल ।
 देव-भक्त निज देवों में ही – मिलते हैं, मेरे मुझ में ही ॥७.२३॥

शाश्वत परम भाव मम अनुपम; नहीं जानते नर मूरखतम ।
 मुझ अव्यक्त निराकारी को; व्यक्तिभाव वाला मानें वो ॥७.२४॥

छिपा योगमाया से ढक कर; मैं न प्रकट होता हूं सब पर ।
 अविनाशी, मम जन्म नहीं है; मूरख को यह ज्ञान नहीं है ॥७.२५॥

थे अतीत में, आज हैं, जीव जो आगे होय ।
 सब को मैं हूं जानता, जाने मुझे न कोय ॥७.२६॥

राग-द्वेष-उत्पन्न सभी जन; इस सारे संसार में, अर्जुन ।
 सुखदुख आदि द्वन्द्व से मोहित; अति अज्ञान-प्राप्त होते नित ॥७.२७॥

पुण्य कर्म से है जिनका पर; पाप विनष्ट हो गया वे नर ।
 द्वन्द्व मोह से मुक्त सुट्ट मन; करते हैं मेरा नित पूजन ॥७.२८॥

जरा-मरण से छुटने के हित; यत्न करें जो हो मम आश्रित ।
 ब्रह्म अध्यात्म पूर्ण जाने हैं; कर्म पूर्णतम पहचाने हैं ॥७.२९॥

जो अधिभूत रूप अधिदैवी; मम अधियज्ञ रूप जो सेवी ।
 जाने हैं, वे युक्तात्मा मन; अन्तकाल भी मिलें मुझे जन ॥७.३०॥

इति सप्तमोऽध्यायः

आठवां अध्याय

अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन बोले –

पुरुषोत्तम, अध्यात्म क्या कौन ब्रह्म क्या कर्म?

किसे कहा अधिभूत, क्या अधिदैव कहें मर्म? ॥८.०१॥

कौन, प्रभो, अधियज्ञ यहां है; इस शरीर में रहा कहां है?

अन्त काल तुमको मधुसूदन; कैसे जाने नियतात्मा जन ॥८.०२॥

श्रीभगवान बोले –

ब्रह्म नाम चिर अविनाशी का; है अध्यात्म स्वभाव उसी का ।

जीव-भाव पैदा करता जो; सर्जन-शक्ति कर्म ही है वो ॥८.०३॥

है अधिभूत भाव जो नश्वर; अधिदैव चैतन्य पुरुष वर ।

इस तन में मैं ही मधुसूदन; हूँ अधियज्ञ, नरोत्तम अर्जुन ॥८.०४॥

अन्तकाल कर याद मुझे ही; त्यागेगा शरीर जो देही ।

वह मम-भाव प्राप्त होगा ही; इस में कुछ भी संशय नाही ॥८.०५॥

अन्त काल जो भाव लिये मन; करता याद, त्यागता है तन ।

उसी भाव का चिन्तन करता — सदा, प्राप्त वह ही जन करता ॥

इसीलिये सब समय निरन्तर; याद मुझे कर और समर कर ।

मुझमें बुद्धि-मनस से अर्पित; मुझे मिले, संशय नहिं किंचित ॥८.०७॥

जो अभ्यासयोग से संचित; कहीं और नहिं है जिसका चित ।

चिन्तन, पार्थ, उसीका करता; प्राप्त दिव्य प्रभु को है करता ॥

चन्द—सर्वज्ञ कवि सबका नियन्ता जो अनादि अनन्त है,

परमाणु सम अणुओं में है जो पूर्णरूप अचिन्त्य है ।

जग पालता है पोसता, आदित्य सम तम से परे,

उस सर्वव्यापी नित्य का जो भक्त नित चिन्तन करे ॥८.०९॥

वह भक्तिभाव भरा पुरुष निज मृत्यु को ऐसा वरे,

निज योग बल से प्राण को भौहों में सुस्थापित करे ।

निश्चल मनस से दिव्यतम प्रभु रूप का चिन्तन करे,

उस परम प्रभु को प्राप्त निश्चित पूर्णतः वह जन करे ॥८.१०॥

जिसको सभी वेदज्ञ अविनाशी चिन्तन नित कहें,

शुचि वीतरागी यत्न-साधक पा सदा जिसमें रहे ।

पालन करें ब्रह्मचर्य व्रत, जिसकी हृदय इच्छा लिये,

वह परम पद संक्षेप में कहता हूँ मैं तेरे लिये ॥८.११॥

इन्द्रिय-द्वार सभी संयम कर; हृदय-मध्य निश्चल निज मन कर ।

मस्तक में कर प्राण अवस्थित; योग-धारणा में हो सुस्थित ॥८.१२॥

एक अक्षरी ओम् उच्चारे; ब्रह्मरूप मुझको मन धारे ।

त्याग देह धार यह सुस्थित; पाता है वह पुरुष परम गति ॥८.१३॥

जो अनन्य मन से हे अर्जुन; सदा मुझे भजता है निशिदिन ।

मुझमें रमा नित्य योगी जो; पार्थ, सुलभ अति ही मैं उसको ॥८.१४॥

परमसिद्धि को प्राप्त हुए नर; महापुरुष वे मुझको पाकर ।

क्षणभंगुर अति पीड़ा का घर; पुनर्जन्म नहिं पाते हैं फिर ॥८.१५॥

ब्रह्मलोक तक लोक सभी ही; पुनः पुनः पा, आने को ही ।

पर, कौन्तेय, मुझे पाने पर; पुनर्जन्म नहिं लेता है नर ॥८.१६॥

एक सहस्र युग हैं जो जन को; एक दिवस है वह ब्रह्मन को ।

रात सहस्र युग भी जो जाने; रात्रि-दिवस-गति वे जन जानें ॥८.१७॥

ब्रह्म-दिवस शुरू है जब होता; जग पैदा अव्यक्त से होता ।

रात्रि-समय अव्यक्त वही है; जिसमें सृष्टि विलीन हुई है ॥८.१८॥

विवश जीव-समुदाय यह, हो हो कर हर बार ।

ल्य होता विधि-रात्रि में, जीवन दिन में धार ॥८.१९॥

उस अव्यक्त-परे भी अर्जुन; जो अव्यक्त है भाव सनातन ।
जीव-जगत का क्षय जब होता; तब भी नष्ट न है वह होता ॥८.२०॥

कहा गया जो अव्यक्त अक्षर; कहते उसे परम गति हैं नर ।
पुनर्जन्म नहि जिस को पाकर; परमधाम वह ही मेरा घर ॥८.२१॥

सभी जीव हैं जिस के भीतर; जिस से है परिपूर्ण जगत भर ।
परम पुरुष वह प्राप्त उसी को; भक्ति अनन्य सदा करता जो ॥८.२२॥

काल-मार्ग जिस में योगी नर; त्याग शरीर न आते हैं फिर ।
पुनर्जन्म-गति या देता जो; भरतश्रेष्ठ, कहता दोनों को ॥८.२३॥

दिवस, अग्नि, परख शुक्ल, प्रभासी; उत्तरायण औ जो षणमासी ।
त्यागें उस काल में जो तन; पायें ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानी जन ॥८.२४॥

धूम्र, रात्रि, परख कृष्ण उदासी; दक्षिणायण औ जो षणमासी ।
उस में प्राण त्याग योगी नर; चन्द्र लोक पा, लौटे भू पर ॥८.२५॥

शुक्ल-कृष्ण दो मार्ग सनातन; जग के माने जाते, अर्जुन ।
इक वृत्तहीन मुक्ति है देता; गमनागमन दूसरा देता ॥८.२६॥

पार्थ, मार्ग दोनों जाने जो; योगी कभी भ्रमित नहि वह हो ।
अतः सभी कालों में, अर्जुन; योग-युक्त योगी ही तू बन ॥८.२७॥

चन्द्र— जो पुण्य फल, कहते, मिलें योग, तप, यज्ञ, दान से,
योगी पुरुष सब युक्त होकर तत्त्वतः इस ज्ञान से ।
है छोड़ता, करके उलंघन पार जा उन से परे,
उपलब्धि शाश्वत सनातन पद परम की निश्चित करे ॥८.२८॥

इति अष्टमोऽध्यायः

नवमां अध्याय

राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवान बोले —

अनघ दृष्टि तुझको कहूँ; गृद्ध ज्ञान-विज्ञान ।
अशुभ जगत से मुक्त हो, जायेगा जो जान ॥९.०१॥

विद्याओं में नृप यह राजन; परम गुप्त, उत्तम, अति पावन ।
देता फल प्रत्यक्ष, धरमपय; सुखद, सहज, अविनाशी, अक्षय ॥९.०२॥

श्रद्धा नहि इस धर्म में जिन की; मैं उपलब्धि नहीं हूँ उन की ।
मृत्यु-लोक के चक्र में फंस कर; अर्जुन, करते भ्रमण निरन्तर ॥९.०३॥

मुझ अव्यक्त रूप से, धनुवर; विस्तृत है परिपूर्ण जगत भर ।
सभी जीव मुझ में आधारित; मैं उन में हूँ नहीं अवस्थित ॥९.०४॥

नहीं जीव वे मुझ में सुस्थित; योग-प्रभाव देख मम निश्चित ।
जीव उत्पन्न करूँ मैं पोषित; मम आत्मा उन में न अवस्थित ॥९.०५॥

ज्यों सर्वत्र विचरने वाला; वायु सदा नभ रहने वाला ।
मुझमें सभी जीव हैं वैसे; जान अवस्थित अर्जुन ऐसे ॥९.०६॥

सभी जीव कल्पान्त में अर्जुन; प्रकृति-मध्य मम होंय विसर्जन ।
 कल्प दूसरा जब फिर आता; रचना उनकीं फिर कर जाता ॥१९.०७॥

मायामय निज प्रकृति ग्रहण कर; जीवों का समुदाय जगत भर ।
 निज स्वभाव-वश बेबस सब जन; रचता बार बार मैं, अर्जुन ॥१९.०८॥

उदासीन आसक्ति-रहित हूं; उन कर्मों में यूं सुस्थित हूं।
 इसीलिये मुझको है अर्जुन; कभी न हो कर्मों का बन्धन ॥१९.०९॥

अर्जुन, मम अधिकार में, प्रकृति चराचर-धाम ।
 रचती है, जो घृष्णता, इसी हेतु अविराम ॥१९.१०॥

सब जीवों का महा महेश्वर; परम भाव मम यह मूरख नर ।
 नहीं जानते नर-नन्तन-धारी; करें अनादर मेरा भारी ॥१९.११॥

वृथा-ज्ञान, आशा कर्मों से; लिप्त सदा अज्ञानी जन ये ।
 राक्षस-असुर-प्रकृति को धारे; रहते हैं मोह के वश सारे ॥१९.१२॥

दैवी-प्रकृति-अधीन महामन; जानें सभी जीवों का कारन ।
 पार्थ, जानकर अव्यय अक्षर; अनन्य मन से भजें निरन्तर ॥१९.१३॥

नित्य हृदग्रत साधक बुधजन; यत्नशील मम करते कीर्तन ।
 मुझमें रम प्रणाम नित करते; भक्तिभाव से मुझको भजते ॥१९.१४॥

द्वैत भाव, अद्वैत किसी का; ज्ञान-यज्ञ-पथ महत किसी का ।
 भाति-भाति और बहुत जन; मुझ विराट का करते वन्दन ॥१९.१५॥

श्रौत कर्म यज्ञों का मैं ही, पिंडादान पितरों का मैं ही ।
 औषधि, मंत्र, अग्नि, घृत, आहुति; मैं ही अर्जुन, होम-यजन-कृति ॥

जगत-पितामह, पितु औ माता; धारण कर्ता, पोषण-दाता ।
 ज्ञेय पूत ओंकार स्वयं मैं; यजुर्वेद ऋक् साम स्वयं मैं ॥१९.१७॥

सद्गति सबकी, पोषक, स्वामी, वास, शरण, साक्षी, हितकामी ।
 मैं उत्पति-प्रलय-अवलम्बन; मैं निधान, बीजाक्षर, अर्जुन ॥१९.१८॥

बरसाता, जल रोकता, तपता, अर्जुन, आप ।
 अमृत मैं हूं; मृत्यु मैं, असत् और सत् आप ॥१९.१९॥

छन्द— कर्म करते हैं तीनों वेदों के विधान से,
 पूत पाप-मुक्त सुखी सोमरस पान से ।

यज्ञ द्वारा मुझे पूजते हैं इष्ट जानकर,
 प्रार्थना करें जो स्वर्ग लक्ष्य निज मानकर ।

पुण्यफल से वे इन्द्र-लोक प्राप्त करके,
 भोगते हैं भोग सभी दिव्य सुरपुर के ॥१९.२०॥

वे विशाल दिव्य स्वर्ग लोक को हैं भोगते,
 पुण्य क्षीण होते, मृत्यु लोक को ही लैटते ।

तीनों वेदों के जो ल्ये हैं ऐसे धर्मयोग में,
 आवागमन कामियों को है मिला फल भोग में ॥१९.२१॥

भक्ति अनन्य भाव से जो जन; करते हुए सतत मम चिन्तन ।
 मुझमें रमे भजन मम गाते; योगक्षेम सब मुझसे पाते ॥१९.२२॥

श्रद्धाहीन भक्तिमय जो जन; करें अन्य देवों का पूजन ।
 करते वे भी मम ही वंदन; विधि-विहीन यद्यपि वह, अर्जुन ॥९.२३॥

भोक्ता सब यज्ञों का मैं ही; स्वामी भी लोकों का मैं ही ।
 तत्त्वज्ञान से जान न पाते – मुझको, यूँ ही वे गिर जाते ॥९.२४॥

देव-भक्त सुर भू को पाते; पितर-भक्त पितरों को जाते ।
 भूत-भक्त भूतों को पायें; मेरे भक्त मुझे ही आयें ॥९.२५॥

पत्र-पृष्ठ-फल-जल जो भी जन; भक्तिभाव से करता अर्पण ।
 शुद्ध बुद्धि से जो पाता हूँ; दिया भक्ति से, मैं खाता हूँ ॥९.२६॥

अर्जुन, कर्म करे है तू जो; खान पान और दान हवन को ।
 यज्ञ तपस्या करता जो नित; कर वह सब मुझको ही अर्पित ॥

यूँ संन्यासी-आत्मा योगी; मुक्ति कर्म-बन्धन से होगी ।
 अच्छे-बुरे न फल पायेगा; हो विमुक्त मुझमें आयेगा ॥९.२८॥

सब जीवों में व्याप्त हूँ; रहकर एक समान,
 प्रिय मेरा कोई नहीं, ना ही अप्रिय जान ।
 भक्ति-भाव से तदपि जो, भजते मुझको भक्त,
 वे मुझ में हैं और मैं, भी उन में हूँ व्यक्त ॥९.२९॥

पापी दुष्ट अधम नर भी जो; पूर्ण भक्ति से पूजे मुझको ।
 साधु मानने योग्य, धनंजय; उचित अर्थमय उनका निश्चय ॥९.३०॥

वह धर्मात्मा शीघ्र हो जाता; शाश्वत शान्ति, पार्थ, पा जाता ।
 जान सत्य, यह ज्ञान सही ओ; मेरा भक्त न नष्ट कभी हो ॥९.३१॥

नारी, वैश्य, शूद्र या दुर्जन; याकि अन्य कोई पापी जन ।
 मम शरणागत जो हो जाते; परम मोक्ष गति को वे पाते ॥९.३२॥

राज-ऋषि, द्विज, पुण्यात्मा या; भक्तों की तो बात ही फिर क्या कष्टपूर्ण नश्वर जग
 पाकर, भजन मात्र मेरा ही तू कर ॥९.३३॥

मुझमें तन-मन-भक्ति रमा कर; भक्त प्रणाम मुझे बन्धन कर ।
 हो एकात्म मुझी मैं आश्रित; मुझे प्राप्त होगा तू निश्चित ॥९.३४॥

इति नवमोऽध्यायः

दसवां अध्याय

विभूतियोग

श्रीभगवान बोले –

परम पुण्यमय मम वचन, महाबाहु, सुन और ।
 तव हित को ही कहत हूँ; प्रीति-पात्र तू मोर ॥१०.०१॥

पता न सुरण्ण महर्षियों को; मेरा प्रादुर्भाव किसी को ।
 सभी देवता महर्षियों का; आदि मूल हूँ मैं सब ही का ॥१०.०२॥

अज, अनादि मुझको जो जाने; विश्व-महेश्वर कर पहचाने ।
 सब लोगों में ज्ञानी वह जन; पाप मुक्त होता पावन मन ॥१०.०३॥

बुद्धि-ज्ञान, निर्भमता, सच, दम; क्षमा-दया, सुख-दुख, मन का शम भय और अभय, प्रलय-उत्पत्ति; समता, दान, अहिंसा तृप्ति ।

तप, यश-अपयश भाव सभी ही; जीव-जीव में करता मैं ही ॥

सप्त महर्षि, चार पुरातन; स्वायंभुव-सम चौदह मनुजन ।

मेरे मानस से पैदा सब; जिनकी प्रजा लोक भर में अब ॥१०.०६॥

योगशक्ति औ मम विभूति को; पूर्ण तत्त्व से जाने हैं जो ।

योगयुक्त होता अविचल चित्; संशय इस में कहीं न किंचित् ॥

सब जग का उद्वाह हूँ मैं ही; जग-विकास-प्रेरक हूँ मैं ही ।

मान यही, श्रद्धामय बुद्धजन; निशिदिन करते मेरा पूजन ॥१०.०८॥

प्राण चित्त सुस्थित मुझमें कर; मेरा जान प्रभाव, पररूपर –

करते कथन, तृप्त अति होकर, रमते मुझमें नित्य निरन्तर ॥१०.०९॥

मुझमें सतत लगाकर जो मन; भजते प्रीति सहित हैं जो जन ।

उनको ज्ञानयोग वह देता; जिससे जन मुझको पा लेता ॥१०.१०॥

उनमें हो हृदयस्थ मैं, होकर स्वयं दयाल ।

नष्ट करूँ अज्ञान-तम, ज्ञान-दीप-ध्युति बाल ॥१०.११॥

अर्जुन बोले –

सार्वभौम, प्रभु, धाम परम हो; परम ब्रह्म, शुचि नाम परम हो ।

दिव्य पुरुष, अविनाशी, अजन्मा; शाश्वत आदि देव, भव कर्मा ॥

प्रभु कहते क्रषिजन सब ऐसे; देवल व्यास असित नारद से ।

सभी देवता ऋषि हैं कहते; स्वयं आप भी मुझसे कहते ॥

किया आपने जो कुछ वर्णन – मुझसे, सत्य मानता, भगवन ।

जो व्यक्तित्व आप का केशव; नहीं जानते सुर या दानव ॥१०.१४॥

जीवों के सृष्टा, प्रभु हो तुम; देवदेव जगदीश नरोत्तम ।

स्वयं स्वयं को अपने से ही; आप जानते, पुरुषोत्तम, ही ॥

अपनी दिव्य विभूति सभी ही; कह सकते हैं आप स्वयं ही ।

जिन विभूतियों से हो भूषित, सब लोकों में व्याप्त अवस्थित ॥

चिन्तन करता हुआ निरन्तर; जानूँ मैं कैसे, योगेश्वर ।

मैं किन किन भावों के द्वारा; भगवन, चिन्तन करूँ तुम्हारा ॥१०.१७॥

योग-विभूति स्वयं फिर भगवन; कहें मुझे, कर विस्तृत वर्णन ।

वचन आपके पुण्य सुधा वर; तृप्ति नहीं होती सुन सुन कर ॥

श्रीभगवान बोले –

मेरी दिव्य विभूतियां, अति विस्तृत निश्चेष ।

मैं अब कहता हूँ तुम्हें, जो उनमें सुविशेष ॥१०.१९॥

जीव-जीव के हृदय बसा हूँ; सब जीवों की मैं आत्मा हूँ ।

आदि, मध्य और अन्त सभी ही; सबका गुडाकेश हूँ मैं ही ॥१०.२०॥

आदित्यों में विष्णु महा हूँ; दिनकर ध्युतियों मध्य रहा हूँ ।

मरुतों में हूँ मरीचि अनुपम, नक्षत्रों में शशि सर्वोत्तम ॥१०.२१॥

सामवेद हूं मैं वेदों में; वास्तव इन्द्र और देवों में ।

मन मैं, सभी इन्द्रियों में हूं; शक्ति चेतना जीवों में हूं ॥१०.२२॥

रुद्रगणों में हूं शिवशंकर; यक्ष-राक्षसों में वित्तेश्वर ।

अग्नि स्वयं मैं सब वसुओं में; हूं सुमेरु मैं गिरि शिखरों में ॥१०.२३॥

मुख्य पुरोहित गण मैं मानो; पार्थ, बृहस्पति मुशको जानो ।

वीरस्कन्द सैन्यपति गण वर; जलाशायों में मैं हूं सागर ॥१०.२४॥

महर्षियों में भृगु अनुपम हूं; वचनों में 'ओकार' परम हूं ।

यज्ञों में जपयज्ञ महत्तम; स्थावरों में हिमगिरि उत्तम ॥१०.२५॥

पीपल हूं मैं सब वृक्षों में; नारद मुनि हूं महर्षियों में ।

और चित्ररथ गन्धर्वों में; कपिल देवमुनि मैं सिद्धों में ॥१०.२६॥

अमृत-मंथन से पैदा जो, घोड़ों में उच्चैःश्रवा वो ।

मैं ऐरावत गजगण में हूं; जान, नृपति नरण में हूं ॥१०.२७॥

शस्त्रों में हूं वज्र मैं, कामधेनु गौ मध्य ।

कामदेव सन्तान हित, वासुकि सर्पो मध्य ॥१०.२८॥

शेषनाग मैं नागों में हूं; मैं यमराज शासकों में हूं ।

वरुण जलचरों में हूं इश्वर; पितरों में अर्यमा पितेश्वर ॥१०.२९॥

दैत्यों में प्रह्लाद महा हूं; संगणकों में काल सदा हूं ।

पशुओं में मैं सिंह मृगेश्वर; गरुड पक्षियों में खगेश्वर ॥१०.३०॥

पवन हूं पावन-कर्त्ताओं में; स्वयं राम हूं शत्रवधरों में ।

मत्स्यों में मैं मच्छमगर हूं; नदियों में गंगा शुचिकर हूं ॥१०.३१॥

आदि-मध्य सब सर्गों का क्षय; अर्जुन, मैं ही हूं, यह निश्चय ।

ब्रह्मज्ञान मैं विद्याओं में; वाद-तर्क शास्त्रार्थ विदों में ॥१०.३२॥

आदि अकार अक्षरों में हूं; द्वन्द्व समास समासों में हूं ।

अक्षय काल, विराट मुखों मैं; सबका हूं पालक पोषी मैं ॥१०.३३॥

मृत्यु काल सबका नाशक हूं; भावी जनों का उत्पादक हूं ।

वाक्, मेधा, श्री, कीर्ति, सुस्मृति; क्षमा नारियों में मैं ही धृति ॥

बृहत्साम मैं सामों में हूं; गयत्री मैं छन्दों में हूं ।

मार्गशीर्ष हूं सब मासों में; हूं वसन्त मैं सब ऋतुओं में ॥१०.३५॥

छलियों मैं मैं, पार्थ, जुआ हूं; तेजस्वियों मैं तेज महा हूं ।

विजय और व्यवसाय स्वयं हूं; सान्त्विक जन का सन्त्व परम हूं ॥

वृष्णिगणों मैं कृष्ण मैं, पाण्डवगण मैं पार्थ ।

मुनियों मैं हूं व्यास मैं, कविगण-शुक्र यथार्थ ॥१०.३७॥

दमनशील का दण्ड स्वयं हूं; विजयेच्छुक का नीति-नियम हूं ।

मौन गुह्यभावों का मैं हूं; तत्त्वज्ञान विज्ञों का मैं हूं ॥१०.३८॥

सब जीवों का यूं मैं, अर्जुन; मूल-बीज, कारण, उत्पादन ।

चर औ अचर जीव, हे अर्जुन; नहिं होता कोई मेरे बिन ॥१०.३९॥

दिव्य विभूति-गणों का, अर्जुन; कोई अन्त नहीं है, यह सुन ।

वे विभूतियां अपनी विस्तृत; की संक्षेप रूप में वर्णित ॥१०.४०॥

जो विभूतिमय जगत में, शक्ति-कान्ति सम्पन्न ।

मेरे ही तेजांश से, जान उसे उत्पन्न ॥१०.४१॥

क्या होगा बहुज्ञान से, अर्जुन, यह पर्याप्त ।

एक अंश धारण किये, सब जग को हूँ व्याप्त ॥१०.४२॥

इति दशमोऽध्यायः

ग्यारहवां अध्याय

विराटरूपदर्शनयोग

अर्जुन बोले —

परम गुह्या अस्त्रात्म का, दे उपदेश महान ।

हो कृपालु, मेटा सभी, मेरा मोह-अज्ञान ॥११.०१॥

जीव-जन्म-उत्पत्ति-मरण-ल्य, महत्त्व तब अविनाशी अक्षय ।

सविस्तार मैं ने हे भगवन्, पूर्ण सुना है पंकज-लोचन ॥११.०२॥

आप स्वयं को कहते जैसे; पुरुषोत्तम, सच ही हो वैसे ।

किन्तु चाहता मैं यदुनन्दन, उस ऐश्वर्य-रूप का दर्शन ॥११.०३॥

उस विराट छवि का दिग्दर्शन; यदि सम्पव माने प्रभु का मन ।

तो अविनाशी रूप मनाहेर; अपना दिखलायें, योगेश्वर ॥११.०४॥

श्रीभगवान बोले —

नाना वर्णाकृति वाले मम; दिव्यरूप नाना विध उत्तम ।

शत-शत सहस्र भंति के, अर्जुन, रूपों का अब तू कर दर्शन ॥

आदित्यों को, सब वसुओं को; अश्विनी सुत दोनों रुद्रों को ।

देख मरुत सब अचरजमय ले; कभी नहीं देखे जो पहले ॥११.०५॥

मम देह मैं एकत्र चर, अचर जीव, पद, अर्थ ।

देख सभी जगत और भी, जो हो इच्छा, पार्थ ॥११.०६॥

पर इन निज नयनों से, अर्जुन; कर न सकोगे मेरे दर्शन ।

दिव्य चक्षु देता हूँ तुम को; देखो योग ऐश्वर्य परम को ॥११.०८॥

इस प्रकार से कह कर, राजन; महायोगेश्वर हरि ने उस छन ।

अर्जुन को फैला निज माया; परम ऐश्वर्य-रूप दिखलाया ॥११.०९॥

मुख अनेक अति दिव्य नयन औ; अद्भुत रूप भव्य अनगिन औ।

भूषण दिव्य अनेक विभूषित। दिव्य अनेक शस्त्र से सज्जित ॥

दिव्य माल-पट-सन सुसज्जित; दिव्य गन्ध-लेपों से मंडित ।

वह असीम आश्चर्य भरा सब; रूप विराट देव देखा तब ॥

नभ मैं एक हजार सूरज भी; उगें एक ही साथ न तब भी ।

उन सब की भी ज्योति कदाचित; विश्व-रूप-छवि-सम हो किंचित ॥

भांति-भांति से पृथक विभाजित; सारा जगत हुआ एकत्रित ।

देव-देव-तन मैं इक थल सब; पाण्डु पुत्र ने देखा था सब ॥११.१३॥

रोमांचित, अचरज-चकित, नत-मस्तक, करबद्ध ।

कर प्रणाम श्रीदेव को, अर्जुन बोला शब्द ॥११.१४॥

अर्जुन बोले —

चृन्द

मैं देख रहा हूँ देव, आप के तन में,
सब जीवों के समुदाय, देवता सारे ।
बैठे पदासन पर ब्रह्मा को, शिव को,
ऋषिगण सब, दैवी सर्प कुण्डली मारे ॥११.१५॥

अनगिन हैं प्रभु के उदर, नयन, मुखमंडल,
सब और अनन्त रूप वाले, विश्वेश्वर ।
हे विश्वरूप, तव आदि अन्त नहिं दिखता,
मैं देख न पाता मध्य, परम परमेश्वर ॥११.१६॥

प्रभु मुकुट-गदायुत, चक्र-सुशोभित दिखते,
सब और दीप्तिमय, तेजपुंज, हे भगवन ।
ज्वाला-रवि-सम ध्वितिमान, नयन क्या देखे?
सब दिशि से करता हूँ असीम के दर्शन ॥११.१७॥

हैं आप जानने योग्य परम अक्षर, प्रभु,
आश्रित जिस प्रभु पर यह सब विश्व जगत है ।
हैं धर्म सनातन के रक्षक अविनाशी,
हैं परम सनातन पुरुष, यही मम मत है ॥११.१८॥

नहिं आदि, मध्य औ अन्त, महाबलशाली,
शशि सुर्य नेत्रवाले, ज्वाला-मुख रौरव ।
अनगिन हैं प्रभु के हाथ, तेज से अपने,
मैं देख रहा आपको तपाते यह भव ॥११.१९॥

द्यावा-पृथ्वी के मध्य दिशाये सारी,
हैं मात्र आपसे व्याप्त, महात्मन प्रभुवर ।
यह उग्ररूप आपका देखकर अद्भुत,
सब लोक व्याप्त हैं, कांप रहे हैं थरथर ॥११.२०॥

सब देवों का समुदाय जा रहा प्रभु में,
भयभीत कई करबद्ध कर रहे कीर्तन ।
सब ‘स्वस्ति-स्वस्ति’ कह सिद्ध महर्षिगण हो,
उत्तम स्तोत्रों से करें आपका वंदन ॥११.२१॥

सब रुद्र, साध्य, आदित्य, सिद्ध, अश्विनी द्वय,
वसु, मरुत, यज्ञ, गन्धर्व, पितर औ सारे ।
सब असुरों के समुदाय देखते प्रभु को,
विस्मित हो कर अति, नेत्र फाइ कर सारे ॥११.२२॥

हे महाबाहो, तव बहु मुख, बहु कर, बहु पग,
बहु नयन, उदर बहु-रूप देख जग सब ही ।
विकराल जबाड़ों-जंघाओं वाले को,
व्याकुल हैं अतिशय और व्यथित हूँ मैं भी ॥११.२३॥

नम को छूते अति दीप्त रूप बहुरंगी,
व्यापक-मुख, दीप्त-विशाल-नयन, औ भगवन ।
है देख आपको व्यथित आत्मा वाला,
मैं धैर्य-हीन हूँ, है अशान्त मेरा मन ॥११.२४॥

विकराल डाढ़ वाले तब मुख को ल्ख कर,
जो धधक रहा कालाग्नि-समान महा है ।
देवेश, जगत-आधार प्रमुद हों मुझ पर,
सुख मुझे न दिशि का कोई ज्ञान रहा है ॥११.२५॥

ये सब धूतराष्ट्र-तनय, नृपदल सारे ही,
ये कर्ण, भीष्म औ द्रोण, सभी ये कौरव ।
यौद्धा प्रधान अपने भी दल के सारे,
है निगल रहा सब को ही मुख तव रौरव ॥११.२६॥

विकराल जबाड़ों वाले तब मुखदल मैं,
कितने ही हैं प्रवेश करते द्रुतगति से ।
सिर सहित चूर्ण कुच्छ हुए आपके भगवन,
दांतों के बीच फसे मुझको हैं दिखते ॥११.२७॥

जैसे नदियों के जल-प्रवाह बहुतेरे,
सागर दिशि को ही स्वभावतः जाते हैं,
वैसे ही वीर्यवान शरों के दल ये,
आपके धधकते मुखदल में आते हैं ॥११.२८॥

प्रज्जवलित शिखा की ओर नष्ट होने को,
अति वेग पूर्ण दौड़ पतांग जाते हैं ।
वैसे ही ये सब लोग नष्ट होने को,
आपके मुखों में दौड़-दौड़ आते हैं ॥११.२९॥

प्रज्जवलित मुखों का अपने ग्रास बना कर,
हैं चाट रहे सब लोक आप, हे भगवन –
सब ओर चाव से, तपा रही सारा जग,
आपकी उग्र ध्युति भरे तेज से त्रिभुवन ॥११.३०॥

करता प्रणाम मैं, देवश्रेष्ठ, खुश होवें,
हैं उग्ररूप प्रभु कौन आप, बतलायें ।
मैं, आदिरूप आप का जानना चाहता,
अनभिज्ञ दिव्य तव कृति से हूँ, समझायें ॥११.३१॥

श्रीभगवान बोले –

मैं उग्ररूप महकाल लोक नाशक हूँ;
इस समय मारने इन लोगों को आया ।

हैं शत्रुपक्ष में ये जो भी यौद्धागण,
तुझ बिन भी जीवित रहे न उनकी काया ॥११.३२॥

इसलिये खड़ा हो तु यश को पाने को,
त् भोग राज-समृद्धि विजय पा अरि पर ।
ये सब पहले ही मरे हुए हैं मुझसे,
हे सव्यसाचि, त् हो जा मात्र निमित भर ॥११.३३॥

सब द्रोण, भीष्म, जयद्रथ औ कर्ण महारथ,
औ अन्य बहुत से मृत हैं मेरे द्वारा ।
इसलिये युद्ध कर, मार शूरीरों को,
रण में जीतेगा शशु, न हो भय-मारा ॥११.३४॥

संजय बोले –

सुनकर केशव के वचन मुकुटधारी वह,
करबद्ध कांपता अर्जुन नमस्कार कर ।
भयभीत और भी फिर प्रणाम कर हरि को,
बोला विनीत वाणी से गदगद हो कर ॥११.३५॥

अर्जुन बोले –

हे हृषीकेश, यह उचित सर्वथा ही है,
जग हर्षित अनुरागी है तब बन्दन कर ।
करते प्रणाम हैं सभी सिद्धगण, राक्षस –
भागते दिशाओं में प्रभु से डर कर ॥११.३६॥

कैसे न आपको करें प्रणाम महात्मन,
हैं ब्रह्मा के भी श्रेष्ठ आदिकर्ता वर ।
देवेश, जगत-आवास, यहां जो भी है,
सत्-असत् परे उनसे भी प्रभु ही अक्षर ॥११.३७॥

हैं आदि पुरातन आप स्वयं ही भगवन,
हैं आदिदेव आधार परम जगती के ।
हे अनन्त छवि, हैं ज्ञेय आप ज्ञानी भी,
हैं परमधाम, प्रभु, विश्व व्याप्त है जिससे ॥११.३८॥

हैं वायु, अग्नि, यमराज, वरूण, शशि, प्रभुवर,
हैं प्रजा-ईशा, ब्रह्मा औ पितामह उनके ।
है बारम्बार प्रणाम कोटिशः प्रभु को,
औ नमस्कार हर बार ईश त्रिभुवन के ॥११.३९॥

हे अनन्त प्रभुता-पुंज, नमन आगे से,
पीछे से प्रभु को नमन, परम सर्वात्मन ।
जो सर्वरूप हैं विश्व-व्याप्त होने से,
हर दिशि से प्रभु को नमन अमित विक्रमधन ॥११.४०॥

निज सखा मान कर मैं ने, हे प्रभु, अपना,
प्रभु-महिमा से अनभिज्ञ, प्रेमवश अथवा ।
या यह प्रमाद था हठ मेरा, जो मैं ने,
हे कृष्ण, हे सखे, कहा कि हे यादव या ॥११.४१॥

अथवा हे अच्युत, हास-भाव से मैं ने,
आसन-विहार-शैया या भोजन-थल पर ।
एकाकी अथवा मित्रगणों के सम्मुख,
अपमानित प्रभु है किया, अचिन्त्य, क्षमा कर ॥११.४२॥

हैं पिता चराचर जग के, गुरु गुरुतर से,
अति पूज्य आप हैं, प्रभाव तव अनुपम वर ।
तीनों लोकों में आप समान कहीं भी,
है और न कोई, कहां भला फिर गुरुतर ॥११.४३॥

काया चरणों में रख, प्रणाम कर करता,
सुस्तुत्य ईशा, बन्दन प्रसन्न होने को ।
ज्यों पिता पुत्र को, मित्र मित्र को पति औ,
पत्नी को देता क्षमा, देव, दें मुद्दको ॥११.४४॥
पहले जो देखी नहीं, देख उस छवि को,
मैं हर्षित हूँ, पर भय से अति व्याकुल मन ।
हे देव परम देवेश, जगत के आश्रय,
होकर प्रसन्न दें पूर्व-रूप में दर्शन ॥११.४५॥

सिर-मुकुट, गदामय चक्र हाथ में शोभित,
मैं, हरि, चाहता हूँ, वैसे ही प्रभु-दर्शन ।
हे विश्वरूप, हे सहस्रभुज, अब होकर –
उस रूप चतुर्भुज में आये, हे भगवन ॥११.४६॥

श्रीभगवान बोले –

निज योगशक्ति से परम तेजमय मैं ने,
तुझ पर प्रसन्न हो, अति कृपालु, हे अर्जुन ।
दिखलाई आदि अनन्त विश्व छवि, जिसके –
तुझसे पहले नहिं हुए किसी को दर्शन ॥११.४७॥

हे अर्जुन, तेरे सिवा न भू पर मेरा,
यह रूप यज्ञ से, वेद पाठ, दानों से ।
या उग्र तपों से अन्य कियाओं से या,
देखा जाना सम्भव नहीं अन्य जनों से ॥११.४८॥

यह देख परम विकराल रूप व्याकुलता,
तुझ मैं विमृद्धता-भाव न होवे, अर्जुन ।
हो भय विहीन अति प्रीति हृदय वाल तु ;
कर पूर्व रूप का मेरे फिर से दर्शन ॥११.४९॥

संजय बोले –

यह कह अर्जुन को वासुदेव ने फिर से,
अपना पहला वैसा ही रूप दिखाया ।
फिर सौम्य मृति हो कर महात्मा हरि ने,
भयभीत हुए अर्जुन को धैर्य दिलाया ॥११.५०॥

अर्जुन बोले –

दोहा – हे जनार्दन देख यह, तव प्रशान्त नररूप ।

हो सचेत मैं पा गया, अपना सहज स्वरूप ॥११.५१॥

श्रीभगवान बोले –

तुमने मम रूप के दर्शन, किये, बहुत दुर्लभ वह, अर्जुन ।

स्वयं देवता नित्य तरसते; यही रूप-दर्शन-इच्छा ले ॥११.५२॥

नहीं तपस्या से, वेदों से; नहीं दान से या यज्ञों से ।

सम्पव है मेरा यह दर्शन; जो तुम ने पाया है, अर्जुन ॥११.५३॥

मात्र अनन्य भक्ति से, अर्जुन; तत्त्व ज्ञान को मम यह दर्शन ।

एक भाव होने को, पाण्डव, मममय होने को है सम्पव ॥११.५४॥

मेरे लिये कर्म करता जो; मुझ में रम, मम भक्त रहा जो ।

अनासक्त निर्वैर सभी में; पाता है, हो एक मुझी में ॥११.५५॥

इति एकादशोऽध्यायः

बारहवां अध्याय

भक्तियोग

अर्जुन बोले –

योगश्रेष्ठ को तव करे, चिर पूजा जो भक्त ।

या उत्तम, जो पूजते, अविनाशी, अव्यक्त? ॥१२.०१॥

श्रीभगवान बोले –

मुझ में मन एकाग्र करे जो; अति श्रद्धा से मुझे भजे जो ।

योगिजनों में वे अति उत्तम; मात्य पुरुष मुझको सर्वोत्तम ॥१२.०२॥

सब इन्द्रियों को वश में कर, सर्वव्याप्त ध्रुव निश्चल अक्षर ।

चिन्तनीय कथनीय नहीं जो; नित्य एकरस को भजते जो ।

सर्वजीव-हित-रत समभावी; प्राप्त करेंगे मुझको वे भी ॥१२.०३-०४॥

मन अव्यक्त-भक्ति में जिसका, कलेश विशेष अधिक श्रम उसका ।

गति अव्यक्त विषम, देहधारी – पाता करके विपदा भारी ॥१२.०५॥

सब कर्मों को मुझको अर्पण; मम मय हो मेरा ही पूजन ।

करते ध्यान अनन्य चिरन्तन; मुझमें लगा पूर्ण जिनका मन ।

सागर शीघ्र मृत्यु-संसारा; उन भक्तों का मैं ही तारा ॥१२.०६-०७॥

मनस-बुद्धि मुझमें लगा, मम चिन्तन हर सांस ।

निस्संदेह तुम्हें मिले, तब मुझमें ही वास ॥१२.०८॥

मुझमें धरने में निश्चल मन, हो सामर्थ्य न यदि हे अर्जुन ।

तो अभ्यासयोग से मुझको; पाने की इच्छा हो तुझको ॥१२.०९॥

नहिं अभ्यासयोग में भी क्षम; ममहित कर्म-परायण हो तुम ।

करते कर्म सभी मेरे हित; प्राप्त सिद्धि को होगे निश्चित ॥१२.१०॥

यदि यह भी तुम नहिं पाओ कर; आत्मजयी मम आश्रित होकर ।

करो योग आसक्त रहित हो; सभी कर्मफल-इच्छा त्यागो ॥१२.११॥

श्रेष्ठ ज्ञान अभ्यास से, श्रेष्ठ ज्ञान से ध्यान ।

उससे गुरु फलत्याग है, करता शान्ति प्रदान ॥१२.१२॥

द्रेषहीन सब जीव-सखा हो; करुणावान, न मद-ममता हो ।

सुख-दुख एक समान जिसे हो; क्षमाशील जो मनुज महा हो ॥१२.१३॥

योगी जो सन्तुष्ट निरन्तर, आत्मजयी संयमी महत्तर ।

दृढ़निश्चयी, मनस-धी अर्पित – मुझको, प्रिय वह भक्त मुझे नित ॥

क्लेश न पाता लोक से, लोक न जिससे क्लेश ।

हर्ष-अमर्ष न क्रोध-भय, प्रिय मम भक्त हमेशा ॥१२.१५॥

इच्छा-रहित, कुशल, पावन मन; पक्षपात से रहित, सुखी जन ।

अनासक्त अभिमान न घेरा; भक्त वही अति प्रिय है मेरा ॥१२.१६॥

द्रेषहीन, नहिं सुख में हर्षित; इच्छाहीन, शोक नहीं किंचित ।

सब शुभ-अशुभ कर्मफल त्यागी; भक्तिपूर्ण मम प्रिय बड़भागी ॥

शत्रु-मित्र औ मान-निरादर, सुख-दुख, शीतल-गरम बराबर ।

जिसको, जो आसक्ति-रहित अति; समान जिसे हो निन्दा-संसुति ॥

हर प्रकार संतुष्ट सदा ही; मननशील अनिकेत महा ही ।

सुस्थिर बुद्धि, भक्तिमय तन-मन; वह नर मुझको अति प्रिय, अर्जुन ॥

धर्म-सुधा जो यह प्रस्तुत की; श्रद्धावान पुरुष जिस ने पी ।

स्वयं प्राप्य उनको, मममय वे; भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय वे ॥१२.२०॥

इति द्वादशोऽध्यायः

तेरहवां अध्याय

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

श्रीभगवान बोले –

कौन्तेय, तन क्षेत्र यह, कहते ऐसा विज्ञ ।

जो इस को है जानता, कहलाता क्षेत्रज्ञ ॥१३.०१॥

क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी, भारत, मुझ को जान ।

ज्ञान क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का, मेरे मत में ज्ञान ॥१३.०२॥

जो है क्षेत्र और है जैसा; किस कारण विकारमय वैसा ।

सप्तभाव क्षेत्रज्ञ का वर्णन; थोड़े में मुझसे सुन, अर्जुन ॥१३.०३॥

गाया भांति भांति ऋषियों ने; पृथक पृथक श्रुति के मंत्रों ने ।

युक्तियुक्त निश्चय करके औ; गाते ब्रह्मसूत्र पद उसको ॥१३.०४॥

मूल प्रकृति, महाभूत, अहं औ; बुद्धि और दस इन्द्रियां, मन औ ।

पांच इन्द्रियों के और विषय; इच्छा-द्रेष, पिण्ड, देह-संचय ।

धैर्य चेतना, सुख-दुख, अर्जुन; यह सविकार क्षेत्र लघु-वर्णन ॥

निरभिमान, मन-वचन सरलता; क्षमा, अहिंसा, दम्प-रहितता ।

गरु सेवा, तन-मन की शुचिता; मन-इन्द्रिय-निग्रह, सुस्थिरता ॥

इन्द्रिय-भेग-विराग चिरन्तन; अहंकार से शून्य सरल मन ।

जन्म, बुद्धापा, दुख औ मरना; रोग-दोष का चिन्तन करना ॥

पत्नी, पुत्र, भवन औ धन में; अनासक्ति, ममता नहिं मन में ।
 इष्ट-अनिष्ट प्राप्त करके जन; एक समान नित्य निश्चल मन ॥

अनन्य योग से अति अविकारी; भक्ति मुझी में शुचितम् सारी ।
 शुद्ध एकान्त-देश-सेवन नित; जन-समुदाय-राग नहिं किंचित् ॥

नित्य अध्यात्म-ज्ञान में तन-मन; तत्त्वज्ञान हित प्रभु का दर्शन ।
 यही ज्ञान, इसका उल्टा जो; कहा गया अज्ञान उसीको ॥

जो है ज्ञेय, जिसे औ पाकर; प्राप्त अमरता को करता नर ।
 कहता हूं, जो आदि-रहित है; परम ब्रह्म सत् न ही असत् है ॥

हैं सब ओर हाथ पग उसके; नेत्र, कान, मुख, शिर सब दिशि से ।
 पूर्ण लोक में पूर्ण अवस्थित; सब में व्याप्त, घेर सबको नित ॥

इन्द्रिय-गुण सब जानता, सर्व-इन्द्रिय-विहीन ।
 अनासक्त, जग पालता, निर्गुण वह गुण-लीन ॥१३.१४॥

सब जीवों के भीतर-बाहर, विद्यमान है, अचर वही चर ।
 सूक्ष्म रूप, जाने नहिं कोई; अति समीप, अति दूर है वो ही ॥१३.१५॥

है अविभक्त, प्राणियों में पर; अलग-अलग सा है परमेश्वर ।
 ज्ञेय वही, पालक-नाशक भी; ब्रह्मरूप में उत्पादक भी ॥१३.१६॥

ज्योति-ज्योति की ज्योति परम वह; तम से परे ज्ञान अनुपम वह ।
 सब मन बसा ज्ञेय है वो ही; तत्त्वज्ञान से मिलता सो ही ॥१३.१७॥

क्षेत्र, ज्ञेय औ ज्ञान का, वर्णन यह संक्षिप्त ।
 जान जिसे भक्त हो, मम स्वरूप में लिप्त ॥१३.१८॥

प्रकृति-पुरुष दोनों सतत, हैं अनादि, त् जान ।
 प्रकृति-जात ही गुण तथा, सब विकार त् मान ॥१३.१९॥

कार्य-करण-उद्ग्रह का कारन; प्रकृति मात्र को कहते, अर्जुन ।
 सुखों दुखों के भोक्तापन का; कारन पुरुष, कथन बुधजन का ॥

पुरुष प्रकृति में रमा हुआ रे; भोगे प्रकृति-जात गुण सारे ।
 गुण-संयोग जन्म का कारन; अच्छी-बुरी योनि में, अर्जुन ॥१३.२१॥

रह इस तन में पुरुष कहाता; द्रष्टा, भर्ता, सम्पति दाता ।
 भोक्ता, परमात्मा, महेश्वर, नाम अनेक इसे देते नर ॥१३.२२॥

प्रकृति गुण सहित और पुरुष को; तत्त्वरूप से जाने जन जो ।
 कैसा भी व्यवहार करे वह; पुनर्जन्म तन फिर न धरे वह ॥१३.२३॥

आत्म-बुद्धि से कोई देखें; आत्म-ध्यान से हृदय विलोकें ।
 सांख्ययोग से देखें बहुजन; कर्मयोग से करते दर्शन ॥१३.२४॥

किन्तु अन्य अनजाने इन से; भजते हैं सुनकर औरों से ।
 श्रवण-परायण वे सब भी नर; करते पार मृत्यु का सागर ॥१३.२५॥

जो भी वस्तु जगत में पैदा; होती है चर और अचर या ।
 क्षेत्र-क्षेत्री संयोग ही कारन; सभी सृष्टि का जानो, अर्जुन ॥१३.२६॥

सब नश्वर जीवों में जो नर; देखे अविनाशी परमेश्वर ।
 तुल्यभाव से पूर्ण अवस्थित; वही देखता सत्य सुनिश्चित ॥१३.२७॥

समता-भाव-पूर्ण हो जो नर; व्याप्त सभी में देखे ईश्वर ।
नष्ट स्वयं को स्वयं न करेगा; परम मोक्षगति प्राप्त करेगा ॥१३.२८॥

प्रकृति कर्म सब कर रही, आत्म अकर्ता नित्य ।

जो जन ऐसा देखता, वही देखता सत्य ॥१३.२९॥

अलग भाव जीवों के सारे; आधारित एक में विचारे ।
है विस्तार एक ही का सब; देखे, ब्रह्म-प्राप्ति होती तब ॥१३.३०॥

होने से अनादि औ निरगुन; यह अविनाशी प्रभु, हे अर्जुन ।

यद्यपि तन में रमता है वह; अलिप्त, कुछ नहि करता वह ॥१३.३१॥

सर्वव्यापी सूक्ष्म होने से; लिप्त नहीं होता नभ जैसे ।

वैसे ही सब देहों में रह; आत्मा लिप्त नहीं होती यह ॥१३.३२॥

एक मात्र ही रवि जैसे नित; करता यह सब लोक प्रकाशित ।

यूं क्षेत्रज्ञ क्षेत्र पूरा ही; अर्जुन, ज्योतित करे सदा ही ॥१३.३३॥

क्षेत्र-क्षेत्री के यूं अन्तर को; जीव-प्रकृति से मुक्ति सुपथ को ।

ज्ञान-चक्षु से जौ जानेंगे; परम ब्रह्म को वे पा लेंगे ॥१३.३४॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः

चौदवां अध्याय

गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवान बोले —

परम सिद्धि को पा गये, मुनि सब जिसको जान ।

फिर से कहता हूं परम, ज्ञानोत्तम वह ज्ञान ॥१४.०१॥

इसी ज्ञान का आश्रय पाकर; मेरा ही स्वरूप अपनाकर ।

जन्म न लेते सृष्टि-उदय में; व्यथित न होते लोक-प्रलय में ॥१४.०२॥

प्रकृति योनि है मेरी, अर्जुन; ब्रह्म रूप यह, जिस में धारन ।

करूं गर्भ, जिस ये जीवों की; पैदायश है, पार्थ, सबों की ॥१४.०३॥

योनि-योनि में मूरत जो भी; महत-ब्रह्म है योनि सभी की ।

बीजों का करके प्रस्थापन; पिता सभी इनका मैं, अर्जुन ॥१४.०४॥

हुए प्रकृति से ही हैं, अर्जुन; सत्त्व, रजस, तम तीनों ही गुन।

हैं शरीर में बांध रहे जो; इस अविनाशी जीवात्मा को ॥१४.०५॥

हे निष्पाप, सन्त्वगुण इस थल; द्युतिकर, निर्विकार हो निर्मल ।

ज्ञान, सुखों से करके मोहित; कर लेता जीवों को बन्धित ॥१४.०६॥

रागरूप यह जान रजोगुन; कामासक्ति-ज्ञात, हे अर्जुन ।

कर्मफलों से कर आकर्षित; जीवात्मा को करता बन्धित ॥१४.०७॥

तमस अज्ञान-जात है, अर्जुन; मोहित करता है जो सब जन ।

नीन्द, प्रमाद, अल्पता दे कर; लेता जीवात्मा बन्धित कर ॥१४.०८॥

सुख-संलग्न करे हैं सत्तगुन; लिप्त कर्म में करे रजोगुन ।

करके ज्ञान पूर्ण आच्छादित; करे तमोगुण प्रमाद-प्रेरित ॥१४.०९॥

दबा रजस तम गुण को, अर्जुन; उत्रति को पाता है सत्तगुन ।

सत्त्व, रजस गुण दब, तम बढ़ता; दबा सत्त्व तम को रज चढ़ता ॥

सब इन्द्रियों में देह की, जब हो ज्ञान-उजास ।

यह जानो तब सत्त्वगुण, का है हुआ विकास ॥१४.११॥

बढ़े रजोगुण जब, हे अर्जुन, होता लोभ-प्रवृत्ति-प्रवर्द्धन ।

कर्मों का आरम्भ अस्थिरता; भोग-लालसा में मन बढ़ता ॥१४.१२॥

बढ़े तमोगुण, जब कुरुनन्दन; घिरता है अज्ञान-तमस-धन ।

आलस, मोह, प्रमाद अ-करतब; पैदा हो जाते हैं ये सब ॥१४.१३॥

हो उत्कर्ष सत्त्वगुण का जब; देही अगर देह त्यागे तब ।

शुभकर्मी लोगों का उत्तम; पाता दिव्य लोक पावनतम ॥१४.१४॥

बढ़े रजोगुण, तब मरने पर; कर्मासक्त जनों में हो नर ।

प्राण तमोगुण में जो खोता; पैदा मृद्योनि में होता ॥१४.१५॥

पुण्यकर्म का सात्त्विक फल है; श्रेष्ठ ज्ञानमय अति निर्मल है ।

दुख राजस कर्मों का फल है; तामस का अज्ञान कुफल है ॥१४.१६॥

जन्म ज्ञान को सत्त्वगुण देता; और रजोगुण लोभ-प्रणेता ।

मोह, अज्ञान, प्रमाद तमोगुण; पैदा करता है, हे अर्जुन ॥१४.१७॥

सात्त्विक जन ऊपर जाते हैं; राजस मध्यलोक पाते हैं ।

नीच वृत्ति में रत तामस नर; प्राप्त अधोगति को हों पामर ॥१४.१८॥

द्रष्टा जब सिवाय ग्रिगुणों के; कर्ता अन्य न और विलोके ।

परे गुणों से जाने ईश्वर; मम स्वरूप पा लेता तब नर ॥१४.१९॥

दह-उत्पत्ति-मूल ये कारण; पुरुष लाय ले जब तीनों गुण ।

जन्म-मृत्यु-दुख और बुद्धापा; छूट सभी से, प्रभु को पाता ॥१४.२०॥

अर्जुन बोले –

प्रभु, इन तीनों गुणों से, पार हुआ जो मुक्त ।

उस नर का क्या आचरण, वह किन लक्षण-युक्त ॥१४.२१॥

श्रीभगवान बोले –

मोह, प्रवृत्ति, प्रकाश को पाकर; द्वेष नहीं उन से करता नर ।

और मुक्त निवृत हो उन से; भरा न उनकी आकांक्षा से ॥१४.२२॥

हो तत्त्वस्थ सा स्वयं अवस्थित; नहीं गुणों से होता विचलित ।

जान कि कर्म करे गुण हीं सब; अडिग रूप, प्रभु में थिर मानव ॥

आत्म-स्थित, सुख-शोक बराबर; सम हैं मिट्टी, सोना पत्थर ।

धीर जिसे प्रिय-अप्रिय हैं सम; निज-निन्दा-प्रशंसा सब हैं हैं सम ॥

मान-अपमान समान जिसे हैं; वैरी मित्र एक जैसे हैं ।

कर्तापन-मद त्याग चुका है; गुणातीत नर वही कहा है ॥

निश्चल भक्तियोग से जो नर; भजता मुझको नित्य निरन्तर ।

गुणातीत जो पूर्ण हुआ है; ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य महा है ॥१४.२६॥

अमृत, पारब्रह्म औ अव्यय; मैं ही हूं इन सब का आश्रय ।

सुख ऐकान्तिक, धर्म सनातन; स्रोत सभी का मैं ही, अर्जुन ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः

पन्द्रहवां अध्याय
पुरुषोन्तमयोग

ऊर्ध्वमूल शाखा अधम, अव्यय पीपल वृक्ष ।

पत्ते जिस के वेद हैं, जो जाने श्रुति दक्ष ॥१५.०१॥

विषय-भोग-कोंपल दल वाली; गुण-जल से नित बढ़ने वाली ।

यो निरूप शाखायें, अर्जुन; ऊपर नीचे फैली अनगिन ॥

कर्म-अनुसार बांधने वाली; जड़े वासना-ममता शाली ।

ऊपर नीचे बहु विस्तारित; मनुज लोक में व्याप्त अपरिमित । 2

जैसा इसका रूप कहा है, वैसा पाया नहीं गया है ।

आदि अन्त इसका नहिं किंचित्, भली प्रकार जो नहीं अवस्थित 3

गहन मूल दृढ़ यह तरु पीपल; काटे जग-विरक्ति अस्मि-सम्बल ।

फिर खोजे भली भाँति परम पद; आते नहीं जिसे पा फिर जग।

उस ही आदि पुरुष का आश्रय, सोचे, उसे मिला है अक्षय ।

जिससे विस्तृत हुई पुरातन; वृक्ष-विभूति विश्व में हर कन । 4

मान-मोह-प्रभुति से निवृत; राग द्वेष कर चुके पराजित ।

जो अध्यात्म-अवस्थित शाश्वत; पूर्व कामनाओं से निवृत ।

अविनाशी पद वे पाते हैं; लौट न फिर जग में आते हैं । 5

कभी सूर्य से वह न प्रकाशित; अग्नि-चन्द्र से वह न प्रभासित ।

जाकर जहां न लौटे फिर जन; परमधाम मेरा वह अर्जुन । 6

जीवलोक में अंश सनातन; जीवात्मा मेरा ही, अर्जुन ।

मन षट् इन्द्रिय प्रकृति-अवस्थित; करता है वह ही आकर्षित । 7

सुमन-सुमन से गंध पवन ज्यों; और जगह ले जाती है त्यों ।

जीवात्मा तन त्याग पुरातन; मनेन्द्रियां ले जाता नव तन ।

त्वचा, कान, रसना, नयनों का; आश्रय ले मन नासेन्द्रियों का ।

जीवात्मा भोगता विषय हर; उसे न देखे अज्ञानी नर । 9

ज्ञान-चक्षु जो बुध जन रखते; केवल वही देख हैं सकते ।

तन-त्यागते, भोगते, सुस्थित; तीन गुणों से हुए समन्वित ।

हृदयस्थित आत्मा के दर्शन; करते यत्नशील योगीजन ।

अशुद्ध-मन, अविवेकी मानव; करें प्रयत्न, न दर्शन सम्भव ।

तेज सूर्य में अवस्थित, करें प्रकाशित लोक ।

अर्जुन, मेरा जान त्; चन्द्र-अनल-आलोक ॥१५.१२॥

आत्मशक्ति से मैं प्राणीगण; भू-प्रवेश कर करता धारण ।

बन कर चन्द्र और रसधारी; पुष्ट करुं औषधियां सारी ।

जीव-तनों में बन वैश्वानर; प्राण-अपान-वायुमय होकर ।

मैं ही अन्न चतुर्विध खाता; अग्नि रूप में उन्हें पचाता ।

सब के हृदय-अवस्थित हूं मैं; समाधान, ज्ञान, स्मृति हूं मैं ।

मैं ही हूं वेदान्त-प्रणेता; वेद-ज्ञेय, वेदज्ञ सचेता ।

क्षर-अक्षर दो भांति के, पुरुष बसे इस लोक ।

जीव सभी क्षर, आत्मा, अक्षर कहता लोक ॥१५.१६॥

उत्तम पुरुष अन्य इन से है; जग-पोषक त्रैलोक्य-बसे है ।

परमात्मा, अविनाशी, ईश्वर; कहते ऐसे उसको हैं नर ।

क्योंकि मैं अतीत हूँ क्षर से; और उत्तम हूँ मैं अक्षर से ।

यूँ ही पुरुषोत्तम लोकों में, मैं प्रसिद्ध हूँ सब वेदों में । 18
हे भारत, यूँ ज्ञानी निप्रम; मुझे जानता है पुरुषोत्तम ।

वह सर्वज्ञ सतत पूरे मन, करता भजन मनन मम पूजन ।

हे निष्पाप, निष्कलुष अर्जुन; ज्ञान गुद्यतम का जो वर्णन —

मैं ने किया, जान वह प्राणी; हो जाता कृतार्थ औ ज्ञानी । 20

इति पञ्चदशोऽध्यायः

सोलहवां अध्याय

दैवासुरसंपदविभागयोग

श्रीभगवान बोले —

अभय, दान, चिरशुद्धि हृदय की, सुस्थित ज्ञानयोग निश्चय की ।

इन्द्रिय-दमन, सरलतम तन-मन; यज्ञ, त्याग, स्वाध्याय, तपोधन ॥

सत्य, अहिंसा, काम न तृष्णा, लज्जा, जीव-जीव प्रति करुणा ।

शान्ति, अक्रोध, अनिन्दा, कोमल — भाव, वृत्ति औ पूर्ण अचंचल ॥

तेज, क्षमा, धृति, शुचिता पावन, निरभिमानता, द्रोह नहीं मन ।

भारत, ये लक्षण शुचि मन के, दैवी-सम्पदा-प्राप्त सुजन के ॥

दम्प-दर्प, अभिमान-बहुलता; क्रोध, अज्ञान, वचन की कटुता ।

असुर-सम्पदा-प्राप्त असज्जन, अभद्र जन के लक्षण, अर्जुन ॥१६.०४॥

दैवी-सम्पत्त मोक्ष दे, आसुरी बन्धन-अर्थी

दैवी-सम्पत्त-प्राप्त है, शोक न कर त्; पार्थ ॥१६.०५॥

आसुर दैव द्विभावी हैं जन; लोक बसा है जिन से, अर्जुन ।

पूर्ण रूप से दैव बखाना; मुझसे सुनो आसुरी बाना ॥१६.०६॥

क्या करना है, क्या नहिं करना; नहीं जानते आसुरी-धर्म ।

शुचिता, शिव आचार न उन में; सत्य-वचन-व्यवहार न उन में ॥

आश्रय-ईश-हीन, झूठा भव; कहते वे, संयोग-जनित भव ।

भोग-हेतु ही लोक बना है; इसके सिवा और कुछ क्या है? ॥१६.०८॥

मिथ्या ज्ञान धार कर ऐसे; नष्टात्मा मूरख नर वैसे ।

क्रर-कर्म पर-अहित-धंसे वे; जगत-नाश के लिये हुए वे॥१६.०९॥

दम्प-मान-मद-पूर्ण असज्जन; अति अलभ्य कामना लिये मन ।

असत्-आग्रही मोहवश होकर; भ्रष्ट-आचरण में जीते नर ॥१६.१०॥

जीते वे ले आमरण, चिन्ता अमित, अशान्त ।

विषय-भोग ही सुख परम, जिन का है सिद्धान्त ॥१६.११॥

आशाओं के शत-शत बन्धन; काम-क्रोध से ग्रस्त चिरन्तन ।

विषय-भोग-हित अनीति बरते; धन-संचय की चेष्टा करते ॥१६.१२॥

प्राप्त हुआ है आज मुझे यह; सिद्ध मनोरथ होगा कल वह ।
 मेरे पास आज धन इतना; और मिलेगा जाने कितना ॥१६.१३॥

आज शत्रु मैं ने यह मारा; करूँ और का भी निस्तारा ।
 मैं ही भोगी, मैं ही ईश्वर; हूँ बलवान्, सुखी, सिद्धेश्वर ॥१६.१४॥

अति धनवान्, कुलीन, कुटुम्बी; मेरे जैसा नहिं कोई भी।
 यज्ञ-दान कर हूँगा हर्षित; वे हैं यूँ मृदुता-विमोहित ॥१६.१५॥

भांति-भांति से भ्रमित चित्, मोह-जाल्सम्पूर्कत ।
 घोर नरक मैं वे गिरें, विषय-भोग आसक्त ॥१६.१६॥

आत्म-प्रशंसक, घोर घमण्डी, धन-अभिमान-भरे पाखण्डी ।
 विधिविहीन अपकर्म करें वे; नाम मात्र के यज्ञ करें वे ॥१६.१७॥

अहंकार-बल-दर्प-भरे वे; काम-क्रोध मैं गहन धंसे वे ।
 परनिन्दक, द्वेषी मेरे ही; जो तन मैं उन के, सब के ही ॥१६.१८॥

द्वेषी, क्रर, अधम, पापी नर; उन को बारम्बार निरन्तर ।
 गिरा रहा हूँ मैं जग माहीं; आसुर नीच योनियों मैं ही ॥१६.१९॥

जनम-जनम मैं वे मतिहारे; योनि आसुरी गिरें विचारे ।
 मुझको कभी न, अर्जुन, पाते; फिर हैं घोर अधम गति जाते ॥

काम, क्रोध अरु लोभ हैं, त्रिविध नरक के द्वार ।
 नर यूँ तीनों ये तजे, आत्म-विनाशन हार ॥१६.२१॥

तीनों नरक द्वार तज, अर्जुन; मुक्त हो गया है जो भी जन ।
 निज-कल्याण-आचरण करता; जिससे प्राप्त परमगति करता ॥

त्याग शास्त्र-विधि जो भी, अर्जुन; मनमाने ही कर्म करे जन ।
 नहीं सिद्धि वह प्राप्त करेगा; न ही परम गति-सौख्य वरेगा ॥१६.२३॥

कार्य-अकार्य करे जब निर्णय; शास्त्र प्रमाण जान तू निश्चय ।
 शास्त्र-विधान-नियत विधि-सम्पत्, हैं करणीय कर्म तेरे हित ॥

इति षोडशोऽध्यायः

सत्रहवां अध्याय
श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन बोले –
 श्रद्धारत पूजें, तजें, शास्त्र-रीति सर्वत्व ।
 उन की निष्ठा कौन हरि, तमस, रजस या सत्त्व ॥१७.०१॥

श्रीभगवान बोले –
 जन्मजात संस्कार-जनित जो; तीन प्रकार की है श्रद्धा वो ।
 सात्त्विक, राजस, तामस, अर्जुन; सभी प्रकार की वह मुद्दासे सुन ॥

श्रद्धा सत्त्व-अनुरूप सभी की; मानव स्वयं मूर्ति श्रद्धा की ।
 श्रद्धा जैसी जिसकी, अर्जुन; वैसा ही वह स्वयं बने जन ॥१७.०३॥

सात्त्विक जन पूजें देवों को; राजस यक्षों को, असुरों को ।
 अन्य मनुज जो हैं तामस जन; करते भूत प्रेत का पूजन ॥१७.०४॥

हीन शास्त्र-विधि से हो जो जन; तपते घोर तपस हैं निशि दिन ।
अहंकार और दम्प-भरे जो; काम-राग-बल-दर्प घिरे जो ॥
तन में व्याप्त पंचभूतों को; अन्तर्यामी मुझको भी जो ।
कष्टदायी हैं, वे मूरख जन; निश्चित जान, आसुरी, अर्जुन ॥

यज्ञ, भोज, तप, दान भी, प्रिय जन-रुचि अनुसार ।

इनके भेदों को सुनो, सब के ही तीन प्रकार ॥१७.०७॥

बुद्धि सात्त्विक, आयु बढ़ाता; बल-आरोग्य-प्रीति-सुख-दाता ।
रसमय, स्निग्ध, चिरस्थिर, उर-प्रिय, ये आहार सात्त्विकों के प्रिय ॥

बहुत गरम, खट्टे, कटु, तीखे; दाहक, नमकयुक्त और रुखे ।

शोक-रोग-दुखदायक, अर्जुन; राजस पुरुषों के प्रिय भोजन ॥

रस विहीन, अधपका, अपावन; बासी, जूठा, दृष्टिभोजन ।

प्रिय है सब तामसी जनों का; (सेवन मांस और मदिरा का ॥

‘स्वर्धम है इस यज्ञ का करना’ - समझाकर मन को यूं रखना ।

विधिवत फल की इच्छा के बिन, यज्ञ सात्त्विक होता, अर्जुन ॥
जिन में हो पाखण्ड दिखाना; हो उद्देश्य फलों का पाना ।

भरतश्रेष्ठ, ऐसे यज्ञों को, यज्ञ राजसी जानो, समझो ॥१७.१२॥

अन्नदान-विधि-रहित जो, बिना दक्षिणा दीन ।

तामस यज्ञ कहें उसे, श्रद्धा-मन्त्र-विहीन ॥१७.१३॥

सुर, द्विज, गुरु, ज्ञानी-जन पूजन; शुचिता भरा, सरलतामय मन ।

ब्रह्मचर्य-साधना-अहिंसा; तन का तप होता है ऐसा ॥१७.१४॥

सत्य, शान्त, प्रिय, सब को हितकर; अति उद्देश-विहीन वचन वर

शास्त्र-पठन अभ्यास बढ़ाता; वाणी का तप वह कहलाता ॥१७.१५॥

शान्त भाव, मानस-सुख-वर्द्धन; मौन और वश में करना मन ।

भाव-शुद्धि भीतर बाहर की, परिभाषा है मन के तप की ॥१७.१६॥

फल-इच्छा-विहीन योगी जन; श्रद्धा से असीम भर कर मन ।

तीन भाँति का यह करते जो; सात्त्विक तप कहते हैं उस को ॥

मिले मान आदर हों पूजित; किया दम्प से जो इस के हित ।

नश्वर फल, उस में भी शंका; राजस तप है नाम उसीका ॥

मूरखता से जो तप हठ कर; किया स्वयं को पीड़ा दे कर ।

पर-विनाश ध्येय हो जिस का; तप तामसी नाम है उस का ॥

देश काल औ पात्र पा, मात्र मानकर धर्म ।

अनुपकारिणी को दिया, सात्त्विक दान सुकर्म ॥१७.२०॥

कलेश भरा, फल-इच्छा ले मन; बदले में कुछ मिले, प्रयोजन ।

जब यूं दान किया जाता है; राजस दान कहा जाता है ॥१७.२१॥

बिन सत्कार, वितृष्णा ले मन; देश काल का ध्यान किये बिन ।

जो कुपात्र को हैं धन देते; तामस दान उसे हैं कहते ॥१७.२२॥

तत्, सत्, ओम्, ये तीन विधा के; कहे गये हैं नाम ब्रह्म के ।

आदि काल में उस ने ही की; रचना वेद, यज्ञ, ब्राह्मण की ॥१७.२३॥

ब्रह्मनिष्ठ सब इस कारण ही; विधि-पद्धति लेकर शास्त्रों की ।
 यज्ञ-दान-तप-क्रिया सभी ही; शुरू करते हैं 'ओम्' कहकर ही ॥
 यज्ञ-दान-तप आदि क्रियाएं; फल की त्याग सभी इच्छाएं ।
 सदा शब्द 'तत्' उच्चारण कर; करते मोक्ष-चाह वाले नर ॥१७.२५॥

सत्य भाव औ साधु भाव हित; यह 'सत्' नाम होय उच्चारित ।
 पार्थ, कर्म जब करते उत्तम; कहते शब्द यही 'सत्' शुचितम् ॥
 यज्ञ, दान, तप में जो स्थित है; कहा गया वह सब ही 'सत्' है ।
 उस प्रभु के हित कर्म किया जा; 'सत्' ही कहा गया है उस को ॥
 दान-तपस्या-हवन जो, करते श्रद्धाहीन ।
 'असत्' कर्म वह व्यर्थ सब, सर्व-लोक फल-हीन ॥१७.२८॥

इति सप्तदशोऽध्यायः

अठारहवां अध्याय

मोक्षसन्न्यासयोग

अर्जुन बोले —

हषीकेश, महाबाहु, हरि, इच्छा मम भगवान् ।
 तत्त्व त्याग, सन्न्यास का, अल्प-अल्प लूँ जान ॥१८.०१॥

श्रीभगवान बोले —

कर्म सकाम त्यागना, अर्जुन; हैं सन्न्यास, कहें यह बुद्धजन ।
 सभी कर्म-फल-त्याग, विचारक; कहते उसे त्याग हैं चिन्तक ॥
 बहु बुधजन ऐसा कहते हैं; कर्म त्याज्य सब, दोष भरे हैं ।

यज्ञ-दान-तप-कर्म नहीं, पर; त्याज्य, अन्य कहते विद्वत्वर ॥१८.०३॥

त्याग-विषय में अब, हे अर्जुन; पुरुष व्याघ्र, मेरा निश्चय सुन ।

सात्त्विक, राजस, तामस भी है; त्याग भी तीन कोटि का ही है ॥

यज्ञ, दान, तप त्याज्य नहीं हैं; ये करणीय सुनिश्चित ही हैं ।

यज्ञ, दान, तप ये सब, अर्जुन; मनीषियों को करते पावन ॥१८.०५॥

ये सब, और अन्य भी, अर्जुन; त्याग कर्म-फल-मोह करे जन ।

यही सुनिश्चित, अर्जुन, है मम, परमश्रेष्ठ मत मेरा उत्तम ॥१८.०६॥

नियत स्वधर्म-कर्म का त्यागन; उचित नहीं होता है, अर्जुन ।

उनका त्याग मोहवश, अर्जुन; तामस त्याग कहें पठित जन ॥

कर्म सभी दुख, सोच यही मन, कर्म को दुख-भय से त्यागे जन ।

त्याग राजसी को करके नर; नहीं त्याग फल है पाता पर ॥१८.०८॥

'कर्म-क्रिया कर्तव्य है', सोच मोहफल त्याग ।

नियत कर्म, अर्जुन, करे, वह है सात्त्विक त्याग ॥१८.०९॥

अशुभ कर्म से द्वेष नहीं है; शुभ में मोह का लेश नहीं है ।

सत्त्वगुणों से युत, निर-संशय; ज्ञानी नर त्यागी है निश्चय ॥१८.१०॥

देहधारी को सब कर्मों का; पूर्ण त्याग सम्पव नहीं होता ।
जोभी पुरुष कर्म-फल-त्यागी; सच्चा वही है अविकल त्यागी ॥

फल शुभ, अशुभ, मिश्र हैं कामी; पाते विविध होय परगामी ।
संन्यासी त्यागी जन तो पर; उन से मुक्त त्रिकाल निरन्तर ॥१८.१२॥

सब कर्मों की सिद्धि में कारन; कहता पांच सांख्य का दर्शन ।
महाबाहो, उन सब को मुझ से; जान, कहूँगा जो मैं तुझ से ॥१८.१३॥

कृति-आधार और कर्ता रे; करण यानि साधन सब सारे ।
चेष्टा-यत्न विविध हैं जैसे; हेतु पांचवां देव हि वैसे ॥१८.१४॥

पन-तन-वाणी से जो विधिवत; नर करता या शास्त्र-असम्पत ।
कृतियां जो आरम्भ हुई हैं; उनके कारण पांच यही हैं ॥१८.१५॥

अशुभ-बुद्धि जो आत्म को, बैठा कर्ता मान ।
उस दुर्मति को है नहीं, तत्त्व सत्य का ज्ञान ॥१८.१६॥

“मैं कर्ता” न भावना जिस की; बुद्धि लिप्त आसक्त न जिस की
यदि ये सब जन मारे भी वह; हत्या-बन्धन-मुक्त तदपि वह ॥१८.१७॥

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों ये; स्रोत प्रेरणा हैं कर्मों के ।
कर्ता, क्रिया, करण या साधन; मिल करते कर्मों का प्रणयन ॥

ज्ञान, कर्म, कर्ता तीनों, अब; गुण अनुसार भेद से ये सब ।
तीन भांति से सांख्य बखाने; भलीभांति सुन कर तू जाने ॥१८.१९॥

अल्प अल्प सब ही जीवों में; एक अनश्वर भाव सबों में ।
जिससे करता नर सम-दर्शन; सात्त्विक ज्ञान जान वह, अर्जुन ॥

भिन्न-भिन्न जीवों में सारे; भाव अनेक अवस्थित न्यारे ।
भिन्न-भिन्न देखे जिस से जन; राजस भाव जान वह, अर्जुन ॥१८.२१॥

पूर्ण एक ही कार्य-बदन में; है आसक्त उसी बन्धन में ।
युक्तिहीन जो पूर्ण अतात्त्विक; ज्ञान तुच्छ है वही तामसिक ॥

मोह हीन विधिवत किया, रागद्वेष बिन काम ।
बिना फलों की चाह के, सात्त्विक उसका नाम ॥१८.२३॥

लगे परिश्रम जिस में भारी; फल की रही कामना सारी ।
मद से नर करता है जिस को; राजस कर्म कहा है उस को ॥

पौरुष या सामर्थ्य न देखे; क्षति, हिंसा परिणाम न देखे ।
मोहवश जो आरम्भ हुआ है; उसको तामस कर्म कहा है ॥१८.२५॥

मोहमुक्त जो निरहकारी; सिद्धि-असिद्धि-मध्य अविकारी ।
धैर्यवान उत्साह महा है; सात्त्विक कर्ता उसे कहा है ॥१८.२६॥

रागी, कर्मफलों का कामी; लोभी औ हिंसा पथ गामी ।
हर्ष-शोक से भरा अपावन; राजसी कर्ता कहलाता जन ॥१८.२७॥

चंचल, शठ, मदभरा, निरक्षर; परहित-नाशक, आल्प्स का घर ।
कामचार, टालू, अवसादी – तामस कर्ता की संज्ञा दी ॥१८.२८॥

बुद्धि और धृति के भी, अर्जुन; त्रिविध भेद को तू मुझ से सुन ।
गुणानुसार जो पूर्ण विभाजित; किये गये बुधजन से वर्णित ॥

कार्य, अकार्य, प्रवृत्ति, निवृत्ति; पार्थ, भय, अभय, बन्धन मुक्ति ।

तत्त्वज्ञान इनका है जिस को; बुद्धि सात्त्विक कहते उस को ॥१८.३०॥

जिस से धर्म-अधर्म को, जाने नर न यथार्थ ।

ना ही कार्य-अकार्य को, बुद्धि राजसी, पार्थ ॥१८.३१॥

धर्म अधर्म को ही जो माने; अर्थ सभी उल्टे पहचाने ।

ठकी तपस से रहे चिरन्तन; बुद्धि तामसी है वह, अर्जुन ॥१८.३२॥

ध्यानयोग के द्वारा, अर्जुन; दोषहीन धृतिमय जिस से जन ।

क्रिया प्राण की मन-इन्द्रिय की; धारे जिस से, वह सात्त्विक धृति ॥

फलकांक्षी, आसक्ति-निमज्जित; जिस से, अर्जुन, करता धारित ।

धर्म, अर्थ औ काम सभी ही; धृति राजसी कही है वह ही ॥१८.३४॥

चिन्ता, भय, विषाद औ सपना; नहीं छोड़े जिस से मद अपना ।

दुष्ट बुद्धि वाला नर, अर्जुन; धृति तामसी उसी को तू गुन ॥१८.३५॥

तीन तरह के ही अब सुख से; हो अवगत, सुन मेरे मुख से ।

कर अभ्यास रमण जिस में कर; पाता अन्त दुखों का है नर ॥

विष की भाँति प्रथम जो लगता; सुधा-तुल्य परिणाम उमगता ।

आत्मज्ञान के प्रसाद से जो – जन्मा, सात्त्विक सुख ही है वो ॥

पहले अमृत सा ल्लो, विष सम पर परिणाम ।

इन्द्रिय-भोगों से मिला, सुख राजसी सुनाम ॥१८.३८॥

आदि-अन्त में आत्मा-मन को; मोहित भ्रमित करे जो जन को ।

आल्स अति प्रमाद निद्रा से; तामस सुख है उस को कहते ॥१८.३९॥

धरा-स्वर्ग में, नर देवों में; प्रकृति-जात इन तीन गुणों में ।

बंधा नहीं है, ऐसा अर्जुन; नहीं कहीं कोई भी है जन ॥१८.४०॥

ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय जन; इन सब के ही कर्म भी, अर्जुन ।

स्वभावोत्पन्न गुणों पर आश्रित; किये गये हैं यहां विभाजित ॥

शम, दम, क्षमा, ज्ञान औ शुचिता; और मनस की, तन की ऋजुता ।

अरु विज्ञान आस्तिकता ये; सहज स्वभाव-कर्म ब्राह्मण के ॥१८.४२॥

धैर्य, तेज, शूरता, निपुण मन; करे युद्ध में भी न पलायन ।

दान, प्रजा का स्वामी शासक; क्षत्रिय-कर्म सहज स्वभाविक ॥

कृषि, व्यापार और गौ पालन; वैश्य-कर्म स्वभाविक, अर्जुन ।

सेवा सब की एक धरम है; जो स्वाभाविक शूद्र-कर्म है ॥१८.४४॥

सहज स्वकर्म-रत नर करे, परम सिद्धि को प्राप्त ।

कैसे सिद्धि स्वकर्म से, सुनो, वचन मम आप्त ॥१८.४५॥

जिस से पैदा जीव हुए जन; सर्वव्याप्त है जो प्रभु भगवन ।

स्वकर्म ये उसकी पूजा कर; परमसिद्धि पा जाता है नर ॥१८.४६॥

शीलोचित परधर्म से बढ़ कर; निज गुणहीन धर्म श्रेयस्कर ।

निज स्वभावगत कर्म करे जो; नहीं पाप का भागी वह हो ॥१८.४७॥

हे कौन्तेय, सदोष हुआ भी; सहज स्वकर्म न त्याज्य कभी भी ।

क्योंकि अग्नि सम ढंकी धुओं से; ढके कर्म सब ही दोषों से ॥

अनासक्त मति, निष्कामी जन; आत्मजयी निष्पृही विमल मन ।

जो संन्यासयोग अपनाये; वह नैष्कर्ष्य सिद्धि को पाये ॥१८.४९॥

सिद्धि प्राप्त नर कैसे, अर्जुन; पाता ब्रह्म, उसे मुझ से सुन ।

जो है ज्ञान-परानिष्ठा औ; जानो थोड़े में सुन उस को ॥१८.५०॥

आत्मसंयमी धृति से बन कर; राग द्वेष का औ मर्दन कर ।

तज कर शब्दादिक विषयों को; परम विशुद्ध बुद्धि से युत हो ॥

प्रिय एकान्त जिसे मित भोजन; जिस ने जीते वाणी तन मन ।

ध्यानयोग में लगा निरन्तर; प्राप्त जिसे वैराग्य गहनतर ॥

अहंकार, बल, दर्प तज, काम परिग्रह क्रोध ।

मोहशून्य नर शान्त वह, ब्रह्म-ऐव्य के योग्य ॥१८.५३॥

ब्रह्मभूत, आत्मा से हर्षित; शोक कामना उसे न किंचित ।

जीवों में समभावी हो कर; पराभक्ति मम पाता है नर ॥१८.५४॥

भक्ति से मुझे तत्त्वतः जाने; कौन हूँ, कैसा हूँ पहचाने ।

जाना मुझे तत्त्वतः जैसे; मुझ में बसा तुरत वह वैसे ॥१८.५५॥

मुझ में रम आश्रित हो मुझ पर; करता हुआ करम हर पल नर ।

मेरी कृपा पूर्ण पा जाता; शाश्वत अविनाशी पद पाता ॥१८.५६॥

मुझे चित्त से सब कर्मों को; पूर्ण समर्पित कर मम मय हो ।

बुद्धियोग का कर अवलम्बन; सतत मुझी में रख अपना मन ॥

निज मन मुझ में रखे निरन्तर; पा मम कृपा जाय सब दुख तर ।

अहंकार वश यदि न सुनेगा; नाश-कुफल ही तुझे मिलेगा ॥१८.५८॥

‘नहीं लङ्घा’ मन में ठाने; अहंकार वश यदि यह माने ।

मिथ्या है तव निश्चय निश्चित; प्रकृति करे तव युद्ध-नियोजित ॥

मोहवश कर्म जिन्हें तेरा मन; नहीं चाहता करना, अर्जुन ।

निज स्वभाव-कर्मों से बन्ध कर; वही करेगा वेबस हो कर ॥१८.६०॥

यंत्र-रूढ हर जीव को, निज माया से ईशा ।

भरमाता मन-मन बसा, अर्जुन, मैं जगदीश ॥१८.६१॥

भारत, पूर्णभाव में रमकर; केवल उसकी शरण ग्रहण कर ।

प्रभु की कृपा शान्ति को पा तू ; शाश्वत परमधाम को जा तू ॥

मैं ने ज्ञान कहा जो शिवतर; तुझे गृद से गृद उसी पर ।

भली भांति पूरा विचार कर; फिर जैसी भी इच्छा हो, कर ॥१८.६३॥

सर्वगुद्धतम परम वचन मम; अर्जुन, पुनः सुनो इस को तुम ।

तुम हो तात इष्ट अति मेरे; अतः कहूँगा फिर हित तेरे ॥१८.६४॥

मन में मुझे, भजन मेरा ही; कर प्रणाम, अर्चन मेरा ही ।

मुझे प्राप्त होगे, मैं निश्चय; सत्य प्रतिज्ञा करता, मम प्रिय ॥१८.६५॥

सब धर्मों का त्याग करो तुम; केवल मेरी शरण गहो तुम ।

सब पापों से मुक्ति विसर्जन; करुं, शोक मत कर तू , अर्जुन ॥१८.६६॥

जो तपहीन, भक्ति से वंचित, श्रवण अनिच्छुक, निन्दा-मज्जित ।

मम प्रति भक्ति-भाव नहिं किंचित; कहो ज्ञान मत यह उसके हित ॥१८.६७॥

परम भक्ति से मुझ में रम कर; भक्तों में मम गृह परम वर ।

जो यह शास्त्र-ज्ञान गायेगा; निस्संदेह मुझे पायेगा ॥१८.६८॥

उससे बढ़ कर कर्म प्रिय, मम न करे नर कोय ।

उससे बढ़ कर प्रिय मुझे, और न भू पर होय ॥१८.६९॥

यह धार्मिक संवाद हमारा, जो भी पुरुष पढेगा सारा ।

उससे ज्ञानयज्ञ से पूजित; होऊँगा, मत मेरा निश्चित ॥१८.७०॥

श्रद्धावान्, अदोष, सुपावन; केवल सुने इसे जो भी जन ।

पुण्य कर्ममय पाप-रहित हो; शुभ लोकों में उसकी गति हो ॥

सुना, पार्थ, क्या तुमने मन से? हो एकाग्र चित्त पावन से ।

क्या अज्ञान-जनित मोह-क्षय? हुआ तुम्हारा अभी, धनंजय ॥१८.७२॥

अर्जुन बोले –

हे अच्युत आपकी कृपा है; सारा मोह मम नष्ट हुआ है ।

हो संदेह-हीन, पा सुस्मृति; थिर हूँ, करूँ आप की जो मति ॥

संजय बोले –

यूं श्री वासुदेव-अर्जुन का; महामना आत्मा पावन का ।

अद्भुत और परम लोमहर्षक; यह संवाद सुना रोमांचक ॥१८.७४॥

व्यास कृपा से मैं ने, राजन; परम गृह यह योग सनातन ।

स्वयं कृष्ण-योगेश्वर-मुख से, है साक्षात् सुना यह कहते ॥

केशव-अर्जुन का शुचि त्राता; अद्भुत, परम पुण्य सुख दाता ।

वह संवाद याद जब आता; बार-बार, राजन, हर्षाता ॥१८.७५॥

राजन अद्भुत रूप को, हरि के कर कर याद ।

विस्मय होता है बहुत, बार बार आहलाद ॥१८.७६॥

हैं योगेश्वर कृष्ण मुरारी; और जहां अर्जुन धनुधारी ।

वैभव, विजय, नीति, श्री, सारे; ध्रुव हैं, मत मैं वहां हमारे ॥१८.७८॥

इति अष्टादशोऽध्यायः
श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

Visit:

www.gita-society.com/gita-chalisa-and-gita-audio-in-hindi/

www.gita-society.com/700-hindi-verses-39pg.pdf

